धर्मपाल समग्र लेखन

१

भारतीय चित्त, मानस एव काल

धर्मपाल

पुनरुत्थान ट्रस्ट
अहमदाबाद गुजरात भारत

धर्मपाल समग्र लेखन १

भारतीय चित्त मानस एवं काल

(विविध लेख एवं भाषणों का संकलन)

लेखक

धर्मपाल

सम्पादक

इन्दुमति काटदरे

प्रकाशक

पुनरुत्थान ट्रस्ट

४ वसुंधरा सोसायटी आनन्दपार्क कांकरिया अहमदाबाद ३८००२८

दूरभाष ०७९ २५३२२६५५

मुद्रक

साधना मुद्रणालय ट्रस्ट

सिटी मिल कम्पाउण्ड कांकरिया मार्ग अहमदाबाद - ३८००२२

दूरभाष ०७९ - २५४६७७९०

मूल्य रु १७५ ००

प्रति

२ ०००

प्रकाशन तिथि

चैत्र शुक्ल १ वर्षप्रतिपदा युगाब्द ५१०९

~~२० मार्च [illegible]~~

अनुक्रमणिका

धर्मपाल समग्र लेखन

ग्रन्थ सूची

मनोगत

गाधीजी के अगस्त १९४२ के अंग्रेजो भारत छोड़ो' आन्दोलन के कुछ समय पूर्व से ही मैं देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन से पूर्णरूप से प्रभावित हो चुका था। उस समय मैंने जीवन के बीस वर्ष पूरे किए थे। अगस्त १९४२ में हम दो चार मित्र जिनमें मित्र श्री जगदीश प्रसाद मित्तल प्रमुख थे उत्तरप्रदेश से भारत छोड़ो आन्दोलन के लिए ही काग्रेस के अखिल भारतीय सम्मेलन में भाग लेने मुम्बई गए। मैंने उससे पूर्व १९३० का लाहौर का काग्रेस सम्मेलन देखा था परन्तु मुम्बई के सम्मेलन का स्वरूप और अपेक्षाएँ हमारे लिए एकदम नई थीं। सम्मेलन में हमें दर्शक के रूप में भाग लेने की अनुमति मिल गई। हमने वहाँ की सम्पूर्ण कार्यवाही देखी सभी भाषण सुने। ८ अगस्त की सायकाल का गाधीजी का सवा दो घण्टे का भाषण तो मुझे आज भी कुछ कुछ याद है। उन्होंने प्रथम डेढ घण्टा हिन्दी में भाषण दिया फिर पौन घण्टा अग्रेजी में। सम्मेलन मे ५० हजार से अधिक भीड थी। सभी उपस्थित लोगों से सभी भारतवासियों से तथा विश्व के सभी देशों से गाधीजी का मुख्य निवेदन तो यही था कि वे सभी भारत और अग्रेजों के वार्तालाप में सहायक हों । हमारे जैसे अधिकाश लोगों ने उस समय विचार किया होगा कि आन्दोलन का प्रारम्भ तो कुछ समय बाद ही होगा।

परन्तु दूसरे ही दिन सवेरे ५-६ बजे से ही पूरे मुम्बई में हलचल शुरू हो गई। मुम्बई से बाहर जानेवाली रेलगाड़िया दोपहर के बाद तक बन्द रहीं। अग्रेज और भारतीय पुलिस व्यापक रूप से लोगों की गिरफ्तारी करती रही। अन्तत ९ अगस्त को शाम तक हमें दिल्ली जाने के लिए गाडी मिल गई। परन्तु रास्ते भर हलचल थी और गिरफ्तारिया हो रही थीं। हममें से अधिकाश लोग अपनी अपनी जगह पहुँचकर अग्रेजों भारत छोड़ो' आन्दोलन शुरू करनेवाले थे।

दिल्ली पहुँचकर मैं अन्य साथियों के साथ आसपास के क्षेत्रों में चल रहे आन्दोलन में जुड़ गया। कितने महीने तक इसी में ही सलग्न रहा। उस बीच अनेक गाँवों और कसबों में भी गया। वहाँ लोगों के घरों में रहा। वहीं से ही भारत के सामान्य जीवन

के साथ मेरा परिचय प्रारम्भ हुआ। दिसम्बर १९४२ म अनेक घनिष्ठ मित्रो ने सलाह दी की मुझे आन्दोलन के काम के लिए मुम्बई जाना चाहिए। इसलिए फरवरी १९४३ में मैं मुम्बई गया और वहाँ रहा। आन्दोलन का साहित्य लेकर वाराणसी और पटना भी गया। मुम्बई में गाधीजी के निकटस्थ स्वामी आनन्द ने मेरे रहने खाने की व्यवस्था की थी। वे अलग अलग लोगो से मेरा परिचय भी कराते थे। वस्तुत मेरा मुम्बई के साथ परिचय तो उनके कारण ही हुआ। मुम्बई में ही मैं श्रीमती सुचेता कृपलानी से भी एक दो बार मिला। उसी प्रकार गिरिधारी कृपलानी से मिलना हुआ। उस समय मैं खादी का धोती कुर्ता पहनता था और स्वामी आनन्द आदि के आग्रह के बाद भी मैंने कभी पतलून आदि नहीं पहना।

मार्च १९४२ में मैं मुबई से दिल्ली और उत्तरप्रदेश गया। अप्रैल १९४३ में दिल्ली के चाँदनीचौक पुलिस थाने में मेरी गिरफ्तारी हुई और लगभग दो महीने अलगअलग थानों में रहा। वहाँ मेरी गहन पूछताछ हुई धमकाया भी गया। यद्यपि मारपीट नहीं हुई। जून १९४३ में मुझे सरकार के आदेशानुसार दिल्ली से निष्कासित किया गया। एकाध वर्ष बाद यह निष्कासन समाप्त हुआ।

लम्बे अरसे से मेरा मन गाँव में जाकर रहने और काम करने का था। मेरे एक पारिवारिक मित्र गोरखपुर जिले के एक हजार एकड़ जितने विशाल फार्म के मैनेजर थे। उन्होंने मुझे फार्म पर आकर रहने के लिए निमत्रण दिया। यह फार्म सुन्दर तो था परन्तु यह तो वहाँ रहनेवालों से करारवार परिश्रम कराने की जगह थी। गाँव जैसा सामूहिकता का वातावरण वहाँ नहीं होता था। वहाँ गाँव के लोगों से मिलने बात करने का अवसर भी नहीं मिलता था। परन्तु एक बात मैंने देखी कि वहाँ लोग गरीब होने के बाद भी प्रसन्नचित्त दिखाई देते थे।

एक वर्ष बाद जून अथवा जुलाई १९४४ में यह फार्म छोड़ कर मैं वापस आ गया। तत्काल ही मेरठ के मित्रों ने मुझे श्रीमती मीराबहन के पास जाने की सलाह दी। मीरा बहन रूड़की के निकट एक आश्रम स्थापित करने का विचार कर रही थीं। बात सुनकर मैंने पहले तो मना करने का प्रयास किया परन्तु मित्रों के आग्रह के कारण अक्टूबर १९४४ मे मैं मीराबहन के पास गया। रूड़की से हरिद्वार की दिशा में सात आठ मील दूर गाँव वालों ने मीरा बहन को आश्रम निर्माण के लिए जमीन दी थी। आश्रम हरिद्वार से बारह मील दूर था। आश्रम का नाम दिया गया किसान आश्रम'। यहीं से मेरा ग्रामजीवन और उसके रहनसहन के साथ परिचय शुरू हुआ। उनकी कुशलताएँ और अपने व्यवहार रहन सहन तथा उपाय ढूढ निकालने की योग्यता मुझे यहीं जानने

को मिली। मैं तीन वर्ष किसान आश्रम में रहा। उसके बाद पाकिस्तान से आए शरणार्थियों के पुनर्वसन का कार्य चलता था उसमें सहयोग देने के लिए मैं दिल्ली गया। उस दौरान मेरा अनेक लोगों के साथ परिचय हुआ। उसमें मुख्य थीं कमलादेवी चट्टोपाध्याय और डॉ राममनोहर लोहिया। १९४७ से १९४९ के दौरान श्री रामस्वरूप श्री सीताराम गोयल श्री रामकृष्ण चॉदीवाले (उनके घर में मैं महीनो रहा) श्री नरेन्द्र दत्त श्रीमती स्वर्णा दत्त श्री लक्ष्मीचन्द जैन श्री रूपनारायण श्री एस के सक्सेना श्री ब्रजमोहन तूफान श्री अमरेश सेन श्री गोपालकृष्ण आदि के साथ भी मित्रता हुई।

दिल्ली में भारतीय सेना के कुछ अधिकारियों ने कहा कि फिलिस्तीन के यहूदी इजरायल नामक छोटा देश बना रहे हैं। वहाँ सामूहिकता के आधार पर जीवन रचना के महत्त्वपूर्ण प्रयास हो रहे हैं। उन लोगों ने इतने आकर्षक ढग से उसका वर्णन किया कि मैंने इजरायल जाकर यह देखकर आने का निर्णय किया। नवम्बर १९४९ में इज़रायल जाने के लिए मैं इग्लैण्ड गया। वहाँ आठदस महीने रह कर नवम्बर-दिसम्बर में मैं पत्नी फिलिस के साथ इज़रायल तथा अन्य अनेक देशों में गया। इज़रायल के लोगों ने जो कर दिखाया था वह तो बहुत प्रशसनीय और श्रेष्ठ कार्य था परन्तु भारतीय ग्रामरचना और भारतीय व्यवस्थाओं में उस का बहुत उपयोग नहीं है ऐसा भी लगा।

जनवरी १९५० में मैं और फिलिस हृषीकेश के निकट निर्माणाधीन मीराबहन के पशुलोक' मे पहुँच गये। वहाँ मीराबहनने मेरे अन्य मित्रों और सविशेष मार्कसवादी मित्र जयप्रकाश शर्मा के साथ मिलकर एक नए छोटे गाँव की रचना की शुरुआत की थी। उसका नाम रखा गया बापूग्राम'। गॉव ५० घरों का था। उसमे सभी पहाडी और मैदानी जाति के लोग साथ रहेंगे ऐसा प्रयास किया था। यह भी ध्यान रखा गया कि लोग अत्यन्त गरीब हों। परतु उस के कारण गाँव की रचना का काम अधिक कठिन हो गया। गाँव के लोगों के कष्ट बढे। गॉव में ५०० एकड़ जमीन थी किन्तु अनेक जगली जानवर भी वहाँ घूमते थे। हाथी भी वहाँ आता-जाता रहता। इस लिए प्रारम्भ में खेती भी बहुत दुष्कर थी। खेती में कुछ बचता ही नहीं था। आज भी यह गाँव जैसे तैसे टिका हुआ है। १९५७ से गाँव के साथ मेरा सम्बन्ध ठीक-ठीक बढा। मैं विभिन्न पचायतों का अध्ययन करता था। इसलिए गॉव के लोगों की समझदारी और अपने प्रश्नों की ओर देखने और उसे हल करने का उनका दृष्टिकोण भलीभाँति ध्यान में आने लगा। इस बात का भी एहसास होने लगा कि अपने अधिकाश शहरी और समृद्ध लोग गाँव को जानते ही नहीं। राजस्थान आध्रप्रदेश तमिलनाडु उड़ीसा आदि राज्यों में तो यह एहसास सविशेष हुआ। इस एहसास के कारण ही मैं १९६४-६५ मे सन् १९०० के आसपास के अग्रेजों

द्वारा तैयार किए गए दस्तावेजों के अध्ययन की ओर मुड़ा।

लगभग १७५० से १८५० तक अंग्रेजों ने सरकारी अथवा गैर सरकारी स्तर पर इंग्लैण्ड में रहने वाले अपने अधिकारियों तथा परिचितों को लिखे पत्रों की संख्या शायद करोड़ों दस्तावेजों में होगी। उसमें ८० से ८५ प्रतिशत की प्रतिलिपियाँ भारत के चेन्नई, कलकत्ता, मुम्बई, दिल्ली, लखनऊ आदि के अभिलेखागारों में भी हैं। लन्दन की ब्रिटिश इण्डिया ऑफिस में और अन्य अनेक अभिलेखागारों में पांच से सात प्रतिशत ऐसे भी दस्तावेज होंगे जो भारत में नहीं होंगे। उसमें से बहुत से ऐसे हैं जिनके अध्ययन से अंग्रेजों ने भारत में क्या किया यह समझ में आता है। उस समय के इंग्लैण्ड के समाज और शासन तंत्र की यदि हमें जानकारी होगी तो अंग्रेजों ने भारत में जो किया उसे समझने में सहायता मिल सकती है।

१९५७ से ही जब मैं एवार्ड (Associa-cn of Voluntary Agencies for Rural Development (AVARD)) का मंत्री बना तब से ही अनेक प्रकार से सीखने का अवसर मिला और अनेक व्यक्तियों की अनेक प्रकार से सहायता भी मिली। उसमें मुख्य थे श्री अण्णासाहब सहस्रबुद्धे और श्री जयप्रकाश नारायण। नागपुर के श्री आर. के. पाटिल ने भी १९५८ से १९८० तक इस काम में बहुत रुचि ली और अलग अलग ढंग से सहायता करते रहे। श्री आर. के. पाटिल पुराने आई. सी. एस. थे, योजना आयोग के सदस्य थे, पूर्व मध्यप्रदेश के मंत्री थे और विनोबा जी के निकटवर्ती थे। १९७१ से गांधी शांति प्रतिष्ठान के मंत्री श्री राधाकृष्ण का सहयोग भी बहुत मूल्यवान था। इसी प्रकार गांधी विद्या संस्थान और पटना की अनुग्रह नारायण सिन्हा इन्स्टीट्यूट का भी सहयोग मिला। डॉ. डी. एस. कोठारी भी शुरू से ही उसमें रुचि लेते थे।

१९७१ में इण्डियन सायन्स एण्ड टेक्नोलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी Indian Science and Technology in the Eighteenth Century और सिविल डिसओबिडियन्स इन इण्डियन ट्रेडिशन Civil Disobedience in Indian Tradition ऐसी दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उनका विमोचन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डॉ. दौलतसिंह कोठारी ने किया। पहले ही दिन से उस पुस्तक का परिचय करनेवाले प्रजा समाजवादी पक्ष के नेता और साहित्यकार श्री गंगाशरण सिन्हा, विवेकानंद केन्द्र कन्याकुमारी के श्री एकनाथ रानडे और अमेरिका की बर्कले यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर यूजिन ईर्विक थे। ईर्विक के मतानुसार 'सिविल डिसओबिडियन्स इन इंडियन ट्रेडिशन मेरी सबसे उत्तम पुस्तक थी। श्री रामस्वरुप और श्री ए. बी. चटर्जी जो आई. सी. एस. थे और मिनिस्ट्री ऑफ स्टेट्स के सचिव थे उनके मतानुसार 'इण्डियन सायन्स एण्ड

टेक्नोलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक थी। १९७१ से १९८५ के दौरान इन दोनों पुस्तकों का अनेक प्रकार से उल्लेख होता रहा। देशभर में इसका उल्लेख करनेवालों में मुख्य थे श्री जयप्रकाश नारायण श्री रामस्वरुप और राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ के श्री एकनाथ रानडे प्रोफेसर राजेन्द्रसिंह और वर्तमान सरसघचालक श्री सुदर्शन जी।

अभी तक ये पुस्तकें मुख्य रूप से अग्रेजी में ही हे। उसका एक विशेष कारण यह है कि उसमें समाविष्ट दस्तावेज सन् १८०० के आसपास अग्रेजों और अन्य यूरोपीय लोगों ने अग्रेजी में ही लिखे हैं। प्रारम में ही यह सब हिन्दी अथवा अन्य भारतीय भाषा में प्रकाशित करना बहुत मुश्किल लगता था। लेकिन जब तक यह सब भारतीय भाषाओं में प्रकाशित नहीं होता तब तक सर्वसामान्य लोग दो सौ वर्ष पूर्व के भारत के विषय में न जान सकेंगे न समझ सकेंगे और न ही चर्चा कर सकेंगे।

इसलिए इन पुस्तको का अब हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रकाशित हो रहा है यह बहुत प्रशसनीय कार्य है।[1]

मै १९६६ तक अधिकाशत इग्लैण्ड और सविशेष लन्दन में रहा। उस समय भारत से सम्बन्धित वहॉ स्थित दस्तावेजो में से पाच अथवा दस प्रतिशत सामग्री का मैंने अवलोकन किया होगा। उनमें से कुछ मैंने ध्यान से देखे कुछ की हाथ से नकल उतार ली अनेकों की छायाप्रति बना ली। उस दौरान बीच बीच में भारत आकर कोलकता लखनऊ मुम्बई दिल्ली और चेन्नई के अभिलेखागारों में भी कुछ नए दस्तावेज देखे।

उन दस्तावेजों के आधार पर अभी गुजरात से प्रकाशित हो रही अधिकाश पुस्तकें तैयार की गई हैं। ये पुस्तकें जिस प्रकार सन् १८०० के समय के भारत से सम्बन्धित हैं उसी प्रकार १८८० से १९०३ के दौरान गोहत्या के विरोध में हुए आन्दोलन के और १८८० के बाद के दस्तावेजों के आधार पर लिखी गई हैं। उनमें एकाध पुस्तक इग्लैण्ड और अमेरिका के समाज से भी सम्बन्धित है। इसकी सामग्री इग्लैण्ड में मिली है और यह पढी गई पुस्तकों के आधार पर तैयार की गई है।

१९६० से शुरु हुए इस प्रयास का मुख्य उद्देश्य दो सौ वर्ष पूर्व के भारतीय समाज को समझना ही था। लेकिन मात्र जानना समझना पर्याप्त नहीं है। उसका इतना महत्त्व भी नहीं है। महत्त्व तो यह जानने समझने का है कि अग्रेजों से पूर्व का स्वतत्र भारत जहाँ उसकी स्थानिक इकाइया अपनी अपनी दृष्टि और आवश्यकतानुसार अपना समाज चलाती थीं वह कैसा रहा होगा। अचानक १९६४-६५ में चेन्नई के एग्मोर

अभिलेखागार मे ऐसी सामग्री मुझे मिली और ऐसी ही सामग्री इग्लैण्ड में उससे भी सरलता से मिली। यदि मैं पोर्तुगल और हॉलेण्ड की भाषा जानता तो १६ वीं १७ वीं सदी में वहाँ भी भारत के विषय में क्या लिखा गया है यह जान पाता। खोजने के बाद भी चालीस वर्ष पूर्व भारतीय भाषाओं में इस प्रकार के वर्णन नहीं मिले।

हमें तो गत दो तीन हजार वर्ष के भारत और उसके समाज को समझने की आवश्यकता है। हम जब उस तरह से समझेंगे तभी भारतीय समाज की पारम्परिक *व्यवस्थाओं तत्रों कुशलताओ और आज की अपनी आवश्यकताओं और अपनी क्षमता* के अनुसार पुनःस्थापना की रीति भी जान लेंगे और समझ लेंगे।

भारत बहुत विशाल देश है। चार पाँच हजार वर्षों में पडोसी देश ब्रह्मदेश श्रीलका चीन जापान कोरिया मगोलिया इडोनेशिया वियतनाम कम्बोडिया मलेशिया अफगानिस्तान ईरान आदि के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। भारतीयों का स्वभाव और उनकी मान्यताएँ उन देशों के साथ बहुत मिलती जुलती हैं। सन् १५०० के बाद एशिया पर यूरोप का प्रभाव बढ़ा उसके बाद उन सभी पडोसी देशों के साथ की पारस्परिकता लगभग समाप्त हो गई है। उसे पुन स्थापित करना जरूरी है। इसी प्रकार यूरोप खासकर इग्लैण्ड और अमेरिका के साथ तीन सौ चार सौ वर्षों से जो सम्बन्ध बढ़े हैं उनका भी समझ बूझकर फिर से मूल्याकन करना जरूरी है। यह हमारे लिए और उनके लिए भी श्रेयस्कर होगा। देशों को बिना जरूरत से एक दूसरे के अधिक निकट लाना अथवा एक देश दूसरे देश की ओर ही देखता रहे यह भविष्य की दृष्टि से भी कष्टदायी साबित हो सकता है।

मकरसक्राति	धर्मपाल
१४ जनवरी २००५	आश्रम प्रतिष्ठान
पौष शुद ५ युगाब्द ५१०६	सेवाग्राम
	जिला वर्धा (महाराष्ट्र)

---

१ यह प्रस्तावना गुजराती अनुवाद के लिये लिखी गई है। हिन्दी अनुवाद के लिये श्री धर्मपालजी की ही सूचना के अनुसार उसे यथावत् रखा है। मूल प्रस्तावना हिन्दी में ही है। गुजराती के लिये उसका अनुवाद किया गया था। स

सम्पादकीय

१

सन् १९९२ के जनवरी मास मे चैन्नई में विद्याभारती का प्रधानाचार्य सम्मेलन था। उस सम्मेलन में श्री धर्मपालजी पधारे थे। उस समय पहली बार The Beautiful Tree के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त हुई। दो वर्ष बाद कोईम्बतूर में यह पुस्तक खरीद की और पढी। पढकर आश्चर्य और आघात दोनो का अनुभव हुआ। आश्चर्य इस बात का कि हम इतने वर्षों से शिक्षा क्षेत्र में कार्यरत हैं तो भी इस पुस्तक में निरूपित तथ्यों की लेशमात्र जानकारी हमें नहीं है। आघात इस बात का कि शिक्षा विषयक स्थिति ऐसी दारुण है तो भी हम उस विषय में कुछ कर नहीं रहे हैं। जो चल रहा है उसे सह लेते हैं और उसे स्वीकृत बात ही मान लेते हैं ।

तभी से उस पुस्तक का प्रथम हिन्दी में और बाद में गुजराती में अनुवाद करके अनेकानेक कार्यकर्ताओं और शिक्षकों तक उसे पहुँचाने का विचार मन में बैठ गया। परन्तु वर्ष के बाद वर्ष बीतते गये। प्रवास की निरन्तरता और अन्यान्य कार्यो में व्यस्तता के कारण मन में स्थित विचार को मूर्त स्वरूप दे पाने का अवसर नहीं आया। इस बीच विद्या भारती विदर्भ ने इसका सक्षिप्त मराठी अनुवाद प्रकाशित किया। भारतीय चित्त मानस एव काल' भारत का स्वधर्म जैसी पुस्तिकायें भी पढने में आयीं। अनेक कार्यकर्ता भी इसका अनुवाद होना चाहिये ऐसी बात करते रहे। इस बीच पूजनीय हितरुचि विजय महाराजजी ने गोवा के द अदर इडिया बुक प्रेस' द्वारा प्रकाशित पाच पुस्तकों का सच दिया और पढने के लिये आग्रह भी किया। इन सभी बातों के निमित्त से अनुवाद भले ही नहीं हुआ परन्तु अनुवाद का विचार मन में जाग्रत ही रहा। उसका निरन्तर पोषण भी होता रहा। चार वर्ष पूर्व मुझे विद्याभारती की राष्ट्रीय विद्वत् परिषद के सयोजक का दायित्व मिला। तब मन में इस अनुवाद के विषय में निश्चय सा हुआ। उस विषय में कुछ ठोस बातें होने लगीं। अन्त में पुनरुत्थान ट्रस्ट इस अनुवाद का प्रकाशन करेगा ऐसा निश्चय युगाब्द ५१०६ की व्यास पूर्णिमा को हुआ। सर्व प्रथम तो यह अनुवाद

हिन्दी मे ही होना था। उसके बाद हिन्दी एव गुजराती दोनों भाषाओ में करने का विचार हुआ। परन्तु इस कार्य के व्याप को देखते हुए लगा कि दोनों कार्य एक साथ नहीं हो पायेंगे। एक के बाद एक करने पड़ेंगे।

साथ ही ऐसा भी लगा कि यह केवल प्रकाशन के लिये प्रकाशन अनुवाद के लिये अनुवाद तो है नहीं। इसका उपयोग विद्वज्जन करें और हमारे छात्रों तक इन बातों को पहुँचाने की कोई ठोस एव व्यापक योजना बने इस हेतु से इस सामग्री का भारतीय भाषाओ मे होना आवश्यक है। ऐसे ही कार्यों को यदि चालना देनी है तो प्रथम इसका क्षेत्र सीमित करके ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा। इस दृष्टिसे प्रथम इसका गुजराती अनुवाद प्रकाशित करना ही अधिक उपयोगी लगा।

निर्णय हुआ और तैयारी प्रारम्भ हुई। सर्व प्रथम श्री धर्मपालजी की अनुमति आवश्यक थी। हम उन्हें जानते थे परन्तु वे हमें नहीं जानते थे। परन्तु हमारे कार्य हमारी योजना और हमारी तैयारी जब उन्होंने देखी तब उन्होंने अनुमति प्रदान की। साथ ही उन्होंने अपनी और पुस्तकों के विषय में भी बताया। इन सभी पुस्तकों के अनुवाद का सुझाव भी दिया।

हम फिर बैठे। फिर विचार हुआ। अन्त में निर्णय हुआ कि जब कर ही रहे हैं तो काम पूरा ही किया जाय।

इस प्रकार एक से पाच और पाच से ग्यारह पुस्तकों के अनुवाद की योजना आखिर बन गई।

योजना तो बन गई परन्तु आगे का काम बड़ा विस्तृत था। भिन्न भिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित मूल अंग्रेजी पुस्तकें प्राप्त करना उन्हें पढना उनमें से चयन करना अनुवादक निश्चित करना आदि समय लेनेवाला काम था। अनुवादक मिलते गये कई पक्के अनुवादक खिसकते गये अनेपक्षित रूप से नये मिलते गये और अन्त में पुस्तक और अनुवादकों की जोड़ी बनकर कार्य प्रारम्भ हुआ और सन २००५ और युगाब्द ५१०६ की वर्ष प्रतिपदा को कार्य सम्पन्न भी हो गया। १६ अप्रैल २००५ को राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ के परम पूजनीय सरसघचालक माननीय सुदर्शनजी एव स्वय श्री धर्मपालजी की उपस्थिति में तथा अनेपक्षित रूप से बड़ी संख्या में उपस्थित श्रोतासमूह के मध्य इन गुजराती पुस्तकों का लोकार्पण हुआ।

प्रकाशन के बाद भी इसे अच्छा प्रतिसाद मिला। विद्यालयों महाविद्यालयों विश्वविद्यालयों ग्रन्थालयों में एव विद्वज्जनों तक इन पुस्तकों को पहुँचाने में हमें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। साथ ही साथ महाविद्यालयों एव विद्यालयों के अध्यापकों एव

प्रधानाचार्यों के बीच इन पुस्तकों को लेकर गोष्ठियों का आयोजन भी हुआ।

इसके बाद सभी ओर से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का आग्रह बढने लगा। स्वय श्री धर्मपालजी भी इस कार्य के लिये प्रेरित करते रहे। अनेक वरिष्ठजन भी पूछताछ करते रहे। अन्त में इन ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन तय हुआ। गुजराती अनुवाद कार्य का अनुभव था इसलिये अनुवादक ढूँढने में इतनी कठिनाई नहीं हुई। सौभाग्य से अच्छे लोग सरलता से मिलते गये और कार्य सम्पन्न होता गया। आज यह आपके सामने है।

इस सच में कुल दस पुस्तकें हैं। (१) भारतीय चित्त मानस एव काल (२) १८ वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एव तत्रज्ञान (३) भरतीय परम्परा में असहयोग (४) रमणीय वृक्ष १८ वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा (५) पचायत राज एव भारतीय राजनीति तत्र (६) भारत में गोहत्या का अग्रेजी मूल (७) भारत की लूट एव बदनामी (८) गाधी को समझें (९) भारत की परम्परा एव (१०) भारत का पुनर्बोध। सर्व प्रथम पुस्तक १८ वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एव तत्रज्ञान' १९७१ में प्रकाशित हुई थी और अन्तिम पुस्तक भारत का पुनर्बोध सन् २००३ में। इनके विषय में तैयारी तो सन् १९६० से ही प्रारम्भ हो गई थी। इस प्रकार यह ग्रथसमूह चालीस से भी अधिक वर्षों के निरन्तर अध्ययन एव अनुसन्धान का परिणाम है।

२

विश्व में प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट पहचान होती है। यह पहचान उसकी जीवनशैली परम्परा मान्यताओं दैनन्दिन व्यवहार आदि के द्वारा निर्मित होती है। उसे ही सस्कृति कहते है।

सामान्य रूप से विश्व में दो प्रकार की विचारशैली व्यवहारशैली दिखती है। एक शैली दूसरों को अपने जैसा बनाने की आकाक्षा रखती है। अपने जैसा ही बनाने के लिए यह जबर्दस्ती शोषण कत्लेआम आदि करने में भी हिचकिचाती नहीं यहा तक की ऐसा करने में दूसरा समाप्त हो जाय तो भी उसे परवाह नहीं। दूसरी शैली ऐसी है जो सभी के स्वत्व का समादर करती है उनके स्वत्व को बनाए रखने में सहायता करती है। ऐसा करने में दोनों एक दूसरे स प्रभावित होती हैं और सहज परिवर्तन होता रहता है फिर भी स्वत्व बना रहता है।

यह तो स्पष्ट है कि इन दोनों में से पहली यूरोपीय अथवा अमेरिकी शैली है तो दूसरी भारतीय। इन दोनों के लिए क्रमश पाश्चात्य' और 'प्राच्य' ऐसी अधिक व्यापक

राज्ञा का प्रयोग हम करते हैं।

यह तो सर्वविदित है कि भारतीय संस्कृति विश्व मे अति प्राचीन है। केवल प्राचीन ही नहीं तो समृद्ध सुव्यवस्थित सुसंस्कृत और विकसित भी है।

परन्तु आज से ५०० वर्ष पूर्व यूरोप ने विस्तार करना शुरू किया। समग्र विश्व में फैल जाने की उसकी आकांक्षा थी। विश्व के अन्य देशों के साथ भारत भी उसका लक्ष्य था। इग्लैण्ड मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी बनी। वह भारत में आई। समुद्रतटीय प्रदेशों में उसने अपने व्यापारिक केन्द्र बनाए। उन केन्द्रों को किले का नाम और रूप दिया उनमें सैन्य भी रखा धीरे धीरे व्यापार के साथ साथ प्रदेश जीतन और अपने कब्जे में लेने का काम शुरु किया साथ ही साथ ईसाईकरण भी शुरु किया। सन् १८२० तक लगभग सम्पूर्ण भारत अग्रेजों के कब्जे में चला गया।

भारत को अपने जैसा बनाने के लिए अग्रेजों ने यहाँ की सभी व्यवस्थाओं प्रशासकीय और शासकीय सामाजिक और सांस्कृतिक आर्थिक और व्यावसायिक शैक्षणिक और नागरिक को तोड़ना शुरु किया। उन्होंने नए कायदे कानून बनाए नई व्यवस्थाएँ बनाईं संरचनाओं का निर्माण किया नई सामग्री और नई पद्धति की रचना की और जबरदस्ती से उसका अमल भी किया। यह भी सच है कि उन्होंने भारत में आकर जो कुछ किया उसमें से अधिकांश तो इग्लैण्डमें अस्तित्व में था। इसके कारण भारत दरिद्र होता गया। भारत में वर्ग संघर्ष पैदा हुए। लोगो का आत्मसम्मान और गौरव नष्ट हो गया। मौलिकता और सृजनशीलता कुण्ठित हो गई मूल्यों का ह्रास हुआ। मानवीयता का स्थान यांत्रिकता ने लिया और सर्वत्र दीनता व्याप्त हो गई। लोग स्वामी के स्थान पर दास बन गए। एक ऐसे विराट राक्षसी अमानुषी व्यवस्था के पुर्जे बन गये जिसे वे बिल्कुल मानते नहीं समझते नहीं और स्वीकार भी करते नहीं थे क्योंकि यह उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं था।

भारत की शिक्षाव्यवस्था की उपेक्षा करते करते उसे नष्ट कर उसके स्थान पर यूरोपीय शिक्षा लागू करने प्रतिष्ठित करने का कार्य भारत को तोडने की प्रक्रिया मे सिरमौर था। क्योंकि यूरोपीय शिक्षाप्राप्त लोगो के विचार मानस व्यवहार दृष्टिकोण सभी कुछ बदलने लगा। उसका परिणाम सर्वाधिक शोचनीय और घातक हुआ। हमें गुलामी रास आने लगी। दैन्य अखरना बन्द हो गया। अग्रेजों का दास बनने में ही हमें गौरव का अनुभव होने लगा। जो भी यूरोपीय है वह विकसित है आधुनिक है श्रेष्ठ है और जो भी अपना है वह निकृष्ट है हीन है और लज्जास्पद है गया बीता है ऐसा हमे लगने लगा। अपनी शिक्षण संस्थाओं में हम यही मानसिकता और यही विचार एक के

बाद एक आनेवाली पीढी को देते गए। इस गुलामी की मानसिकता के आगे अपनी विवेकशील और तेजस्वी बुद्धि भी दब गई। यूरोपीय या यूरोपीय जैसा बनना ही हमारी आकाक्षा बन गई। देश को वैसा ही बनाने का प्रयास हम करने लगे। अपनी सरचनाएँ पद्धतिया सस्थाएँ वैसी ही बन गई।

गाधीजी १९१५ में दक्षिण अफ्रिका से भारत आए तब भारत ऐसा था। उन्होने जनमानस को जगाया उसमें प्राण फूके उसकी भावनाओं को अपने वाणी और व्यवहार में अभिव्यक्त कर भारत के लिए योग्य हजारों वर्षो की परम्परा के अनुसार व्यवस्थाओं गतिविधियों और पद्धतियों को प्रतिष्ठित किया और भारत को फिर से भारत बनाने का प्रयास किया। स्वतत्रता के साथ साथ स्वराज को भी लाने के लिए वे जूझे।

परतु स्वतत्रता मात्र सत्ता का हस्तान्तरण (Transfer of Power) ही बन कर रह गया। उसके साथ स्वराज नहीं आया। सुराज्य की तो कल्पना भी नहीं कर सकते।

आज की अपनी सारी अनवस्था का मूल यह है। हम अपनी जीवनशैली चाहते ही नहीं हैं। स्वतत्र भारत में भी हम यूरोप अमरिका की ओर मुँह लगाये बेठे हैं। यूरोप के अनुयायी बनना ही हमें अच्छा लगता है।

परन्तु यह क्या समग्र भारत का सच है ? नहीं भारत की अस्सी प्रतिशत जनसख्या यूरोपीय विचार और शैली जानती भी नहीं और मानती भी नहीं है। उसका उसके साथ कुछ लेना देना भी नहीं है। उनके रीतिरिवाज मान्यताए पद्धतिया सब वैसी की वैसी ही है। केवल शिक्षित लोग उन्हें पिछडे और अधविश्वासी कहकर आलोचना करते हैं उन्हें नीचा दिखाते हैं और अपने जैसा बनाना चाहते हैं। यही उनकी विकास और आधुनिकताकी कल्पना है।

भारत वस्तुत तो उन लोगों का बना हुआ है उन का है। परन्तु जो बीस प्रतिशत लोग हैं वे भारत पर शासन करते हैं। वे ही कायदे कानून बनाते हैं और न्याय करते हैं वे ही उद्योग चलाते हैं और कर योजना करते हैं। वे ही पढाते हैं और नौकरी देते है वे ही खानपान वेशभूषा भाषा और कला अपनाते हैं (जा यूरोपीय हैं) और उनको विज्ञापनों के माध्यम से प्रतिष्ठित करते हैं। यहाँ के अस्सी प्रतिशत लोगों को वे पराये मानते हैं बोझ मानते हैं उनमें सुधार लाना चाहते हैं और वे सुधरते नहीं इसलिए उनकी आलोचना करते हैं। वे लोग स्वय तो यूरोपीय जैसे बन ही गए हैं दूसरों को भी वैसा ही बनाना चाहते हैं। वे जैसे कि भारत को यूरोप के हाथों बेचना ही चाहते हैं जिन लोगों का भारत है वे तो उनकी गिनती में ही नहीं हैं।

इस परिस्थिति को हम यदि बदलना चाहते हैं तो हमे अध्ययन करना होगा -

स्वय या अपने इतिहास का और अपने समाज का। भारत को तोड़ने की प्रक्रिया को जानना और समझना पड़ेगा। भारत का भारतीयत्व क्या है किसमें है किस प्रकार बना हुआ है यह सब जानना और समझना पड़ेगा। मूल बातों को पहचानना होगा। देश के अस्सी प्रतिशत लोगों का स्वभाव उनकी आकांक्षाएँ उनकी व्यवहारशैली को जानना और समझना पड़ेगा। उनका मूल्यांकन पश्चिमी मापदण्डों से नहीं अपितु अपने मापदण्डों से करना पड़ेगा। उसका रक्षण पोषण और संवर्धन कैसे हो यह देखना पड़ेगा। भारत के लोगों में साहस सम्मान आत्मगौरव जाग्रत करना पड़ेगा। भारत के पुनरुत्थान में उनकी बुद्धि भावना कर्तृत्वशक्ति और कुशलताओं का उपयोग कर उन्हें सच्चे अर्थ में सहभागी बनाना पड़ेगा। यह सब हमें पाश्चात्य प्रकार की युनिवर्सिटियों से नहीं अपितु सामान्य अशिक्षित' अर्धशिक्षित' लोगों से सीखना होगा।

आज भी यूरोप बनने की इच्छा करनेवाला भारत जोरों से प्रयास कर रहा है और कुण्ठाओं का शिकार बन रहा है। भारतीय भारत उलझ रहा है छटपटा रहा है और शोषित हो रहा है। भाग्य केवल इतना है कि क्षीणप्राण होने पर भी भारतीय भारत गतप्राण नहीं हुआ है। इसलिए अभी भी आशा है - उसे सही अर्थ में स्वाधीन बनाकर समृद्ध और सुसंस्कृत बनाने की।

३

धर्मपालजी की इन पुस्तकों में इन सभी प्रक्रियाओं का क्रमबद्ध विस्तृत निरूपण किया गया है। अंग्रेज भारत में आए उसके बाद उन्होंने सभी व्यवस्थाओं को तोड़ने के लिए किन चालबाजियो को अपनाया कैसा छल और कपट किया कितने अत्याचार किए और किस प्रकार धीरे धीरे भारत टूटता गया किस प्रकार बदलती परिस्थितियो का अवशता से स्वीकार होता गया उसका अभिलेखों के प्रमाणों सहित विवरण इन ग्रंथों मे मिलता है। इंग्लैण्ड के और भारत के अभिलेखागारों में बैठकर रात दिन उसकी नकल उतार लेने का परिश्रम कर धर्मपालजी ने अंग्रेज कलेक्टरों गवर्नरों वाइसरायों ने लिखे पत्रों सूचनाओं और आदेशों को एकत्रित किया है उनका अध्ययन कर के निष्कर्ष निकाले हैं और एक अध्ययनशील और विद्वान व्यक्ति ही कर सकता है ऐसे साहस से स्पष्ट भाषा में हमारे लिये प्रस्तुत किया है। लगभग चालीस वर्ष के अध्ययन और शोध का यह प्रतिफल है।

परन्तु इसके फलस्वरूप हमारे लिए एक बड़ी चुनौती निर्माण होती है क्योंकि -

आजकल विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले इतिहास से यह इतिहास भिन्न

है। हम तो अग्रेजों द्वारा तैयार किए और कराए गए इतिहास को पढते है। यहॉ अग्रेजों ने ही लिखे लेखों के आधार पर निरूपित इतिहास है।
विज्ञान और तत्रज्ञान की जो जानकारी उसमें है वह आज पढाई ही नहीं जाती।

- कृषि अर्थव्यवस्था करपद्धति व्यवसाय कारीगरी आदि की अत्यत आश्चर्यकारक जानकारिया उसमें है। भारत को आर्थिक रूप में बेहाल और परावलम्बी बनानेवाला अर्थशास्त्र आज हम पढते हैं। यहॉ दी गई जानकारियों में स्वाधीन भारत को स्वावलम्बन के मार्ग पर चल कर समृद्धि की ओर ले जानेवाले अर्थशास्त्र के मूल सिद्धातों की सामग्री हमें प्राप्त होती है।
  व्यक्ति को किस प्रकार गौरवहीन बनाकर दीनहीन बना दिया जाता है इसका निरूपण है साथ ही उस सकट से कैसे निकला जा सकता है उसके सकेत भी हैं।
  सस्कृति और समाजव्यवस्था के मानवीय स्वरूप पर किस प्रकार आक्रमण होता है किस प्रकार उसे यत्र के अधीन कर दिया जाता है इसका विश्लेषण यहाँ है। साथ ही उसके शिकार बनने से कैसे बचा जा सकता है उसके लिए दृढता किस प्रकार प्राप्त होती है इसका विचार भी प्राप्त होता है।

यह सब अपने लिए चुनौती इस रूप में है कि आज हम अनेक प्रकार से अज्ञान से ग्रस्त हैं।

हमारा अज्ञान कैसा है ?

शिक्षण विषय के वरिष्ठ अध्यापक सहजरूप से मानते हैं कि अग्रेज आए और अपने देश में शिक्षा आई। उन्हें जब यह कहा गया कि १८ वीं शती में भारत में लाखों की सख्या में प्राथमिक विद्यालय थे और चार सौ की जनसख्या पर एक विद्यालय था ता व उसे मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें जब The Beautiful Tree दिखाया गया तो उन्हें आश्चर्य हुआ (परन्तु रोमाच अथवा आनन्द नहीं हुआ।)

शिक्षाधिकारी शिक्षासचिव शिक्षा महाविद्यालय के अध्यापक अधिकाशत इन बातों से अनभिज्ञ हैं। कुछ जानते भी हैं तो यह जानकारी बहुत ही सतही है।

यह अज्ञान सार्वत्रिक है केवल शिक्षा विषयक ही नहीं अपितु सभी विषयों में है।

इसका अर्थ यह हुआ कि हम स्वय को ही नहीं जानते अपने इतिहास को नहीं जानते स्वयं को हुई हानि को नहीं जानते और अज्ञानियों के स्वर्ग में रहते हैं। यह स्वर्ग भी अपना नहीं है। उस स्वर्ग में भी हम गुलाम हैं और पश्चिममुखापेक्षी पराधीन मनकर रह रहे हैं।

४

इस संकट से मुक्त होना है तो मार्ग है अध्ययन का। धर्मपालजी की पुस्तकें अपने पास अध्ययन की सामग्री लेकर आई हैं हम सो रहे हैं तो हमें जगाने के लिए आई हैं जाग्रत हैं तो झकझोरने के लिए आई हैं दुर्बल हैं तो सबल बनाने के लिए आई हैं क्षीणप्राण हुए हैं तो प्राणवान बनाने के लिए आई हैं।

ये पुस्तकें किसके लिए हैं ?

ये पुस्तकें इतिहास अर्थशास्त्र समाजशास्त्र शिक्षाशास्त्र जिसे आज की भाषा में ह्यूमेनिटीज कहते हैं उसके विद्वानों चिन्तकों शोधकों अध्यापकों और छात्रों के लिए हैं।

ये पुस्तकें भारत को सही मायने में स्वाधीन समृद्ध सुसंस्कृत बुद्धिमान और कर्तृत्ववान बनाने की आकाक्षा रखने वाले बौद्धिकों सामान्यजनों सस्थाओं सगठनों और कार्यकर्ताओं के लिए हैं।

ये पुस्तकें शोध करने वाले विद्वानों और शोधछात्रों के लिए हैं।

प्रश्न यह है कि इन पुस्तकों को पढने के बाद क्या करें ?

धर्मपालजी स्वय कहते हैं कि पढकर केवल प्रशंसा के उद्गार अथवा पुस्तकों की सामग्री एकत्रित करने के परिश्रम के लिए लेखक को शाबाशी देना पर्याप्त नहीं है। उससे अपना सकट दूर नहीं होगा।

आवश्यकता है इस दिशा में शोध को आगे बढाने की भारत की १८ वीं १९ वीं शताब्दी से सम्बन्धित दस्तावेजों में से कदाचित पाच सात प्रतिशत का ही अध्ययन इस में हुआ है। अभी भी लन्दन के भारत की केन्द्र सरकार के तथा राज्यो के अभिलेखागारों में ऐसे असख्य दस्तावेज अध्ययन की प्रतीक्षा में हैं। उन सभी का अध्ययन और शोध करने की योजना महाविद्यालयों विश्वविद्यालयों शैक्षिक सगठनों और सरकार ने करना आवश्यक है। आवश्यकता के अनुसार इस कार्य के लिए अध्ययन और शोध की स्थानीय और देशी प्रकार की सस्थाए भी बनाई जा सकती हैं।

इसके लिए ऐसे अध्ययनशील छात्रों की आवश्यकता है। इन छात्रों को मार्गदर्शन तथा संरक्षण प्राप्त हो यह देखना चाहिये।

साथ ही एक साहसपूर्ण कदम उठाना जरूरी है। विश्वविद्यालयो और महाविद्यालयों के इतिहास समाजशास्त्र अर्थशास्त्र आदि विषयों के अध्ययन मण्डल (बोर्ड ऑफ स्टडीज़) और विद्वत् परिषदों (एकेडमिक काउन्सिल) में इन विषयों पर चर्चा होनी चाहिए और पाठ्यक्रमों में इसके आधार पर परिवर्तन करना चाहिए। युनिवर्सिटी ग्रन्थ निर्माण बोर्ड इसके आधार पर सन्दर्भ पुस्तकें तैयार कर सकते हैं। ऐसा होगा तभी आनेवाली पीढी को यह जानकारी प्राप्त होगी। यह केवल जानकारी का विषय नहीं है यह परिवर्तन का आधार भी बनना चाहिए। आवश्यकता पडने पर इसके लिए व्यापक चर्चा जहा सम्भव है ऐसी गोष्ठियों एव चर्चा सत्रों का आयोजन करना चाहिए।

इसके आधार पर रूपान्तरण कर के जनसामान्य तक ये बातें पहुँचानी चाहिए। कथाएँ नाटक चित्र प्रदर्शनी तैयार कर उस सामग्री का प्रचार-प्रसार किया जा सकता है। इससे जनसामान्य के मन में स्थित सुषुप्त भावनाओं और अनुभूतियों का यथार्थ प्रतिभाव प्राप्त होगा।

माध्यमिक और प्राथमिक विद्यालय में पढने वाले किशोर और बाल छात्रों के लिए उपयोगी वाचनसामग्री इसके आधर पर तैयार की जा सकती है।

ऐसा एक प्रबल बौद्धिक जनमत तैयार करने की आवश्यकता है जो इसके आधार पर सस्थाएँ निर्माण करे चलाये व्यवस्था का निर्माण करे। या तो सरकार के या सार्वजनिक स्तर पर व्यवस्था बदलने की और नहीं तो सभी व्यवस्थाओं को अपने नियत्रण से मुक्त कर जनसामान्यके अधीन करने की अनिवार्यता निर्माण करे। सच्चा लोकतत्र तो यही होगा।

बन्धन और जकडन से जन सामान्य की बुद्धि को मुक्त करनेवाली लोगों के मानस कौशल उत्साह और मौलिकता को मार्ग देने वाली उनमें आत्मविश्वास का निर्माण करनेवाली और उनके आधार पर देश को फिर से उठाया और खड़ा किया जा सके इस हेतु उसका स्वत्व और सामर्थ्य जगानेवाली व्यापक योजना बनाने की आवश्यकता है।

इन पुस्तकों के प्रकाशन का यह प्रयोजन है।

५

श्री धर्मपालजी गाधीयुग में जन्मे पले। गाधीयुग के आन्दोलनों में उन्होंने भाग लिया रचनात्मक कार्यक्रमों में भाग लिया मीराबहन के साथ बापूग्राम के निर्माण में वे सहभागी बने।

महात्मा गाधी के देशव्यापी ही नहीं तो विश्वव्यापी प्रभाव के बाद भी गाधीजी के अतिनिकट के अतिविश्वसनीय गाधीभक्त कहे जाने वाले लोग भी उन्हें नहीं समझ सके कुछ ने तो उन्हें समझने का प्रयास भी नहीं किया कुछ ने उन्हें समझा फिर भी उन्हें दरकिनार कर सत्ता का स्वीकार कर भारत को यूरोप के तत्रानुरूप ही चलाया। उन नेताओं के जैसे ही विचार के लगभग दो चार लाख लोग १९४७ में भारत में थे (आज उनकी सख्या शायद पाँच दस करोड़ हो गई है)। यह स्थिति देखकर उनके मन में जो मथन जागा उसने उन्हें इस अध्ययन के लिये प्रेरित किया। लन्दन के और भारत के अभिलेखागारों में से उन्होंने असख्य दस्तावेज एकत्रित किए पढ़े उनका अध्ययन किया विश्लेषण किया और १८ वीं तथा १९ वीं शताब्दी के भारत का यथार्थ चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। जीवन के पचास साठ वर्ष वे इस साधना में रत रहे।

ये पुस्तकें मूल अग्रेजी में हैं। उनका व्यापक अध्ययन होने के लिए ये भारतीय भाषाओं में हों यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। कुछ लेख हिन्दी में हैं और जनसत्ता' आदि दैनिक में और 'मथन' आदि सामयिकों में प्रकाशित हुए हैं । मराठी तेलुगु कन्नड़ आदि भाषाओं में कुछ अनुवाद भी हुआ है परन्तु सपूर्ण और समग्र प्रयास तो गुजराती में ही प्रथम हुआ है। और अब हिन्दी में हो रहा है।

इस व्यापक शैक्षिक प्रयास का यह अनुवाद एक प्रथम चरण है।

६

इस ग्रन्थ श्रेणी में विविध विषय हैं। इसमें विज्ञान और तत्रज्ञान है शासन और प्रशासन है लोकव्यवहार और राज्य व्यवहार है कृषि गोरक्षा वाणिज्य अर्थशास्त्र नागरिक शास्त्र भी है। इसमें भारत इग्लैंड और अमेरिका है। परन्तु सभी का केन्द्रबिन्दु हैं गाधीजी कॉंग्रेस सर्वसामान्य प्रजा और ब्रिटिश शासन।

और उनके भी केन्द्र में है भारत।

अत एक ही विषय विभिन्न रूपों में विभिन्न सदर्भो के साथ चर्चा में आता रहता है। और फिर विभिन्न समय में विभिन्न स्थान पर भिन्न भिन्न प्रकार के श्रोताओं के सम्मुख और विभिन्न प्रकार की पत्रिकाओं के लिये भाषण और लेख भी यहा समाविष्ट हैं। अत एक साथ पढ़ने पर उसमें पुनरावृत्ति दिखाई देती है विचारोंकी घटनाओं की दृष्टान्तों की। सम्पादन करते समय पुनरावृत्ति को यथासम्भव कम करने का प्रयास किया है। इसीके परिणाम स्वरूप गुजराती प्रकाशन में ११ पुस्तकें थीं और हिन्दी में १० हुई हैं। परतु विषय प्रतिपादन की आवश्यकता देखते हुए पुनरावृत्ति कम करना हमेशा समव नहीं हुआ है।

फिर सर्वथा पुनरावृत्ति दूर कर उसे नये ढग से पुनर्व्यवस्थित करना तो वेदव्यास

का कार्य हुआ। हमारे जैसे अल्प क्षमतावान लोगो के लिये यह अधिकारक्षेत्र के बाहर का कार्य है।

अत सुधी पाठकों के नीरक्षीर विवेक पर भरोसा करके सामग्री यथातथ स्वरूप में ही प्रस्तुत की है।

यहा दो प्रकार की सामग्री है। एक है प्रस्तुत विषय से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित यूरोप के अधिकारियों और बौद्धिकोंने प्रत्यक्षदर्शी प्रमाणों एव स्वानुभव के आधार पर विभिन्न प्रयोजन से प्रेरित होकर प्रस्तुत की हुई भारत विषयक जानकारी और दूसरी है धर्मपालजीने इस सामग्री का किया हुआ विश्लेषण उससे प्राप्त निष्कर्ष और उससे प्रकाशित ब्रिटिशरों के कार्यकलापों का कारनामों का अन्तरग।

इसमें प्रयुक्त भाषा दो सौ वर्ष पूर्व की अग्रेजी भाषा है सरकारी तत्र की है गैर साहित्यिक अफसरों की है उन्होंने भारत को जैसा जाना और समझा वैसा उसका निरूपण करनेवाली है। और धर्मपालजी की स्वय की भाषा भी उससे पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है।

फलत पढते समय कहीं कहीं अनावश्यक रूप से लम्बी खींचनेवाली शैली का अनुभव आता है तो आश्चर्य नहीं।

और एक बात।

अग्रेजो ने भारत के विषय में जो लिखा वह हमारे मन मस्तिष्क पर इस प्रकार छा गया है कि उससे अलग अथवा उससे विपरीत कुछ भी लिखे जाने पर कोई उसे मानेगा ही नहीं यह भी सम्भव है। इसलिए यहाँ छोटी से छोटी बात का भी पूरा पूरा प्रमाण देने का प्रयास किया गया है। साथ ही इतिहास लेखन का तो यह सूत्र ही है कि नामूल लिख्यते किञ्चित् - बिना प्रमाण तो कुछ भी लिखा ही नहीं जाता। परिणामत यहाँ शैली आज की भाषा में कहा जाए तो सरकारी छापवाली और पाण्डित्यपूर्ण है शोध करनेवाले अध्येता की है।

प्रमाणों के विषयमें तो आज भी स्थिति यह है कि इसमें ब्रिटिशरों के स्वय के द्वारा दिये गये प्रमाण हैं इसलिये पाठको को मानना ही पडेगा इस विषय में हम आश्वस्त रह सकते हैं। (आज भी उसका तो इलाज करना जरूरी है।)

साथ ही पाठकों का एक वर्ग ऐसा है जो भारत के विषय में भावात्मक या भक्तिभाव पूर्ण बातें पढने का आदी है अथवा वैश्विक परिप्रेक्ष्य में लिखा गया अर्थात् अमेरिका के दृष्टिकोण से लिखा गया विचार पढने का आदी है। इस परिप्रेक्ष्य में विषय सम्बधी पारदर्शी ठोस तर्कनिष्ठ प्रस्तुति हमें इस ग्रथवाली में प्राप्त है। अनेक विषयों

में अनेक प्रकार से हमें बुद्धिनिष्ठ होने की आवश्यकता है इसकी प्रतीति भी हमें इसमें होती है।

७

अनुवादकों तथा जिन जिन लोगों ने ये पुस्तकें मूल अंग्रेजी में पढ़ी हैं अथवा अनुवाद के विषय में जाना है उन सभी का सामान्य प्रतिभाव है कि इस काम में बहुत विलम्ब हुआ है। यह बहुत पहले होना चाहिये था। अर्थात् सभी को यह कार्य अतिमहत्त्वपूर्ण लगा है। सभी पाठकों को भी ऐसा ही लगेगा ऐसा विश्वास है।

अनुवाद का यह कार्य चुनौतीपूर्ण है। एक तो दो सौ वर्ष पूर्व की अंग्रेज अधिकारियों की भाषा फिर भारतीय परिवेश और परिप्रेक्ष्य को अंग्रेजी में उतारने और अपने तरीके से कहने के आयास को व्यक्त करने वाली भाषा और उसके ही रंग में रंगी श्री धर्मपालजी की भी कुछ जटिल शैली पाठक और अनुवादक दोनों की परीक्षा लेनेवाली है।

साथ ही यह भी सच है कि यह उपन्यास नहीं है गम्भीर वाचन है।

संक्षेप में कहा जाय तो यह १८ वीं और १९ वीं शताब्दी का दो सौ वर्ष का भारत का केवल राजकीय नहीं अपितु सांस्कृतिक इतिहास है।

८

इस ग्रंथावलि के गुजराती अनुवाद कार्य में श्री धर्मपालजी साक्षी रहे। उसका हिन्दी अनुवाद चल रहा था तब वे समय समय पर पृच्छा करते रहे। परन्तु अचानक ही दि २४ अक्टूबर २००६ को उनका स्वर्गवास हुआ। स्वर्गवास के आठ दिन पूर्व तो उनके साथ बात हुई थी। आज हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन के अवसर पर वे अपने बीच में विद्यमान नहीं हैं। उनकी स्मृति को अभिवादन करके ही यह कार्य सम्पन्न हो रहा है।

९

इस ग्रंथावलि के प्रकाशन में अनेकानेक व्यक्तियों का सहयोग एवं प्रेरणा रहे हैं। उन सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना हमारा सुखद कर्तव्य है।

अनेकानेक कार्यकर्ता एवं विशेष रूप से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सहसरकार्यवाह माननीय सुरेशजी सोनी की प्रेरणा मार्गदर्शन आग्रह एवं सहयोग के कारण से ही इस ग्रंथावलि का प्रकाशन सम्भव हुआ है। अतः प्रथमतः हम उनके आभारी हैं।

सभी अनुवादकों ने अपने अपने कार्यक्षेत्र मे अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी समय सीमा में अनुवाद कार्य पूर्ण किया तभी समय से प्रकाशन सम्भव हो पाया। उनके परिश्रम के लिये हम उनके आभारी हैं।

यह ग्रथावलि गुजरात में प्रकाशित हो रही है। इसकी भाषा हिन्दी है। हिन्दी भाषी लोगों पर भी गुजराती का प्रभाव होना स्वाभाविक है। इसका परिष्कार करने के लिये हमें हिन्दीभाषी क्षेत्र के व्यक्तियों की आवश्यकता थी। जोधपुर के श्री भूपालजी और इन्दौर के श्री अरविंद जावडेकरजी ने इन पुस्तकों को साद्यन्त पढ़कर परिष्कार किया इसलिये हम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

अच्छे मुद्रण के लिये साधना मुद्रणालय ट्रस्ट के श्री भरतभाई पटेल और श्री धर्मेश पटेल ने भी जो परिश्रम किया है इसके लिये हम उनके आभारी हैं।

पुनरुत्थान' के सभी कार्यकर्ता तो तनमन से इसमें लगे ही हैं। इन सभी के सहयोग से ही इस ग्रन्थावलि का प्रकाशन हो रहा है।

१०

सुधी पाठक देश की वर्तमान समस्याओं के निराकरण की दिशा में विचार विमर्श करते समय नई पीढी को इस देश के इतिहास में अंग्रेजों की भूमिका का सही आकलन करना सिखाते समय इस ग्रथावलि की सामग्री का उपयोग कर सकेंगे तो हमारा यह प्रयास सार्थक होगा।

साथ ही निवेदन है कि इस ग्रथावलि में अनुवाद या मुद्रण के दोषों की ओर हमारा ध्यान अवश्य आकर्षित करें। हम उनके बहुत आभारी होंगे।

इति शुभम् ।

सम्पादक

वसन्त पचमी
युगाब्द ५१०८
२३ जनवरी २००७

विभाग १

भारतीय चित्त, मानस एव काल

यह आलेख ऋग्वेद से लेकर कोई दसवीं बारहवीं सदी यानी विक्रम युग तक के हमारे प्राचीन साहित्य के अध्ययन के परिणामस्वरूप सामने आ सका है। यह अध्ययन कोई पाच वर्ष पहले प्रारम्भ हुआ था। इस अध्ययन में प्रमुख रूप से डॉ एम डी श्रीनिवास डॉ जितेन्द्र बजाज और मैं स्वय शामिल था। अनेक मित्रों ने तरह तरह के प्रश्न उठाकर सूचनाए ग्रन्थ जुटाकर तथा इन सब पर सविस्तार बातचीत करते हुए इसमें अपना योगदान दिया है। इनमें मद्रास से श्रीमती पी एल टी गिरिजा श्री टी एन मुकुन्दन डॉ वी बालाजी डॉ अशोक झुनझुनवाला दिल्ली से श्री रामेश्वर मिश्र पकज श्री पुष्पराज श्री राजीव वोरा डॉ नीरू मलिक श्री निर्मल चन्द्र श्री बनवारी तथा वाराणसी से श्री सुनील सहस्रबुद्धे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यह सामग्री लेखों की तरह १६ से १९ और फिर २३ अप्रैल ९१ को दैनिक 'जनसत्ता में प्रकाशित हुई है।

धर्मपाल

१ यह बीसवीं–इक्कीसवीं सदी है किसकी

गाधीजी ९ जनवरी १९१५ को अपने दक्षिण अफ्रिका प्रवास से वापस देश लौटे। तब रास्ते में वे ब्रिटेन में भी रुके थे। उसके बाद बर्मा और श्रीलका की बात छोड दें तो वे केवल एक बार विदेश गए। १९३१ की वह यात्रा ब्रिटेन जाने के लिए ही थी । पर भारत से जाते और यहा लौटते हुए वे मिस्र फ्रान्स स्विट्जरलैंड और इटली में भी कुछ कुछ दिन ठहरते गए। अमेरिका वाले तब चाहते रहे कि गाधीजी वहा भी आए। लेकिन उनका अमेरिका जाना तो नहीं हो पाया।

१९१५ में गाधीजी के मुम्बई उतरने से पहले ही देश में उनसे बहुत बडी उम्मीदें लगाई जाने लगी थीं। उस समय के सम्पादकीय आलेखों से लगता है कि सभी से उन्हें कुछ अवतारपुरुष सा समझा जाने लगा था। मुम्बई में गाधीजी और कस्तूरबा का जैसा स्वागत हुआ वैसा उस नगर की स्मृति में पहले किसी का नहीं हुआ था ऐसा उन दिनों के समाचार पत्रों का कहना है। मुम्बई के बडे बडे घरों में गाधीजी और कस्तूरबा के सम्मान व स्वागत में अनेक भोज हुए। उन भोज समारोहों में मुम्बई हाईकोर्ट के कई न्यायाधीश और मुम्बई के गर्वनर की परिषद के सदस्य भी पहुचे । मुम्बई के सम्पन्न समाज के प्रमुख लोग और बडे बडे उद्योगपति तो उन भोजो में उपस्थित थे ही।

पर तीन दिन में ही गाधीजी और कस्तूरबा इस सबसे ऊब गए। १२ जनवरी को हुए एक बडे स्वागत समारोह में गाधीजी ने अपनी उकताहट सबके सामने प्रकट कर डाली। इस समारोह में ६०० से अधिक अतिथि आए थे और फीरोजशाह मेहता स्वय इसके अध्यक्ष थे। समारोह में बोलते हुए गाधीजी ने कहा कि उन्होंने सोचा था कि देश आकर उन्हें दक्षिण आफ्रिका से कहीं अधिक आत्मीयता का अनुभव होगा । लेकिन पीछले तीन दिनों से मुझे और कस्तूरबा को लग रहा है कि दक्षिण आफ्रिका के भारतीय मजदूरों के बीच जीवन अधिक आत्मीय था । यहा तो हम अपने को कुछ पराए से लोगों के बीच ही पा रहे हैं।

उसके बाद गांधीजी का रहनसहन बदलता ही चला गया। उनके कार्यक्रम भी बड़े लोगों के भोज समारोहों से हटकर अधिकतर साधारण लोगों के बीच होने लगे। और देश के साधारण जन के मानस में उनकी ऐसी पैठ हुई कि जनवरी के अन्तिम सप्ताह मे उनके मुम्बई उतरने के एक पखवाड़े के भीतर सौराष्ट्र में लोग उन्हें महात्मा' कहकर सम्बोधित करने लगे। उसके केवल तीन महीने बाद लगभग एक हजार मील दूर हरिद्वार के पास गुरुकुल कागड़ी में भी उन्हें 'महात्मा' कहा जा रहा था।

तब से लेकर अगले पचीस-तीस बरस तक देश में सघन आत्मविश्वास की एक लहर चलती रही। लोगों को शायद ऐसा आभास होता रहा कि उनके कष्टों का निवारण करने के लिए पृथ्वी का बोझ घटाने के लिए और जीवन को फिर से सन्तुलित करने के लिए एक अवतार पुरुष उनके बीच उपस्थित है। अधिकाश भारतीयों ने उन्हें कभी देखा नहीं होगा। बहुतों ने उनके रहन सहन व काम काज के तरीकों को कभी सही भी नहीं माना होगा। और शायद भारत के अधिकतर लोग १९४५-४६ तक भी यही मानते रहे होंगे कि गाधीजी जो स्वतन्त्रता सग्राम चला रहे थे उसके सफल होने की कोई सम्भावना नहीं है। लेकिन फिर भी शायद सभी भारतीयों को उनमें एक अवतार पुरुष और एक दिव्य आत्मा के दर्शन होते रहे।

पृथ्वी के कष्टों का निवारण करने के लिए अवतार पुरुष जन्म लिया करते हैं यह मान्यता भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन समय से चली आ रही है। रामायण महाभारत और पुराणों के रचनाकाल से तो ऐसा माना ही जा रहा है। द्वापर का अन्त आते आते धर्म का इतना ह्रास होता है कि पृथ्वी अपने ऊपर के बोझ से पीड़ित होकर विष्णु से इस बोझ को किसी प्रकार हल्का करने की प्रार्थना करती है। तब देवों की ओर से एक बड़ी व्यूह रचना होती है और विष्णु स्वय श्रीकृष्ण आदि के रूप में पृथ्वी पर उतरते हैं। महाभारत का युद्ध पृथ्वी के बोझ को हल्का करने की इसी प्रक्रिया का एक उदाहरण है। ललित विस्तर आदि बौद्धचरितों में गौतम बुद्ध के पृथ्वी पर अवतरण के भी ऐसे ही कारण दिए गए हैं। इसी प्रकार समय समय के प्रश्नों के समाधान के लिए अनेक अवतार होते रहते हैं।

इसलिए १९१५ में भारत के लोगों ने सहज ही यह मान लिया की भगवान ने उनका दु ख समझ लिया है और उस दु ख को दूर करने के लिए व भारतीय जीवन में एक नया सन्तुलन लाने के लिए महात्मा गाधी को भेजा गया है। गाधीजी के प्रयासों से भारतीय सभ्यता की दासता का दु:ख बहुत कुछ कट ही गया। लेकिन भारतीय जीवन

में कोई सन्तुलन नहीं आ पाया। गाधीजी १९४८ के बाद जीयित रहते तो भी इस नए सन्तुलन के लिए तो कुछ और ही प्रयत्न करने पड़ते।

जो काम महात्मा गाधी पूरा नहीं कर पाए उसे पूरा करने के प्रयास हमें आगे पीछे तो आरम्भ करने ही पड़ेंगे। आधुनिक विश्व में भारतीय जीवन के लिए भारतीय मानस व काल के अनुरूप कोई नया सन्तुलन ढूढे बिना तो इस देश का बोझ हल्का नहीं हो पायेगा। और उस नए ठोस धरातल को ढूढने का मार्ग वही है जो महात्मा गाधी का था। इस देश के साधारण जन के मानस में पैठकर उसके चित्त व काल को समझकर ही इस देश के बारे में कुछ सोचा जा सकता है।

गाधीजी के लिए यह समझ और पैठ सहज थी। हमें उसे पाने के लिए अनेक बौद्धिक प्रयत्न करने पड़ेंगे। पर हमें यह जानना ही पड़ेगा कि इस देश के साधारणजन इसे किस दिशा में ले जाना चाहते हैं? वर्तमान की उनकी समझ क्या है? भविष्य का कैसा प्रारूप उनके मन में है? जिन साधारण लोगों के बल पर इस देश को एक नया सन्तुलन दिया जाना है इस देश को बनाया जाना है वे लोग हैं कौन? उनका स्वभाव क्या है? उनकी आदतें कैसी हैं? उनकी प्राथमिकताए क्या हैं? इच्छाए-आकाक्षाए क्या हैं? वे अपने बारे में क्या मानते हैं? और ससार को कैसे देखते हैं? वे भगवान को देखते हैं क्या? देखते हैं तो किस दृष्टि से देखते हैं? या फिर वे भगवान को नहीं मानते तो किसे मानते हैं? काल को मानते हैं? दैव को मानते हैं? या कुछ और ही उनके मन में है क्या? जनसाधारण की अच्छे जीवन की कल्पना के अनुरूप और उनके सहयोग से देश को कुछ बनाना है तो यह सब तो जानना ही पड़ेगा।

लेकिन अपने लोगों के चित्त व मानस को समझने की यह बात लगता है हमें अच्छी नहीं लगती। गाधीजी का भारत के साधारण जन के साथ एकाकार होकर उन्हीं के चित्त की बात को शब्द देते जाना भी हम भद्रजनों को कभी सुहाता नहीं था। भारतीय चित्त व मानस से हमें डर-सा लगता है। हम यह मानकर चलना चाहते हैं कि भारतीय मानस में कुछ है ही नहीं। वह तो एक साफ स्लेट है जिस पर हम भद्र लोगों को आधुनिकता से सीखकर एक नया आलेख लिखना है।

पर शायद हमें यह आभास भी है कि भारतीय चित्त वैसा साफ-सपाट नहीं है जैसा मानकर हम चलना चाहते हैं। वास्तव में तो वह सब विषयों पर सब प्रकार के विचारों से अटा पड़ा है। और वे विचार कोई नए नहीं हैं। वे सब पुराने ही हैं। शायद ऋग्वेद के समय से ये चले आ रहे हैं। या शायद गौतम बुद्ध के समय के कुछ विचार

उपजे होंगे या फिर महावीर के समय से। पर जो भी ये विचार हैं जहा से भी वे आए हैं वे भारतीय मानस में बहुत गहरे पैठे हुऐ हैं। और शायद हम यह बात जानते हैं। लेकिन हम इस वास्तविकता को समझना नहीं चाहते इसे किसी तरह नकार कर भारतीय मानस व चित्त की सभी वृत्तियों से आखें मूदकर अपने लिए एक नई ही कोई दुनिया हम गढ लेना चाहते हैं।

इसलिए अपने मानस को समझने की सभी कोशिशें हमें बेकार लगती हैं। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के भारत के इतिहास का मेरा अध्ययन भी भारतीय मानस को समझने का एक प्रयास ही था। उस अध्ययन से अग्रेजों के आने से पहले के भारतीय राज-समाज की भारत के लोगों के सहज तौर-तरीकों की एक समझ तो बनी। समाज की जो भौतिक व्यवस्थाएं होती हैं विभिन्न तकनीकें होती हैं रोजमर्रा का काम चलाने के जो तरीके होते हैं उनका एक प्रारूप सा तो बन पाया। पर समाज के अन्तर्मन की उसके मानस की चित्त की कोई ठीक पकड़ उस काम से नहीं बन पाई। मानस को पकड़ने का चित्त को समझने का मार्ग शायद अलग होता है।

पर भारतीय राज-समाज की भौतिक व्यवस्थाओं को समझने का मेरा यह प्रयास भी अधिकतर लोगों को विचित्र ही लगा था। १९६५-६६ में जब मैंने अठारहवीं उन्नीसवीं सदी के दस्तावेजों को देखना शुरू किया तो दिल्ली के एक मित्र ने कहा भई तुम ये क्या गड़े मुर्दे उखाडने लगे हो? कुछ ढग का काम क्यों नहीं करते? और बहुत लोगों ने कहा कि आप अठारहवीं सदी की ये जो बातें करते हैं वे तो ठीक ही हैं। उस समय भारत में खेती अच्छी होती होगी। बढिया लोहा बनता होगा। लोगों को चेचक आदि से बचाव के टीके लगाना आता होगा। प्लास्टिक सर्जरी होती होगी। लोगों की राज-समाज की अपनी सक्षम व्यवस्थाए रही होंगीं। पचायतें रही होंगी। यह सब सुनकर तो अच्छा ही लगता है। इन बातों से आत्मविश्वास और आत्मगौरव का भाव भी शायद देश मे कुछ कुछ जगता हो। पर आजकल के सन्दर्भ में तो ये कोई बहुत काम की बातें नहीं हैं। यह सब जानकारी आज किस काम आने वाली है? यह सब जानने का लाभ क्या है? ऐसा अक्सर लोग पूछते रहते हैं।

इसी तरह का सवाल दो एक महीने पहले हमारे तब के प्रधानमत्री श्री चन्द्रशेखर ने उठाया था। उनके घर मैं गया था। वे पूछने लगे आप यह अठारहवीं सदी को लेकर क्या बैठे हैं? अब तो बीसवीं-इक्कीसवीं की बात होनी चाहिए। और भी बहुत से अनुभवी व परिचित लोग यही बात और अधिक जोर देकर कहते रहते हैं। लगता है हम जैसे सभी भारतीय ही किसी तरह बीसवीं-इक्कीसवीं सदी में पहुचने की

बातें करने लगे हैं।

पर यह बीसवीं-इक्कीसवीं सदी है किसकी? हमारी तो यह सदी नहीं है। भारत के जो साधारण लोग हैं जिनकी अवस्था को देखकर हम दु खी होते रहते हैं और जिनकी भलाई के नाम पर यह सब ताम झाम चलता है उनकी तो यह सदी नहीं है। जवाहरलाल नेहरू की मानें तो ये साधारण लोग तो अभी सत्रहवीं-अठारहवीं सदी में ही रह रहे हैं। जवाहरलाल नेहरू ऐसा कहा करते थे और वे इस बात को लेकर बहुत परेशान थे कि अपने लोग अठारहवीं सदी से बाहर निकल ही नहीं रहे बीसवीं में आ नहीं रहे।

पर वे साधारणजन तो शायद पश्चिम की अठारहवीं सदी में भी न हों। हो सकता है कि वे अभी किसी पौराणिक युग में ही रह रहे हों। काल और युग की अपने यहा जो कल्पना है उसी दृष्टि से वर्तमान को देख रहे हों। कलियुग में रहते हुए किसी अवतार पुरुष के आने की अपेक्षा में हों। उनकी मान्यताओं के अनुसार तो पश्चिम की इस बीसवीं सदी में ही महात्मा गाधी के रूप में एक अवतार-पुरुष यहा आए भी थे। पर शायद उन्हें किसी दूसरे तीसरे के आने की उम्मीद है और शायद उसी की बातों में वे मग्न हों।

अगर यह सच है कि इस देश के साधारण लोग तो अपनी पौराणिक कल्पना के कलियुग में ही रह रहे हैं तो इसी कलियुग को समझने की कोशिश करनी पड़ेगी। बीसवीं सदी का राग अलापते रहने से तो हमारा काम नहीं चल पाएगा। हमारे लोग इस सदी में नहीं हैं तो यह अपनी सदी है ही नहीं। वैसे भी यह पश्चिम की ही सदी है। हो सकता है जापान वालों को भी यह कुछ कुछ अपनी ही सदी लगती हो। पर मुख्य रूप से तो यह यूरोप और अमेरिका की ही सदी है। और क्योंकि हम यूरोप या अमेरिका या जापान के साथ सम्पर्क तोड़ नहीं सकते इसलिए उनकी इस बीसवीं सदी को भी शायद कुछ समझना पड़ेगा। पर यह समझना तो अपने साधारण लोगों की दृष्टि से ही होगा न? अपने काल के आधार पर ही दूसरों के काल को समझा जाएगा न? समझने की प्रक्रिया का यह सामान्य क्रम उलटा तो नहीं जा सकता। हमें तो कलियुग की दृष्टि से ही बीसवीं सदी को समझना पड़ेगा बीसवीं सदी की दृष्टि से कलियुग को समझना तो हो ही नहीं सकता।

हममें से कुछ लोग शायद मानते हो कि वे स्वय भारतीय मानस चित्त व काल की सीमाओं से सवर्था मुक्त हो चुके हैं। अपनी भारतीयता को लाघकर वे पश्चिमी आधुनिकता या शायद किसी प्रकार की आदर्श मानवता के साथ एकात्म हो गए हैं।

ऐसे कोई लोग है तो उनके लिए बीसवीं सदी की दृष्टि से कलियुग को समझना और भारतीय कलियुग को पश्चिम की बीसवीं सदी के रूप में ढालने के उपायों पर विचार करना सम्भव होता होगा। पर ऐसा अक्सर हुआ नहीं करता। अपने स्वाभाविक देश काल की सीमाओ मर्यादाओं से निकलकर किसी और ये युग में प्रवेश कर जाना असाधारण लोगों के बस की भी बात नहीं होती। जवाहरलाल नहेरू जैसों से भी यह नहीं हो पाया होगा। अपनी सहज भारतीयता से वे भी पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाए होंगे। महात्मा गाधी के कहने के अनुसार भारत के लोगों में जो एक तर्कातीत और विचित्र सा भाव है उस विचित्र तर्कातीत भाव का शिकार होने से जवाहरलाल नहेरू भी नहीं बच पाए होंगे। फिर बाकी लोगों की तो बात ही क्या है। वे तो भारतीय मानस की मर्यादाओं से बहुत दूर जा ही नहीं पाते होंगे।

भारत के बड़े लोगों ने आधुनिकता का एक बाहरी आवरण सा जरूर ओढ रखा है। पश्चिम के कुछ संस्कार भी शायद उनमें आए हैं। पर चित्त के स्तर पर वे अपने को भारतीयता से अलग कर पाए हों ऐसा तो नहीं लगता। हा हो सकता है कि पश्चिमी सभ्यता के साथ अपने लम्बे और घनिष्ठ सम्बन्ध के चलते कुछ दस-बीस पचास हजार या शायद लाखेक लोग भारतीयता से बिलकुल दूर हट गए हो। पर यह देश तो दस-बीस पचास हजार या लाख लोगो का नहीं है । यह तो अस्सी करोड लोगों की कथा है ।

भारतीयता की मर्यादाओं से मुक्त हुए ये लाखेक आदमी जाना चाहेंगे तो यहा से चले ही जाएगे। देश अपनी अस्मिता के हिसाब से अपने मानस चित्त व काल के अनुरूप चलने लगेगा तो हो सकता है इनमें से भी बहुतेरे फिर अपने सहज चित्त मानस में लौट आए। जिनका भारतीयता से नाता पूरा टूट चुका है वे तो बाहर कहीं भी जाकर बस सकते हैं । जापान वाले जगह देंगे तो वहा जाकर रहने लगेंगे। जर्मनी में जगह हुई तो जर्मनी में रह लेगे। रूस में कोई सुन्दर जगह मिली तो वहा चले जाएगे। अमेरिका में तो वे अब भी जाते ही हैं। दो चार लाख भारतीय अमेरिका जाकर बसे ही हैं। और उनमे बड़े बड़े इजीनियर डॉक्टर दार्शनिक साहित्यकार, विज्ञानविद् और अन्य अनेक प्रकार के विद्वान भी शामिल हैं।

पर इन लोगो का जाना कोई बहुत मुसीबत की बात नहीं है। समस्या उन लोगो की नहीं जो भारतीय चित्त व काल से टूटकर अलग जा बसे है। समस्या तो उन करोडा लोगों की है जो अपने स्वाभाविक मानस व चित्त के साथ जुड़कर अपने सहज काल में रह रहे है । इन लोगो के बल पर देश का कुछ बनाना है तो हमे उस सहज

चित्त मानस व काल को समझना पडेगा। उस चित्त के प्रकाश मे वर्तमान कैसा दिखाई देता है यह जानना पडेगा। और भारतीय वर्तमान के धरातल से पश्चिम की बीसवीं सदी का क्या रूप दिखता है उस बीसवीं सदी और अपने कलियुग में कैसा और क्या सम्पर्क हो सकता है इस सब पर विचार करना पडेगा। यह तभी हो सकता है जब हम अपने चित्त व काल को अपनी कल्पनाओं व प्राथमिकताओं को और अपने सोचने समझने व जीने के तौर-तरीकों को ठीक से समझ लेंगे।

२ अपना अध्ययन भी विदेशी निगाह से

सहज भारतीय चित्त मानस व काल को समझने के कई मार्ग हैं। अठारहवीं सदी के स्वदेशी राज-समाज को समझने का मेरा प्रयास एक मार्ग था। उस मार्ग से मानस तो शायद पकड़ में नहीं आता पर उस मानस की विभिन्न भौतिक व्याप्तिओं की कुछ समझ तो बनती है। सहज भारतीय तौर-तरीकों और व्यवस्थाओं का कुछ अनुमान होता है।

अपने साधारण लोगों को जानना वे कैसे जीते हैं किस प्रकार की बातें करते हैं अलग अलग परिस्थितियों से कैसे निपटते हैं कैसा व्यवहार करते हैं यह सब देखने समझने की कोशिश करना भारतीय मानस चित्त व काल को पकड़ने का एक और मार्ग है। पर यह शायद कुछ कठिन रास्ता है। हम सोचने समझने वाले लोग फिलहाल अपनी जड़ों से इतने उखड़े हुए हैं कि अपने लोगों की बातों को उन्हीं की दृष्टि से समझ पाना शायद अभी हम से बन न पाए।

भारतीय मानस को समझने के लिए अपने प्राचीन साहित्य को तो समझना ही पड़ेगा। यहा का असीम साहित्य जो भारतीय सभ्यता का आधार रहा है और जिससे अपने यहा की प्रज्ञा और व्यवहार नियमित होते रहे हैं उसे जाने बिना भारतीय मानस को जानने की बात चल नहीं सकती। ऋग्वेद से लेकर अपना जितना साहित्य है उपनिषद हैं पुराण हैं महाभारत और रामायण हैं या बौद्ध और जैन साहित्य है या फिर आयुर्वेद शिल्पशास्त्र ज्योतिषशास्त्र व धर्मशास्त्र जैसे व्यावहारिक विषयों की जो विभिन्न संहिताए हैं उन सबकी एक समझ तो हमें बनानी ही पड़ेगी । इस सारे साहित्य से इस देश के मानस का और उसकी विभिन्न राजनैतिक सामाजिक आर्थिक व तकनीकी व्याप्तियो का क्या चित्र उभरता है और वह चित्र समय समय पर कैसे बदलता-सवरता रहा है इसका एक मोटा अनुमान तो हमें करना ही पड़ेगा। ऐसे किसी अनुमान के बिना अपने को समझने की प्रक्रिया आरम्भ ही नहीं हो सकती। कम से कम बुद्धि पर आधारित प्रक्रियाए तो ऐसे ही चला करती हैं। ज्ञानातीत कोई रास्ता हो तो उसकी बात अलग है।

अपने सारे पुराने साहित्य को देख-समझकर अपने चित्त व काल की एक तस्वीर बनाने और उस तस्वीर में आधुनिक विश्व और उसकी वृत्तियों को उपयुक्त स्थान देने का काम हम कर नहीं पा रहे हैं। ऐसा नहीं कि भारत के पुराने साहित्य पर कोई काम हो ही न रहा हो। अनेक भारतीय विद्या सस्थान विशेष तौर पर भारतीय ग्रन्थों को देखने-समझने के लिए बने हैं और अनेक ऊचे विद्वान लम्बे समय से इस काम में लगे हैं। पर जो काम हो रहा है वह तो जो होना चाहिए था उससे ठीक उलटा है। अपनी दृष्टि से अपने और आधुनिक विश्व को समझने की बजाय आधुनिकता की दृष्टि से अपने साहित्य को पढा जा रहा है। अपने काल के सन्दर्भ में बीसवीं सदी को समझने की बजाय बीसवीं सदी के सन्दर्भ में अपने काल में से कुछ समसामयिक ढूढने के प्रयास हो रहे हैं। अपनी कोई तस्वीर बनाकर उसमें आधुनिकता को सही जगह बैठाने की बजाय आधुनिकता की तस्वीर में अपने लिए कोई छोटा मोटा कोना ढूढा जा रहा है।

पिछले दो-एक सौ साल में पश्चिम वालों ने भारत के बारे में जानने की कोशिश की है। यहा की नीति को रीति-रिवाजों को धर्मशास्त्रों को आयुर्वेद ज्योतिष और शिल्प जैसी विद्याओं और विधाओं को इन सबको समझने के प्रयास पश्चिमी विद्वान करते रहे हैं। जैसी जैसी उन लोगो की रुचि थी जैसी उनकी समझ थी और जैसी उनकी आवश्यकताए-अनिवार्यताए थीं वैसा-वैसा कुछ वे भारतीय साहित्य में पढते रहे हैं। उनकी देखा देखी या कहिए कि उनके प्रभाव मे आकर अपने यहा के कुछ आधुनिक विद्वान भी भारतीय विद्याओं और विधाओं में रुचि लेने लगे और भारत के प्राचीन ग्रन्थो का अध्ययन करने के लिए अनेक नए नए सस्थान खुलने लगे। महाराष्ट्र में कई ऐसे सस्थान बने। बगाल में भी बने होंगे। कई नए सस्कृत विश्वविद्यालय भी खुले ।

ये सब सस्थान विद्यालय और विश्वविद्यालय आदि नए तरीके के ही थे। भारतीय विद्याओं को पढने-पढाने की जो पारम्परिक व्यवस्थाए हुआ करती थीं उनके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। पश्चिम व विशेषत लन्दन के उस समय के विद्या सस्थानों के अनुरूप ही भारत के इन नए विद्या सस्थानों का गठन किया गया था और वहीं की विद्या धाराओं से किसी प्रकार अपनी विद्याओं को जोडना ही शायद इनका प्रयोजन था। उदाहरण के लिए वाराणसी में 'क्वीन्स कॉलेज' नाम का एक सस्थान वारेन हेस्टिंग्ज के समय में बना था। वही अब सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय कहलाता है। भारतीय विद्याओं का अध्ययन करने वाले प्रमुख भारतीय सस्थानों में उसकी गिनती होती है। ऐसे अनेक सस्थान बनते चले गए। अब भी इसी तरह के कई नए-नए सस्थान खुल रहे हैं।

पश्चिम की देखा देखी में और पश्चिमी संस्थानों की तर्ज पर ये जो भारतीय विद्या संस्थान बने उनमें पश्चिम के सारे पूर्वाग्रह और पश्चिम का पूरे का पूरा सैद्धान्तिक ढाचा आ प्रतिष्ठित हुआ। भारतीय विद्याओं पर भारतीय विद्वानों ने जो काम आरम्भ किया वह तो ऐसे था जैसे ये विद्वान कोई विदेशी लोग हों और किसी खोई हुई मृत सभ्यता के अवशेषों में से अपने काम आने योग्य कुछ ढूढ रहे हों। यह काम वैसा ही था जैसा एंथ्रोपोलोजी में होता है। एंथ्रोपोलोजी पश्चिम की एक विशेष विद्या है। इस विद्या के प्रामाणिक प्रवक्ता और धुरन्धर विद्वान माने जाने वाले क्लॉड लेवी स्ट्रॉस के अनुसार इस विद्या की विषयवस्तु पराधीन पराजित और खण्डित समाज हुआ करते हैं। विजेता समाज विजित समाजो का अध्ययन करने के लिए जो उपक्रम करते हैं वही एंथ्रोपोलोजी है। एंथ्रोपोलोजी की इस परिभाषा पर इस विद्या के विद्वत्समाज में कोई विशेष विवाद नहीं है। लेवी स्ट्रॉस धाकड विद्वान हैं इसलिए वे अपनी बात स्पष्ट कह जाते हैं। बाकी विद्वान इसी बात को घुमा-फिराकर कहते होंगे। पर यह तो साफ है कि एंथ्रोपोलोजी के माध्यम से अपने ही समाज का अध्ययन नहीं हुआ करता न पराजित और खण्डित समाजों के विद्वान इस विद्या को उलटा कर विजेता समाजों का अध्ययन करने के लिए इसे बरत सकते हैं। पर भारतीय विद्वान भारतीय सभ्यता पर ही एंथ्रोपोलोजी कर रहे है। भारतीय साहित्य पर अब तक जितना काम हुआ है और जो हो रहा है वह सब ऐसा ही काम है। या तो एंथ्रोपोलोजी की जा रही है या पश्चिम के एंथ्रोपोलोजीविदों के लिए सामग्री जुटाई जा रही है।

ऐसा नहीं कि इस काम में परिश्रम या बुद्धि न लगती हो। बहुत विद्वत्ता और बहुत मेहनत के काम अपने विद्वानों ने किए हैं। अभी कुछ बरस पहले महाभारत का टिप्पणी सहित एक संस्करण अंग्रेजी में क्रिटीकल एडीशन बनकर तैयार हुआ है। इसे बनाने में चालीस पचास साल की मेहनत लगी होगी। ऐसे ही रामायण के संस्करण बने होंगे। वेदों और दूसरे अनेक ग्रन्थों पर भी ऐसा काम हुआ होगा। फिर अनुवाद हुए हैं। संस्कृत पाली तमिल और बहुत सी दूसरी भारतीय भाषाओं के कई ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ है। यूरोप की दूसरी भाषाओं में भी अनुवाद किए गए हैं। यहां की भाषाओं में भी हुए हैं। गीताप्रेस गोरखपुर वाले तो बहुत सारे प्राचीन साहित्य का सरल हिन्दी अनुवाद कर उसे सामान्यजनों तक पहुचाने का अथक प्रयास किए जा रहे हैं। गुजराती में भी बहुत से अनुवाद हुए हैं। यह सब हुआ है। और यह बहुत परिश्रम और विद्वत्ता का काम ही हुआ है।

पर यह सारा काम भारतीय चित्त व काल की किसी अपनी समझ के धरातल से

नहीं पश्चिम की विश्वदृष्टि के आलोक में हुआ है। या फिर खाली भक्ति की रौ मे बहकर कुछ पुण्य कमाने की दृष्टि से अनुवाद और टीकाए होती गई हैं। इसलिए इन सब अनुवादों और सस्करणों आदि से भारतीयता की समझ के प्रखर होने की बजाय आधुनिकता के हिसाब से भारतीय साहित्य का एक भाष्य-सा बनता चला गया है।

उदाहरण के लिए श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के पुरुष-सूक्त के अनुवाद व भाष्य को देखिए। उसमें उन्होंने ला दिया है कि ब्रह्मा के तप से जिस राज्य की अभिव्यक्ति हुई उसके ये ये विभाग थे। पुरुषसूक्त का भाष्य करते हुए राज्य के बीसियों विभाग उन्होंने गिना दिए हैं। मानो अंग्रेजी साम्राज्य के विभागीय अफसरशाही वाले राज्य की कल्पना ही पुरुषसूक्त का सन्देश हो। श्री सातवलेकर तो आधुनिक भारत के महर्षि जैसे माने जाते हैं। उनका परिश्रम उनकी विद्वत्ता और भारत की प्रज्ञा मे उनकी निष्ठा सब उची कोटि की थी। पर आधुनिकता के प्रवाह में वे भी ऐसा बहे कि उन्हें पुरुषसूक्त में अंग्रेजी राज्य व्यवस्था का पूर्वाभास दिखाई देने लगा। भारतीय साहित्य पर जो बाकी काम हुआ है वह भी कुछ ऐसा ही है। उसका सार यही निकलता है कि आधुनिक पश्चिम में कोई विशेष वृत्ति या समझ है तो वही वृत्ति वही समझ अपने ग्रथो में पहले से ही थी और आधुनिक पश्चिम के मुकाबले अधिक सबल-स्पष्ट थी।

पिछले बीस तीस वर्षों में ऐसा ही काम और ज्यादा होने लगा है। पर इस सबका क्या लाभ ? दूसरों की समझ के अनुरूप दूसरों के मुहावरे में ही बातचीत करनी है तो अपने प्राचीन साहित्य को बीच में क्यों घसीटा जाए? बीसवीं सदी की पश्चिमी आधुनिकता को ही प्रतिपादित करना है तो उसके लिए अपने पूर्वजों को साक्षी बनाने की तो जरूरत नहीं है। अपने पूर्वजों और उनका साहित्य तो अपने भारतीय चित्त व काल के ही साक्षी हो सकते हैं। उन्हें पश्चिमी आधुनिकता का साक्षी बनाकर खड़ा करना तो अनाचार ही है।

अपने यहा प्राचीन साहित्य पर होने वाले काम का एक और उदाहरण देखिए। पिछले बहुत समय से शायद सौ-एक बरस से हमारे विद्वान लोग इस देश की विभिन्न विधाओं की विभिन्न भाषाओं में ज्ञात पाण्डुलिपियों की उपलब्ध सूचियों का एक सकलन बनाने की कोशिश कर रहे हैं। इस सकलन को बनाने वाले विद्वानों ने लम्बी मेहनत के बाद यह जाना है कि सस्कृत प्राकृत पाली तमिल आदि भाषाओं की ज्ञात पाण्डुलिपियों की दो हजार के लगभग सूचिया या कैटलाग हैं। ये दो हजार कैटलाग शायद सात-आठ सौ अलग-अलग स्थानो से सम्बन्धित हैं। इनमें से सौ-दो सौ स्थान भारत के बाहर होंगे। यह केवल कैटलागों या सूचियों की बात है। मान लिया जाए कि प्रत्येक

सूची मे सौ दो सौ के लगभग पाडुलिपिया होंगी तो इन सूचियों में दर्ज पाडुलिपियों की गिनती दो-चार लाख बैठती है। ये दो चार लाख पाडुलिपिया कहा-कहा बिखरी होगी और किस स्थिति में होंगी इसका तो अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता।

अब यह कितनी मेहनत कितनी विद्वत्ता का काम है ? सात आठ सौ स्थानों पर रखी पाडुलिपियों को इकट्ठा कर उनकी एक लम्बी समन्वित सूची बनाना कोई आसान काम तो नहीं रहा होगा। लेकिन हम क्या करेंगे इस सबका ? दो-चार लाख पाडुलिपियों की जो यह समन्वित सूची है वह हमारे किस काम आएगी ? यह सूची तो पिछले सौ डेढ सौ साल में सकलित हुई है। कुछ विदेशियों ने बनाई है कुछ हमारे विद्वानों ने बनाई है। पर हमें तो यह भी नहीं मालूम की इस सूची में जो पाडुलिपिया दर्ज हैं उनमें से *कितनी अभी बची हैं और कितनी को खोलकर अभी भी पढा जा सकता है। इनमें से* कितनी माइक्रो फिल्म हो सकती हैं इसका तो शायद कोई ठीक अदाजा नहीं है।

इन पाडुलिपियों को पढा ही नहीं जा सकता तो उनकी ये सूचियां हम किस लिए बना रहे हैं ? वैसे तो ऐसा भी माना जाता है कि भारतीय भाषाओं की कुल पचास करोड के आस-पास पाडुलिपिया इधर-उधर पडी होंगी। जो साहित्य हमारे पास आसानी से उपलब्ध है उसी को हम देख समझ नहीं सकते तो इन पचास करोड की बात तो निरर्थक ही है।

यह ठीक है कि विद्वत्ता के क्षेत्र में ऐसे काम भी हुआ करते हैं। ठीक-ठीक चलते समाजो में ऐसी विद्वता भी समा जाती है। जिन पण्डित लोगों को कवित्त ही करने होते हैं उन्हें अपने कवित्त करने दिया जाता है। और सक्षम समाज इस प्रकार की विद्वत्ता को भी कभी न कभी काम पर लगा लेते हैं। लेकिन उन समाजों में भी अधिकतर काम तो मुख्य धारा में एक विशेष दिशा में एक दूसरे को समर्थन देते हुए, एक-पर एक को जोडते हुए ही किए जाते हैं। हमारे यहा तो भारतीय विद्या पर होने वाले कामों की कोई मुख्य धारा ही नहीं है कोई दिशा ही नहीं है। सारे का सारा काम ही जैसे कोई मानसिक ऐयाशी हो।

पर हमारे पास तो इस तरह की ऐयाशी के लिए न साधन हैं न समय। हमें अपने चित्त व काल को समझना है अपने दो पैरों पर खडे होने के लिए कोई धरातल बनाना है तो इस तरह की दिशाहीन विद्वत्ता से कुछ नहीं बनेगा। उसके लिए तो अपने पूरे साहित्य को देख समझकर जल्दी से एक मोटा मोटा चित्र बनाना होगा। बाद में उस चित्र में विभिन्न रंग भरते जाएगे रेखाए सुस्पष्ट होती जाएगी। पर हमें अपनी दृष्टि से अपने को और विश्व को देखने की एक दिशा तो मिल जाएगी अपना कोई धरातल तो

होगा। अपनी दिशा ढूढने के काम कोई सदियों में नहीं किए जाते। ये काम तो दो-चार साल में ही पूरे किए जाते हैं और ऐसे किए जाते हैं कि छह-सात महीनो में ही अपनी कोई रूपरेखा उभरने लगे।

अपने पुराने साहित्य का अध्ययन कर इस तरह की कोई रूपरेखा बना लेने की बात जब मैं करता हू तो मित्र लोग कहते है कि भई आप इसमें मत पडिए। यह तो समझ नहीं आएगा। इसे जानने के लिए तो सस्कृत पढनी पडेगी। अग्रेजी में पढकर या हिन्दी में पढकर तो सब गलत ही समझ बनेगी। पढना ही है तो सस्कृत में पढो। पहले सस्कृत सीख लो।

लेकिन सस्कृत जानने वाले कितने लोग हैं इस देश में ? यहा तो अब सस्कृत में डाक्टरेट भी सस्कृत सीखे बिना ही मिल जाती है अग्रेजी में प्रबन्धग्रन्थ लिखकर ही सस्कृत की डाक्टरेट हो जाती है। अब सस्कृत पढने वाले विद्वान तो शायद जर्मनी में ही मिलते हैं। जापान के कुछ विद्वान भी पढते होंगे। रूस-अमेरिका वाले भी शायद पढते हों। हमारे यहाँ के आधुनिक विद्वानों में तो सस्कृत में कोई विशेष लिखना-पढना नहीं होता। हजार-पाच सौ सस्कृत जानने वाले पडित शायद बचे हों इधर-उधर। लेकिन यह सम्भव है कि पारम्परिक विद्याधाराओं से जुडे परिवारों में चार-छह लाख लोग अभी भी सस्कृत समझ व पढ सकते हों।

सुबह आकाशवाणी पर सस्कृत में जो समाचार आते हैं उन्हें सुनने-समझने वाले भी शायद ज्यादा नहीं है। मैंने श्री रगनाथ रामचद्र दिवाकर से एक बार पूछा था कि इन समाचारों को सुनने वाले दस लाख लोग होंगे क्या ? वे बुजुर्ग थे विद्वान थे लम्बे समय तक जनजीवन में रहे थे। उनका कहना था कि नहीं इतने लोग तो नहीं सुनते होंगे। पीछले दिनों तमिल पत्र दिनमणी' के पूर्व सम्पादक और वयोवृद्ध विद्वान श्री शिवरमण से भेंट हुई। उनसे मैंने पूछा कि दक्षिण में तो सस्कृत पढने-पढाने की परम्परा रही है यहा ठीक से सस्कृत जानने वाले कितने होंगे ? कितने होंगे जो बिना रुके सस्कृत पढ लिख बोल सकते हों ? उनका कहना था कि एक भी नहीं। फिर कहने लगे हो सकता है हजारेक लोग निकल आए जो अच्छी सस्कृत जानते हों। इससे ज्यादा तो नहीं।

तो अपने देश में अगर सस्कृत की यह अवस्था है सस्कृत यहा रही ही नहीं सस्कृत जानने वाले ही नहीं रहे तो अपने चित्त व काल की रूपरेखा बनाने के लिए हम सस्कृत के लौट आने की प्रतीक्षा तो नहीं कर सकते। जिस अवस्था में हम हैं वहीं से चलना पडेगा। जो भाषाए हमें आती हैं उन्हीं के माध्यम से कुछ जानना पडेगा। विद्वत्ता का शायद यह तरीका न होता हो। पर अभी आवश्यकता प्रकाड विद्वत्ता की नहीं किसी

प्रकार इस भटकाव से बाहर निकलने की है। अपनी कोई दिशा ढूंढने की है। स्थिर होकर खड़े होने और अपने ढंग से विश्व को समझने के लिए धरातल तैयार करने की है। यह धरातल तैयार हो जाएगा तो प्रकाण्ड विद्वत्ता के लिए भी रास्ते निकल आएंगे। संस्कृत पढ़ने सीखने का कोई भी सुभीता हो जाएगा। उस सबके लिए समय है। पर अपना धरातल ढूंढने के काम को पूरा करने के लिए तो बहुत समय अपने पास नहीं है। कितनी देर तक एक पूरी सभ्यता अधर में लटकी खड़ी रह सकती है?

३ महत्त्व सही जवाब का नही, सही सवाल का है

हमारे पैरों के नीचे अपनी कोई जमीन नहीं है। अपने चित्त व काल का अपना कोई चित्र नहीं है। अपनी कोई विश्वदृष्टि नहीं है। इसलिए ठीक-ठाक चलने वाले समाजों के लोग जो बातें सहज ही जान जाते हैं वही बातें हमें भूलभुलैया में डाले रखती हैं। राज समाज व व्यक्ति के आपसी सम्बन्ध क्या होते हैं? किन किन क्षेत्रों मे इनमें किस किसकी प्रधानता होती है? व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सम्बन्धों के आधार क्या हैं? शील क्या होता है? शिष्ट आचरण क्या होता है? शिक्षा क्या होती है? सौंदर्य क्या होता है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न हैं जिनके उत्तर एक स्वस्थ समाज में किसी को खोजने नहीं पड़ते। अपने चित्त व काल के अनुरूप चल रहे समाजों में ये सब बातें अपने आप परिभाषित होती चली जाती हैं। पर हम क्योंकि अपने मानस व काल की समझ खो बैठे हैं अपनी परम्परा के साथ जुड़े रहने की कला भूल गए हैं इसलिए ऐसे सभी प्रश्न हमारे लिए सतत खुले पड़े हैं। देश के साधारण लोगों मे सही चिन्तन व सही व्यवहार का कोई सहज विवेक शायद अभी भी बचा ही होगा। लेकिन उन लोगो में भी अब अक्सर दुविधा ही दिखाई देती है। पर अपने भद्र समाज में तो हर स्थान पर हर सन्दर्भ में विस्मृति और भ्रान्ति जैसी स्थिति बनी हुई है। सही गलत का जैसे कोई विवेक ही न बचा हो।

मुझे कुछ साल पुरानी एक घटना याद आ रही है। तब आंध्रप्रदेश के उस समय के राज्यपाल शृंगेरी के शकराचार्य से मिलने गए थे। बातचीत में वर्णव्यवस्था का कोई सन्दर्भ आया होगा और शृंगेरी के आचार्य इस व्यवस्था के विषय में कुछ बताने लगे होंगे। इस पर राज्यपाल ने आचार्य से कहा कि वर्णव्यवस्था की बात तो आप मत ही करें। शृंगेरी के शकराचार्य यह सुनकर चुप हो गए। बाद में वे अपने अनुज आचार्य से बोले कि देखो कैसा समय आ गया है? वर्ण पर अब बात भी नहीं की जा सकती।

यह कैसी विचित्र घटना है? बात वर्णव्यवस्था के सही या गलत होने की नहीं थी। लेकिन राज्यपाल का इस विषय पर चर्चा ही वर्जित करना तो अजीब है। अपनी परम्परा और अपने मानस को समझने वाले किसी समाज में इस तरह की बातचीत की

कल्पना भी नहीं की जा सकती। राज्यपाल इतना भी नहीं समझते थे कि समाज संरचना के बारे में धर्माचार्यों को अपने मन की बात कहने से रोका नहीं जाता। और शृंगेरी आचार्य शायद भूल गए थे कि वे किसी राज्य के प्रति उत्तरदायी नहीं है। उनका उत्तरदायित्व तो अपनी परम्परा और अपने समाज तक ही सीमित है। अपनी परम्परा और अपने समाज के चित्त को अपनी समझ के अनुसार अभिव्यक्त करते रहना उनका कर्तव्य है। वे किसी राज्यपाल को इस अभिव्यक्ति को परिसीमित करने की छूट कैसे दे सकते हैं ?

आचार-व्यवहार में सहज विवेक न रख पाने के बहुत से प्रसंग मिलेंगे। श्री पुरुषोत्तम दास टंडन देश के बहुत बड़े और विद्वान नेता थे। स्वराज की लड़ाई में उनकी भागीदारी किसी और से कम नहीं थी। अहिंसा में उनका अटूट विश्वास था। और अहिंसापालन की दृष्टि से वे किसी मोची के हाथ के गढ़े चमड़े के जूते पहनने की बजाय बाटा के बने रबड़ के जूते पहनते थे। इसी विचार के और बहुत से लोग रहे होंगे। अब जीवहत्या के बारे में इतना सजग रहने की बात तो निश्चित ही बड़ी है। पर अहिंसा केवल जीवहत्या के निरोध का सिद्धांत तो नहीं है। अहिंसा एक व्यापक जीवनदृष्टि का अंग है। और उस जीवनदृष्टि के अनुसार अपनी आवश्यकताओं को घटाते जाना और जो घटाई न जा सकें उन सभी आवश्यकताओं को अपने आस पड़ोस के परिवेश से ही पूरा कर लेना भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना जीवहत्या से बचना। इसीलिए महात्मा गांधी के लिए अहिंसा और स्वदेशी के सिद्धांत एक ही थे। अपने पड़ोस के मोची को छोड़कर बाटा वालों से रबड़ का जूता बनवाने की बात तो अहिंसा और स्वदेशी वाली इस जीवनदृष्टि के न तत्त्व बोध से मेल खाएगी न सौंदर्य बोध से ही।

ग्रामोद्योगों और खादी को बढ़ावा देने के लिए हजारों मील दूर बना विशेष सामान बरतने कि जो प्रवृत्ति हमारे कुछ भद्र लोगों में आजकल चली है वह भी किसी भी बात के सनातन तत्त्व और समयसापेक्ष बाह्य स्वरूप में विवेक न कर पाने का ही उदाहरण है। खादी और ग्रामोद्योग आदि तो स्वदेशी के भाव के बाह्य उपकरण मात्र थे। मूल बात तो समाज की जरूरतों को आस-पड़ोस के साधनों और क्षमताओं के माध्यम से पूरा कर लेने की वृत्ति की थी। वह वृत्ति स्वदेशी का तत्त्व था। उस तत्त्व को छोड़ हम केवल उपकरणों की पूजा में लग गए हैं।

पर ये तो शायद व्यक्तिगत आचरण भर की बातें हैं। इन बातों में व्यक्तियों से भूल हो जाती होगी। पर हम तो शिक्षा जैसे सामूहिक विवेक के विषय में भी ऐसे भूले हुए दिखते हैं। अभी पिछले दिनों सारनाथ में एक गोष्ठी हुई थी। उस गोष्ठी में अनेक विद्वान

इकट्ठे हुए थे। विश्वविद्यालयों के कुलपति थे दर्शनशास्त्र के ऊचे प्रोफेसर थे बडे बडे साहित्यकार थे। ये सब शिक्षा के विषय पर विचार करने के लिए वहा पहुचे थे। सुन्दर जगह थी। सारनाथ में बौद्ध ज्ञान का एक बहुत बडा सस्थान है तिब्बतन इस्टीट्यूट। उसी सस्थान में यह गोष्ठी हो रही थी। और सस्थान के निदेशक सम्धोंग रिन पो-छे जो स्वय बहुत उचे विद्वान हैं वे भी गोष्ठी में बराबर बैठे थे (तिब्बत में सबसे बडे आचार्य रिन पो छे कहलाते हैं दलाईलामा भी।)

गोष्ठी के प्रारम्भ में ही यह प्रश्न उठा कि जिसे हम शिक्षा कहते हैं उसकी कोई परिभाषा है क्या ? मैंने ही प्रश्न उठाया कि हम किसे शिक्षा कहते हैं ? लिखने-पढने की कला ही शिक्षा है क्या ? या कुछ और है ? उस समय तो इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिला। पर बाद में चौथे दिन गोष्ठी के समाप्त होने से कुछ ही पहले श्री सम्धोंग रिन-पो छे से बोलने के लिए कहा गया तो वे इस प्रश्न की ओर मुडे। उन्होंने कहा कि इस गोष्ठी में चार दिन जो बातें होती रही हैं उन्हें मैं तो कुछ समझ नहीं पाया क्योंकि मै तो इस एजूकेशन' शब्द का अर्थ ही नहीं जानता। वैसे अग्रेजी मुझे ज्यादा आती भी नहीं। हा शिक्षा' शब्द को तो में समझता हू। और हमारे यहा इस शब्द का अर्थ प्रज्ञा शील और समाधि के ज्ञान से होता है। इन तीनों को जानना शिक्षा है बाकी जो तकनीकें हैं भौतिक विज्ञान है शिल्प और कलाए आदि है वे शिक्षा में नहीं आती। वे कुछ दूसरी चीजें है। उन्हें हमारे यहा शिक्षा नहीं माना जाता।

शिक्षा की यह परिभाषा यदि सही है यदि प्रज्ञा शील और समाधि के ज्ञान को ही अपने यहा शिक्षा माना गया है तो इसे तो समझना पडेगा न। और यह भी देखना पडेगा कि इस दृष्टि से हमारे यहा कितने लोग शिक्षित हैं। हो सकता है बहुत नहीं हों। हो सकता है केवल आधा प्रतिशत लोग ही प्रज्ञा शील और समाधि में शिक्षित हों या शायद पाच प्रतिशत तक ऐसे लोग निकल आए। लेकिन मान लिजिए कि आधा प्रतिशत ही शिक्षा की इस परिभाषा की कसौटी पर शिक्षित निकलते हैं। पर ये आधा प्रतिशत भी बाकी ससार में प्रज्ञा शील और समाधि को जानने वालों के मुकाबले पाच-दस गुना अधिक बैठते होंगे। शिक्षा की अपनी इस मान्यता के अनुसार हम विश्व के सबसे अधिक शिक्षित लोगों मे से होंगे।

या फिर प्रज्ञा शील और समाधि के ज्ञान को हम शिक्षा नहीं मानते। शायद आचरण और व्यवहार की कला को जीविका चला पाने की क्षमता को हम शिक्षा मानते हैं। उस दृष्टि से देखें तो भारत के ९०-९५ प्रतिशत लोग शिक्षित ही निकलेंगे। और अधिक भी शिक्षित हो सकते हैं। पर हो सकता है कि इस दृष्टि से देखने पर हम जैसे ५

प्रतिशत लोग कुछ अशिक्षित ही निकले। क्योंकि हम जैसों को तो न आचरण आता है न व्यवहार आता है न जीविका चलाने की कोई कला आती है।

लेकिन शायद हम आचरण व्यवहार और काम धंधे चलाने की क्षमता को भी शिक्षा नहीं मानते। अक्षर ज्ञान को ही शिक्षा मानते हैं और उस दृष्टि से देखकर पाते हैं कि भारत के ६० ७० या ८० प्रतिशत लोग अशिक्षित ही हैं। लेकिन शिक्षा के माध्यम से कैसा अक्षरज्ञान हम लोगों तक पहुचाना चाहते हैं ?

मान लिजिए किसी को खाली भोजपुरी ही लिखनी पढ़नी आती है। उसे हम शिक्षित मानेगे या अशिक्षित। शायद वह हमें अशिक्षित ही दिखाई देगा। हम कहेंगे कि भई इसे अक्षर ज्ञान तो है पर भोजपुरी का अक्षरज्ञान तो कोई अक्षरज्ञान न हुआ। इसे तो अच्छी नागरी हिन्दी भी नहीं आती। नागरी हिन्दी न आए तब तक हम इसे शिक्षित कैसे मान लें ?

पर फिर कोई कहेगा कि खाली नागरी हिन्दी से भी क्या होता है अच्छी सस्कृत आनी चाहिए। कोई और कहेगा कि सस्कृत से भी कैसे चलेगा ? अग्रेजी आनी चाहिए, और वह भी शेक्सपीयर वाली ही आनी चाहिए। या आक्सफोर्ड में अग्रेजी पढ़ाई जाती है या बीबीसी पर जो बोली जाती है वही अग्रेजी आनी चाहिए। फिर कोई कहेगा की हा वैसी अग्रेजी तो इसे आती है। पर अमेरिका में यह अंग्रेजी बेकार है। अमेरिका वालों की तो अग्रेजी दूसरी है और आज ससार मे जो चल रही है वह तो अमेरिकी अग्रेजी है। वह इसे नहीं आती तो इसे अक्षरज्ञान तो नहीं हुआ ठीक से। इसे शिक्षित मान लें ?

इस सबके बाद जब हममें से कुछ अमेरिकी अग्रेजी सीख जाएगे तो कोई और कहेगा भई अब तो अमेरिका वालों के दिन भी लद गए। अब तो किसी और के दिन आ रहे हैं। शायद जर्मनीवालों के आ रहे हो या शायद रूसियों के ही आ रहे हों। हो सकता है अफ्रीकावालों में से किसी के दिन आ जाए। या अरबों के ही आ जाए। तब हम कहेंगे कि उनकी भाषा है उसका अक्षरज्ञान हो तो हम अपने लोगों को शिक्षित मानेगे। उसके बिना तो हम सब अशिक्षित ही हैं।

यह हम किस चक्कर में फस गए हैं ? इस तरह दुनिया की बहती हवाओं के साथ झुक-झुककर हम कहां पहुचेंगे ? हमें इस चक्कर से निकलना है तो अपना कोई स्थिर धरातल खोजना पड़ेगा। अपने चित्त व काल को समझकर अपने साहित्य की सम्पूर्णता का अनुमान सा लगाकर एक सैद्धातिक ढाचा तो हमें बनाना ही पड़ेगा ताकि सही-गलत के विवेक का कोई आधार हमें मिल पाए। आचरण की व्यवहार की और रोजमर्रा के विभिन्न सम्बन्धों की कुछ सहज परिभाषाए हो पाए । अपने हिसाब से चल निकलने

का कोई रास्ता निकल आए।

हो सकता है कि जो सैद्धातिक ढाचा हम बनाएगे वह बहुत सही या बहुत टिकाऊ नहीं होगा। शायद पाच-सात साल में उसे बदलना पड़ेगा। पर सैद्धातिक ढाचे तो सब ऐसे ही होते हैं। ये सब तो व्यक्ति के अपने उपक्रम है परमात्मा के दिए सनातन सत्य जैसे तो ये नहीं हो सकते। सैद्धातिक ढाचे दुरुस्त होते रहते हैं बदलते रहते हैं। भौतिक विज्ञान के मूल सिद्धात बदल जाते हैं राजनीति विज्ञान की मौलिक परिभाषाए बदल जाती हैं दर्शनशास्त्र की दिशा बदल जाती है। इस सब में सनातन तो कुछ नहीं होता। और कुछ सनातन होता है सैद्धातिक ढाचे के आधार में कुछ मूलभूत सत्य होता है तो वह सनातन सत्य ढाचे के बदल जाने से प्रभावित नहीं हुआ करता। वह तो रह ही जाता है। पर ससार के काम अस्थायी काम चलाउ सैद्धातिक ढाचो के आधार पर ही चला करते हैं। वैसा ही एक कामचलाऊ ढाचा हमें अपने चित्त व काल की अपनी समझ का भी बना लेना है।

और यह काम हमें स्वय ही करना पड़ेगा। बाहर वाले आकर हमे ऐसा कोई ढाचा बनाकर नहीं दे सकते जो हमारे सहज चित्त व काल के अनुरूप बैठता हो। वे चाहते हों तो भी यह काम नहीं कर पाएगे। ये काम तो यहीं के लोगों के करने के हैं।

भारत के सनातन सत्य का कोई छोर पकड़ लाने की बात मैं नहीं कर रहा। बात तो कोई ऐसा धरातल तैयार करने ही है जहा खड़े होकर सही प्रश्न पूछे जा सकें। प्रश्न उठने लगेगे तो उत्तर भी निकलते आएगे। या शायद उत्तर नहीं मिलेंगे। पर प्रश्नों के उठने से सही रास्ते का कुछ विवेक तो होने लगेगा। सामान्य आचार व्यवहार में भ्रान्ति की स्थिति तो नहीं रहेगी।

मद्रास के श्री शिवरमण तो कहते हैं कि प्रश्न पूछते जाना ही भारतीय सत्य साधना का मूल है। उनका मानना है कि उपनिषदों में उत्तर तो कोई बहुत ठीक नहीं हैं पर प्रश्न बहुत बड़े हैं। स्मृतियों में भी उनका कहना है कि प्रश्न बहुत ऊचे हैं। और फिर अपने सभी प्राचीन ग्रन्थों में प्रश्नोत्तर के माध्यम से ही तो सब कुछ कहा जाता है।

वाल्मीकि रामायण मे एक प्रसग है। रामचद्रजी जब चित्रकूट से आगे बढ़ते हैं तो रास्ते मे खूब अस्त्र शस्त्रो से लैस होते चले जाते हैं। तब सीता उन्हें कहती हैं कि यह क्या हो गया है आपको ? वन मे तो ऐसे नहीं रहा जाता। आप तो हिंसा की ओर बढ़ते दिखाई दे रहे हैं। यह तो अच्छा नहीं है। रामचद्रजी सीता की बात का कुछ जवाब जरूर देते हैं। पर वह कच्चा सा जवाब है। महत्त्व सीताजी के प्रश्न का ही है। उत्तर का नहीं। बात हिंसा अहिंसा की वृत्तियों पर और अनेक सही सन्दर्भों पर चिन्तन करने की है

किसी अन्तिम समाधान पर पहुचने की नहीं।

ऐसे ही नारदपुराण में महर्षि भरद्वाज और भृगु के बीच एक सवाद है। भरद्वाज पूछते हैं कि आपके अनुसार चतुर्वर्ण व्यवस्था में एक वर्ण दूसरे वर्ण से सर्वथा भिन्न होता है। पर इस भिन्नता का आधार क्या है? टट्टी पेशाब और पसीना तो सभी को आता है। रक्त पित्त और कफ आदि भी सभी के शरीर में एवे रहते हैं। फिर उनमें भिन्नता कैसी है? भृगु कहते हैं कि आरम्भ में तो सभी एक ही वर्ण के थे। फिर अपने अपने कर्मों से वे भिन्न होते गए। फिर भरद्वाज पूछते हैं कि कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य या शूद्र कैसे बनता है? भृगु कहते हैं कि कर्मों और गुणों से ही इस प्रश्न का निर्णय होता है। और इस तरह सवाद चलता रहता है।

यहा भी प्रश्न का कोई अन्तिम समाधान नहीं हुआ। पर समाज सरचना के बारे में प्रश्न पूछते रहने इस विषय पर चिन्तन करते रहने और समय व सदर्भ के अनुरूप कुछ स्थायी-अस्थायी समाधान निकालते रहने का यह तरीका ही शायद भारतीय तरीका है। इसमें महत्त्व सही सनातन उत्तर पाने का नहीं सही सटीक प्रश्न उठाने का है। प्रश्न उठाते रहने के उस तरीके को हमने कहा खो दिया है? उन बड़े प्रश्नों को उठाना ही हम एक बार फिर शुरू कर दें तो हमारा सहज विवेक लौट ही आएगा।

४ अपने चित्त को समझे बिना हमारा काम नही चलेगा

अपने चित्त मानस व काल का सहज धरातल हमसे छूट गया है। अपने ससार को छोड किन्हीं और के ससार में हम रहने लगे हैं। पर उस दूसरे ससार में जीना हमें आता नहीं। उसमें हम समा नहीं पाते। हमारे बडे बडे राजनेताओं से विद्वानों से और व्यापारियों आदि से भी यह नहीं हो पाता कि वे दूसरों के उस ससार में रच-पच जाए। प्रयास वे अवश्य करते हैं और उस प्रयास में वे प्राय असफल होते हैं क्योंकि जिस ससार में वे समाना चाहते हैं वह उनका है ही नहीं। उस ससार की कोई ठीक समझ भी उन्हें नहीं हो सकती।

अपने ससार में लौटे बिना अपने सहज चित्त मानस व काल के धरातल को ढूढे बिना अपना काम चलने वाला नहीं है। भारतीय चित्त में जो अकित है और उसका काल के साथ जो सम्बन्ध है वह भारतीय सभ्यता में कई प्रकार से अभिव्यक्त हुआ होगा। उन अभिव्यक्तियों को देखने-समझने से अपने चित्त व काल का कुछ चित्र सो उभरेगा। भारतीय सभ्यता का जो पुराना साहित्य है उसे भी भारतीय चित्त व काल की एक अभिव्यक्ति के रूप में ही देखा जाना चाहिए। उस साहित्य में शायद भारतीयता की सहज भारतीय चित्त व काल की बहुत विशद झलक मिल जाए।

यह सही है कि भारतीय साहित्य में जो है वह सब का सब सीधे चित्त व काल के स्वरूप से सम्बन्धित नहीं होगा। इस विशाल साहित्य में अनेक विषयों पर अनेक प्रकार की बाते है। पर वे सब बातें भारतीय चित्त व काल के सहज धरातल से ससार की भारतीय समझ के अनुरूप और भारतीय मुहावरे में ही की गई होंगी। फिर जो बातें इस साहित्य में बहुत मौलिक दिखाई देती हैं जो सारे कथ्य का आधार सी लगती हैं और जो विभिन्न प्रकार के साहित्य में बार बार दोहरायी जाती हैं वे बातें तो शायद भारतीय चित्त व काल की सहज वृत्तियों की परिचायक ही होंगी।

जैसे पुराणो में सृष्टि के सर्जन और विकास की कथा है। उसका तो भारतीय चित्त व काल के साथ सीधा सम्बन्ध दिखाई देता है। वैसे हर सभ्यता की सृष्टि की

अपनी एक गाथा होती है और वह गाथा शायद उस सभ्यता की मूल वृत्तियों को बहुत गहराई से प्रभावित किया करती है। आदम और हव्वा की कथा उनका ज्ञान के वृक्ष के फल को खा स्वर्ग से निष्कासित होना और फिर ज्ञान के ही माध्यम से निरन्तर उसी स्वर्ग को रचते जाना उसकी ओर आगे ही आगे बढ़ते जाना-यह पश्चिमी गाथा शायद वहां की सारी सोच-समझ को प्रभावित किए रहती है। वहां के सारे साहित्य में और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान व तकनीक आदि में भी उनकी सृष्टि की इस गाथा की झलक देखी जा सकती है।

पुराणों में सृष्टि की जो गाथा गाई गई है वह तो अपने आप में बहुत सशक्त है। इस गाथा के अनुसार ब्रह्म के तप व सकल्प से सृष्टि का सर्जन होता है और फिर यह अनेकानेक आवर्तनो से होती हुई वापस ब्रह्म में लीन हो जाती है। ब्रह्म से सर्जन और ब्रह्म में प्रलय यह बड़ा आवर्तन एक निश्चित कालक्रम के अनुरूप दोहराया जाता रहता है। पर प्रत्येक बड़े आवर्तन के भीतर अनेक छोटे आवर्तन-प्रत्यावर्तन होते रहते हैं बार बार सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश होते रहते हैं। 'उत्पत्ति'और विनाश' शब्द शायद इस सन्दर्भ में उपयुक्त नहीं हैं। क्योंकि ब्रह्म सृष्टि का सर्जन करते हुए अपने से बाहर किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं करते हैं वे तो स्वय सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। ब्रह्म की वह अभिव्यक्ति ही सृष्टि है और उस अभिव्यक्ति का सकुचन ही प्रलय है। ब्रह्म के व्यास और सकुचन की ही यह सब लीला है। इसके अतिरिक्त न किसी वस्तु या भाव की उत्पत्ति होती है न विनाश। ब्रह्म की इस लीला का जो सुव्यवस्थित कालक्रम दिया गया है उसकी जानकारी शायद बहुतों को न हो। पर ब्रह्म की यह लीला अनादि और अनन्त है यह विचार प्राय भारतीयों के चित्त में रहता ही है।

सृष्टि और प्रलय के आवर्तनों की इस लीला में आवर्तन का मौलिक कालाश चतुर्युग है। सृष्टि का प्रत्येक आवर्तन कृत युग से आरम्भ होता है। और सृष्टि का यह आरम्भिक काल आनन्द का काल है। इस युग में जीव शायद अभी ब्रह्म से बहुत दूर नहीं हुआ है। जीव जीव में तो कोई भिन्नता है ही नहीं। सभी एक वर्ण हैं। या वर्ण की अभी बात ही नहीं है।

इस युग में सृष्टि अभी बहुत सहज रूप में है। कहीं कोई जटिलता नहीं है। मद मोह लोभ अहकार जैसे भाव उत्पन्न ही नहीं हुए। 'काम' भी नहीं है। सन्तानोत्पत्ति मात्र सकल्प से ही होती है। जीवन की आवश्यकताए बहुत कम हैं। जीवन चलाने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। 'मधु' पीकर ही सब जीवित रहते हैं। यह मधु' भी सहज प्राप्य है। मधुमक्खियों के प्रयत्न से बना मधु यह नहीं है। इस सहज

आनन्दमयी सृष्टि में ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं है। इसलिए वेद भी अभी नहीं हैं।

आनन्द का यह युग बहुत लम्बे समय तक चलता है। पौराणिक गणना के अनुसार कृत का काल १७ २८ ००० बरस का है। पर समय के साथ सृष्टि जटिल होती चली जाती है। सहज व्यवस्था में गडबड होने लगती है। धर्म की हानि होने लगती है। कृत युग में ही कर्ता के विभिन्न अशावतारों को आकर सृष्टि में धर्म की पुनर्स्थापना के प्रयास करने पड़ते हैं। विष्णु के भी अवतार होते हैं। और कृत युग में ही धर्म की हानि और उसकी पुनर्स्थापना का क्रम कई बार दोहराया जाता है। पर लगता है कि धर्म की ग्लानि और उसके पुन प्रतिष्ठापन के हर क्रम के बाद सृष्टि पहले से कुछ अधिक जटिल होती जाती है आनन्द की मूल स्थिति से कुछ और दूर हटती जाती है जीवन में कुछ और गिरावट आती जाती है। और इस तरह चलते चलते कृत का अन्त होता है और त्रेता का आरम्भ।

त्रेता में सृष्टि उतनी सहज नहीं रह जाती जितनी कृत में थी। कृत में धर्म चार पावो पर स्थिरता से टिका था। त्रेता मे उसके तीन ही पाव रह जाते हैं। अपेक्षाकृत अस्थिरता की इस स्थिति में धर्म पर टिके रहने के लिए मानव को एक राजा और एक वेद की प्राप्ति होती है। मद मोह लोभ अहकार आदि जैसे मनोविकारों की उत्पत्ति भी इसी समय होती है। पर अभी ये विकार प्राथमिक अवस्था में ही हैं और उन्हें आसानी से नियन्त्रित किया जा सकता है।

त्रेता में जीवन की आवश्यकताए बढने लगती हैं। मात्र मधु' से अब काम नहीं चलता। पर कृषि अभी नहीं होती। हल चलाने बीज बोने निराई-गुडाई आदि जैसी क्रियाओं की अभी जरूरत नहीं। अपने आप कुछ अनाज पैदा होता है। उस अनाज से और वृक्षों के फलों और मेवों आदि से जीवन चलता है। वृक्षों की भी बहुत जातिया नहीं है। कुछ गिनी-चुनी वनस्पतिया और वृक्ष ही अभी सृष्टि में पाये जाते हैं।

सीमित आवश्यकताओं के इस युग में मानव कुछ कला कौशल व तकनीकें सीखने लगता है। सहज पैदा होने वाले अनाज और फलों आदि को एकत्रित करने के लिए कुछ कला-कौशल चाहिए। फिर घर-बार गाव और नगर आदि बनने लगते हैं। इनके लिए और कलाओं व तकनीकों की आवश्यकता हुई होगी।

सृष्टि की इस बढ़ती जटिलता के साथ जीव जीव में विभिन्नता आने लगती है। त्रेता में मानव तीन वर्णों में बट जाता है। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों त्रेता में उपस्थित हैं। पर शूद्र अभी नहीं बने। इस विभिन्नता और विभाजन के कारण भी जीव जीव के बीच मे सवाद व सम्पर्क में कोई व्यवधान अभी नहीं दीखता। मानव और अन्य

जीवों के बीच भी सवाद चलता रहता है। वाल्मीकि रामायण मे वर्णित घटनाए त्रेता के अन्त में घटती हैं। श्री राम का वानरों भालुओं और पक्षियों आदि को अपनी सहायता के लिए बुलाना और उनका श्रीराम के साथ मिलकर महाबली और प्रकाण्ड विद्वान रावण की बहुसख्य सेनाओं को हराना इस बात का परिचायक है कि त्रेता के अन्त तक मानव और अन्य जीवों मे सवाद टूटा नहीं है। जीव जीव में विभिन्नता आई है पर वह इतनी गहरी है कि सवाद व सम्पर्क की स्थिति ही न रहे।

त्रेता युग भी बहुत लम्बी अवधि तक चलता है। पर त्रेता का काल कृत के काल का तीन चौथाई ही है। कुछ ग्रन्थों के अनुसार श्रीराम के स्वर्गारोहण के साथ ही त्रेता का अन्त होकर द्वापर का प्रादुर्भाव होता है। भारतीय दृष्टि से जिसे इतिहास कहा जाता है उसका आरम्भ भी द्वापर से ही होता दीखता है।

द्वापर में सृष्टि कृत युग की सहजता से बहुत दूर निकल चुकी है। सभी जीवों और भावों में विभिन्नता आने लगती है। त्रेता का एक वेद अब चार में विभाजित हो जाता है और फिर इन चार की भी अनेक शाखाए बन जाती हैं। इसी युग में विभिन्न विद्याओं और विधाओं की उत्पत्ति होती है। ज्ञान का विभाजन होता है। अनेक शास्त्र बन जाते हैं।

सृष्टि की इस जटिलता में जीवन यापन के लिए अनेक कलाओं और तकनीकों की जरूरत पड़ती है। अनेक प्रकार के शिल्प आते हैं। खेती भी अब सहज नहीं रहती। अनाज पैदा करने के लिए अब अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। और इन विविध शिल्पों और कलाओ को वहन करने के लिए ही शायद शूद्र वर्ण बनता है। इस तरह द्वापर में चार वर्ण हो जाते हैं।

द्वापर एक प्रकार से राजाओं का ही युग दिखता है। कुछ लोग तो द्वापर का प्रारम्भ श्रीराम के अयोध्या के राजसिहासन पर बैठने के समय से ही मानते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में और दूसरे पुराणों में राजाओं की जो अनेक कथाए है उनका सम्बन्ध द्वापर से ही दिखता है। त्रेता की घटनाए वे नहीं लगती। राजाओं की इन कथाओं मे चित्रित वातावरण रामायण की कथा के वातावरण से एकदम भिन्न है। रामायण में धर्म का ही साम्राज्य है। पर द्वापर के राजा लोग तो क्षत्रियोचित आवेश में ही लिप्त हैं। उनमें अपार ईर्ष्या और लोभ है। क्रूरता उनके स्वभाव में निहित है। इसीलिए शायद यह माना गया है कि द्वापर में धर्म के केवल दो ही पाव बचे रहते हैं और उन दो पावो पर खड़ा धर्म डावाडोल रहता है।

धर्म की हानि और क्षत्रियों की ईर्ष्या लोभ व क्रूरता के इस सन्दर्भ में ही पृथ्वी

विष्णु से जाकर प्रार्थना करती है कि इतना अधिक बोझ अब उससे सहा नहीं जाता और इस बोझ को हल्का करने का कोई उपाय होना चाहिए। तब विष्णु श्रीकृष्ण और श्री बलराम के रूप मे अंशावतार लेते है। उनकी सहायता के लिए अनेक दूसरे देवों के विभिन्न रूपों में अवतरण का आयोजन होता है। इस सारे आयोजन के बाद महाभारत का युद्ध होता है। उस युद्ध में धर्म की अधर्म पर विजय होती है ऐसा सामान्यत माना जाता है। पर इस विजय के बावजूद कलियुग का आना रुक नहीं पाता। महाभारत के युद्ध के कुछ ही सालों में श्रीकृष्ण और उनके वंशज यादवों का अन्त हो जाता है। यही समय कलियुग के आरम्भ होने का माना जाता है। श्रीकृष्ण के अवसान की बात सुन पाण्डव द्रौपदी सहित अपने जीवन का अन्त करने के लिए हिमालय पर चले जाते हैं। उनका पोता परीक्षित महाभारत युद्ध में हुए सर्वनाश से किसी तरह बच गया था। वह भी कुछ ही सालों में सर्पविष से मारा जाता है। परीक्षित कलियुग का पहला राजा कहा गया है।

पौराणिक गणना के अनुसार श्रीकृष्ण के अवसान के साथ द्वापर का अन्त होकर कलियुग आरम्भ होता है। द्वापर की अवधि कृत युग की अवधि से आधी ही है। कहा जाता है कि महाभारत का युद्ध द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ से ३६ साल पहले हुआ। आज की विश्वसनीय मानी जाने वाली गणनाओं से वर्तमान समय कलि का ५०९२ वा साल बैठता है। यह कलियुग की शुरुआत ही है। बाकी तीन युगों की तरह कलियुग की अवधि भी बहुत लम्बी है चाहे यह कृत की अवधि का एक चौथाई ही है। कलियुग को कुल ४ ३२ ००० साल तक चलना है ऐसा कहा गया है।

कलियुग का मुख्य लक्षण यह है कि इसमें धर्म एक पाव पर टिका रहता है। धर्म की स्थिति द्वापर में ही डावाडोल-सी रहती है। अब धर्म का सन्तुलन नितान्त अस्थिर हो जाता है। कलियुग में सृष्टि कृत के सहज भेदभाव विहीन आनन्दमय काल से बहुत दूर निकल जटिलता विभिन्नता और विभाजन के चरम की ओर अग्रसर होती है। जीवन यापन इस युग में एक कठिन कला-सा बन जाता है। उसमें पहले युगों वाली कोई सहजता नहीं रहती। पर इस कठिन युग में जीव मात्र के लिए धर्म का मार्ग कुछ आसान कर दिया जाता है। जो पुण्य दूसरे युगों में अनेक तप करने पर मिलता है वैसा पुण्य कलियुग में साधारण अच्छे कामों से ही प्राप्त हो जाता है। यह कलियुग की जटिलता में फसे जीव पर कर्ता की कृपा का परिचायक है। इस प्रावधान से कर्ता की दृष्टि में और कर्ता के साथ सम्बन्धों के सन्दर्भ में जीव के लिए चारों युगों में कुछ सन्तुलन-सा दिया गया है।

यह संक्षेप में भारतीय सृष्टि की कथा है। साधारण भारतीय जन की और उसमें उसके अपने स्थान की समझ इस कथा से ही बनी है। वर्तमान काल को भी वह इस कथा में सन्दर्भ मे ही देखता है। अलग अलग पुराणों में और सामान्य स्तर पर कहने के अलग अलग तरीकों के साथ इस कथा के विस्तृत विवरणों में थोड़ा बहुत अन्तर आता रहता होगा। पर मुख्य कथ्य तो बहुत स्पष्ट है और उसमें शायद कभी कोई बदलाव नहीं आता। इस कथ्य के अनुसार सृष्टि एक बार प्रकट होने के बाद सतत गिरावट की ही ओर जाती है। विभिन्न विद्याएं और विधाए विभिन्न कलाए और शिल्प इत्यादि विभिन्न ज्ञानविज्ञान ये सब सृष्टि की गिरी हुई जटिल अवस्था में जीवन को थोड़ा आसान जरूर बनाते हैं पर ये सृष्टि की दिशा को बदल नहीं सकते। गिरावट की ओर विभाजन की ओर चलते जाने की मूल वृत्ति को तो कर्ता के अशावतार भी नहीं बदल पाते। वे भी सृष्टि की गिरावट की अवस्था में जीवन को सम्भव बनाने धर्म का कुछ सन्तुलन बनाए रखने की व्यवस्था मात्र करते हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण के सारे पराक्रम और महाभारत युद्ध जैसे व्यापक प्रयत्न के बाद भी कलियुग का आना रुक नहीं पाता। हा द्वापर में इकट्ठे हुए सारे बोझ को हटाए बिना कलियुग का आना पृथ्वी के लिए और शायद जीव मात्र के लिए असहनीय ही होता।

सृष्टि की इस कथा का दूसरा मुख्य कथ्य सृष्टि के अनादि अनन्त विस्तार में मानव के प्रयत्न और उसके काल की क्षुद्रता का है। सृष्टि की लीला एक बहुत बडे स्तर पर एक विशाल काल चक्र में चल रही है। इस विशालता मे न कृतयुग के आनन्दभोगी मानव की कोई विशेषता है न कलियुग की जटिलता में फसे मानव की। यह सब तो आता जाता ही रहता है। चतुर्युग का यह आवर्तन हमारे लिए बड़ा दिखता है। पूरे ४३ २० ००० साल इसे पूरा होने में लगते है। पर प्राचीन मान्यता के अनुसार ब्रह्मा के तो एक दिन में ऐसे १००० चतुर्युग होते हैं। एक कल्प के इस एक दिन के बाद ब्रह्मा कल्प भर की रात्रि के लिए विश्राम करते है और फिर एक नया कल्प और १ ००० चतुर्युगों का एक नया दिन आरम्भ हो जाता है। ऐसे ३६० दिन-रात मिलकर ब्रह्मा का एक वर्ष होता है। और ब्रह्मा का जीवन १०० वर्षों तक चलता है। उसके बाद नए ब्रह्मा आकर फिर वही लीला आरम्भ करते हैं। इस विशाल कालचक्र में मानव और उसके जीवन की बिसात क्या है ?

५ हम किसी और के ससार मे रहने लगे है

सृष्टि के अनादि अनन्त प्रवाह में मानव और उसके प्रयत्नों की नितान्त क्षुद्रता का भारतीय भाव आधुनिकता से मेल नहीं खाता। हर नए आवर्तन में सृष्टि के सतत गिरावट की ओर ही बढ़ते जाने की बात भी आधुनिकता की विश्वदृष्टि में जमती नहीं। मानवीय ज्ञानविज्ञान और कलाकौशल आदि का मात्र ऐसे उपायों के रूप में देखा जाना जो सृष्टि की गिरावट वाली अवस्था में जीवनयापन को किंचित सम्भव बनाते हैं यह भाव तो ज्ञानविज्ञान के बारे में आधुनिकता की समझ के बिलकुल विपरीत बैठता है। आधुनिकता की विश्व दृष्टि के अनुसार तो मानव अपने प्रयत्नों से अपने ज्ञानविज्ञान से अपने कलाकौशल व तकनीकों इत्यादि से सृष्टि को निरन्तर बेहतर बनाता चला जाता है ऊपर उठता चला जाता है पृथ्वी पर स्वर्ग की प्रतिछवि का निर्माण करता जाता है।

भारतीय मानस में सृष्टि के विकास के क्रम और उसमें मानवीय प्रयत्न और मानवीय ज्ञानविज्ञान के स्थान की जो छवि अंकित है वह आधुनिकता से इस प्रकार विपरीत है तो इस विषय पर गहन चिन्तन करना पड़ेगा। यहा जो तत्र हम बनाना चाहते है और जिस विकास प्रक्रिया को यहा आरम्भ करना चाहते हैं वह तो तभी यहा जड़ पकड़ पाएगी और उसमें जनसाधारण की भागीदारी तो तभी हो पाएगी जब वह तत्र और विकास प्रक्रिया भारतीय मानस और काल दृष्टि के अनुकूल होगी। इसलिए इस बात पर भी विचार करना पड़ेगा कि व्यवहार में भारतीय मानस पर छाए विचारों और काल की भारतीय समझ के क्या अर्थ निकलते हैं ? किस प्रकार के व्यवहार और व्यवस्थाए उस मानस व काल में सही जचते हैं ? सामान्यत ऐसा माना जाता है कि मानवीय जीवन और मानवीय ज्ञान की क्षुद्रता का जो भाव भारतीय सृष्टिगाथा में स्पष्ट झलकता है वह केवल अकर्मण्यता को ही जन्म दे सकता है। पर यह तो बहुत सतही बात है। किसी भी विश्व व काल दृष्टि का व्यावहारिक पक्ष तो समय सापेक्ष होता है। अलग अलग सन्दर्भो में अलग अलग समय पर उस दृष्टि की अलग अलग व्याख्याए होती जाती हैं। इन व्याख्याओं से मूल चेतना नहीं बदलती पर व्यवहार और व्यवस्थाए बदलती रहती हैं।

और एक ही सभ्यता कभी अकर्मण्यता की ओर और कभी गहन कर्मठता की ओर अग्रसर दिखाई देती है।

भारतीय ऋषिमुनि इत्यादि विभिन्न सन्दर्भो में भारतीय विश्व व काल दृष्टि की विभिन्न व्याख्याए करते ही रहे हैं। भारतीय सभ्यता का मौलिक साहित्य इन व्याख्याओं का भी साहित्य है। इस साहित्य को देख-समझ कर आज के सन्दर्भ में भारतीयता की कोई नई व्याख्या करने की बात भी सोची जा सकती है। भारतीय विश्व व काल दृष्टि के अनुरूप उपयुक्त व्यवहार आज के समय में क्या होगा और उसके लिए उपयुक्त व्यवस्थाए क्या होंगी इस विषय पर विचार तो करना ही पड़ेगा। पर इस विषय पर आने से पहले भारतीय चित्त पर गहराई से अंकित कुछेक और मौलिक भावों की बात कर ली जाए।

ऐसा ही एक मौलिक भाव परा और अपरा विद्याओं में भेद का है। भारतीय परम्परा में किसी समय विद्या और ज्ञान का इन दो धाराओं में विभाजन हुआ है। जो विद्या इस नश्वर सतत परिवर्तनशील लीलामयी सृष्टि से परे के सनातन ब्रह्म की बात करती है उस ब्रह्म से साक्षात्कार का मार्ग दिखाती है वह परा विद्या है। इसके विपरीत जो विद्याए इस सृष्टि के भीतर रहते हुए दैनन्दिन समस्याओं के समाधान का मार्ग बतलाती हैं साधारण जीवन-यापन को सम्भव बनाती हैं वे अपरा विद्याए हैं और ऐसा माना जाता है कि परा विद्या अपरा विद्याओं से ऊची है।

परा और अपरा का यह विभाजन कब हुआ यह तो साफ नहीं है। कृत युग की बात यह नहीं हो सकती। उस समय तो किसी विद्या की आवश्यकता ही नहीं है। वेद ही नहीं है। त्रेता की भी बात शायद यह न हो। क्योंकि त्रेता में एक ही वेद है और उसका कोई विभाजन नहीं हुआ है। त्रेता के अन्त और द्वापर के आरम्भ में जब सृष्टि की बढ़ती जटिलता के साथ साथ अनेकानेक कलाकौशलो और विद्या विद्याओं की आवश्यकता पड़ने लगी उस समय शायद परा-अपरा के इस विभाजन की बात उठी होगी। पर साधारण तौर पर ऐसा माना जाता है कि चारों वेद उनकी विभिन्न शाखाओं और उनसे सम्बन्धित ब्राह्मण उपनिषद आदि परा ज्ञान के स्रोत है। इनसे भिन्न जो पुराण इतिहास आदि हैं और विभिन्न शिल्पों व आयुर्वेद ज्योतिष आदि से सम्बन्धित जो सहिताए हैं वे सब अपरा के भंडार हैं।

वास्तव मे मूल ग्रन्थो के स्तर पर परा और अपरा का विभाजन इतना स्पष्ट नहीं है जितना माना जाता है। उपनिषदों में तो केवल परा ज्ञान की ही बात है पर वेदों में अन्य स्थानों पर ऐसे अनेक प्रसग हैं जो सीधे अपरा से ही सम्बन्धित हैं। ऐसे ही पुराणों

मे ब्रह्म ज्ञान की बातें कम नहीं हैं। फिर व्याकरण जैसी विद्याए तो परा और अपरा दोनों से ही सम्बन्ध रखती हैं। दोनों प्रकार के ज्ञान के सम्प्रेषण के लिए व्याकरण की आवश्यकता रहती है। ज्योतिषशास्त्र भी कुछ सीमा तक परा-अपरा दोनों से सम्बन्धित होगा। पर आयुर्वेद जैसे केवल अपरा से सम्बन्धित विषय की सहिताओं में भी परा की बात तो होती ही है और साधारण स्वास्थ्य की समस्याओं को परा के सन्दर्भ में देखने के प्रयास होते हैं।

इस सबके बावजूद सामान्य भारतीय चित्त में परा और अपरा के बीच की विभाजन रेखा बहुत गहरी दिखती है। साधारण बातचीत में पुराणो का प्रसग आने पर लोग प्राय कह देते है कि इन किस्से-कहानियों को तो हम नहीं मानते हम तो केवल वेदों मे विश्वास रखते हैं। अपरा विद्याए सब निकृष्ट ही है और वास्तविक ज्ञान तो परा ज्ञान ही है ऐसा कुछ भाव भी भारतीय चित्त में बना रहता है। विद्वानों के स्तर पर भी इस प्रकार से बात चलती है जैसे भारतीयता का सम्बन्ध तो केवल परा से ही हो अपरा से उसका कुछ लेना देना ही न हो।

अपरा के प्रति हेयता का भाव शायद भारतीय चित्त का मौलिक भाव नहीं है। मूल बात शायद अपरा की हीनता की नहीं थी। कहा शायद यह गया था कि अपरा में रमते हुए यह भूल नहीं जाना चाहिए कि इस नश्वर सृष्टि से परे सनातन सत्य भी कुछ है। इस सृष्टि में दैनिक जीवन के विभिन्न कार्य करते हुए परा के बारे में चेतन रहना चाहिए। अपरा का सर्वदा परा के आलोक में नियमन करते रहना चाहिए। अपरा विद्या की विभिन्न मूल सहिताओं में कुछ ऐसा ही भाव छाया मिलता है। पर समय पाकर परा से अपरा के नियमन की यह बात अपरा की हेयता में बदल गई है। यह बदलाव कैसे हुआ इस पर तो विचार करना पड़ेगा। और भारतीय मानस व काल के अनुरूप परा और अपरा में सही सम्बन्ध क्या बैठता है इसकी भी कुछ व्याख्या हमें करनी ही पड़ेगी।

इस समय साधारण भारतीय चिन्तन में परा और अपरा के बीच कुछ असन्तुलन सा है। यह असन्तुलन शायद बहुत नया नहीं है। विद्वत्ता के ससार में यह असन्तुलन हो सकता है काफी पहले से चल रहा हो। विद्वत्ता की शायद यह सामान्य प्रवृत्ति ही है कि साधारण जीवन से परे की अमूर्त व गूढ बातें उसमें अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। विद्वत्ता की यह प्रवृत्ति भारतीय सभ्यता के मौलिक साहित्य में भी परिलक्षित होती गई होगी। या शायद अपने यहा ऐसा माना गया हो कि साधारण जीवन को चलाने के लिए जो आवश्यक कला-कौशल-तकनीके आदि होती हैं वे साहित्य की विषयवस्तु नहीं बन सकतीं या शायद हमने ही अपरा वाले ग्रन्थों को खोजने देखने की विशेष चेष्टा नहीं की।

हमारा ही ध्यान भारतीय साहित्य के परा वाले अश पर टिका रहा है।

कारण जो भी हो उपलब्ध साहित्य और साधारण चिन्तन में यह असन्तुलन तो है ही। वही असन्तुलन अन्य अनेक विषयों पर अपने विचारो मे आ गया है। जैसे वर्ण व्यवस्था की बात है। वर्ण व्यवस्था की व्याख्या मे कुछ ऐसा मान लिया गया है कि जो वर्ण परा से सम्बन्धित हैं वे ऊचे हैं और जो अपरा से जुड़े हैं वे नीचे हैं। परा के जो जितना नजदीक है उतना वह ऊचा है और जो अपरा से जितनी गहराई से जुड़ा है उतना वह नीचा है इसलिए वेदाध्ययन वेदपाठ आदि करने वाले ब्राह्मण सबसे ऊंचे हो गए और सामान्य जीवन के लिए आवश्यक विभिन्न विद्याओ कलाओं और शिल्पों का वहन करने वाले शूद्र सबसे नीचे।

पर यह ऊच-नीच वाली बात तो बहुत मौलिक नहीं दिखती। पुराणों में इस बारे मे चर्चा है। एक जगह ऋषि भारद्वाज कहते हैं कि यह ऊच नीच वाली बात कहा से आ गई? मनुष्य तो सब एक से ही लगते हैं वे अलग अलग कैसे हो गए? महात्मा गाधी भी यही कहा करते थे कि वर्णो में किसी को ऊचा और किसी को नीचा मानना तो सही नहीं दिखता। १९२० के आसपास उन्होंने इस विषय पर बहुत लिखा और कहा। पर इस विषय में हमारे विचारों का असन्तुलन जा नहीं पाया। पिछले हजार दो हजार वर्षों में भी इस प्रश्न पर बहस रही होगी। लेकिन स्वस्थ वास्तविक जीवन में तो ऐसा असन्तुलन चल नहीं पाता। मौलिक साहित्य के स्तर पर भी इतना असन्तुलन शायद कभी न रहा हो। यह समस्या तो मुख्यत समय समय पर होने वाली व्याख्याओं की ही दिखती है।

पुरुष सूक्त में यह अवश्य कहा गया है कि ब्रह्मा के पावो से शूद्र उत्पन्न हुए उसकी जघाओं से वैश्य आए भुजाओ से क्षत्रिय आए और सिर से ब्राह्मण आए। इस सूक्त मे ब्रह्म और सृष्टि में एकरूपता की बात तो है। थोड़े में बात कहनेका जो वैदिक ढग है उससे यहा बता दिया गया है कि यह सृष्टि ब्रह्म की ही व्यास है उसी की लीला है। सृष्टि में अनिवार्य विभिन्न कार्यों की बात भी इसमें आ गई है। पर इस सूक्त में यह तो कहीं नहीं आया की शूद्र नीचे है और ब्राह्मण ऊचे हैं। सिर का काम पावो के काम से ऊचा होता है यह तो बाद की व्याख्या लगती है। यह व्याख्या तो उलट भी सकती है। पावो पर ही तो पुरुष धरती पर खड़ा होता है। पाव टिकते हैं तो ऊपर धड भी आता है हाथ भी आते हैं। पाव ही नहीं टिकेंगे तो और भी कुछ नहीं आएगा। पुरुष सूक्त में यह भी नहीं है कि ये चारों वर्ण एक ही समय पर बने। पुराणों की व्याख्या से तो ऐसा लगता है कि आरम्भ में सब एक ही वर्ण थे बाद में काल के अनुसार जैसे जैसे विभिन्न प्रकार की क्षमताओं की आवश्यकता होती गई वैसे वैसे वर्ण विभाजित होते गए।

जैसे परा अपरा की बात के साथ जोड कर पुराणकारों के समय से ही हमने वर्णों में ऊच-नीच का विचार बना लिया है वैसे ही कर्मो मे भी ऊच-नीच की बात आ गई है। एक स्तर पर कर्म फल का विचार भारतीय मानस में बहुत गहरे अकित है। जैसे हम यह मानते हैं कि सृष्टि में जो भी उत्पन्न होता है उसका नाश अवश्य होता है वैसे ही यह माना जाता है कि सृष्टि में होने वाली हर घटना का कोई कारण अवश्य है। कार्मो और उनके फलों की एक शृखला-सी बनती जाती है और उस शृखला के भीतर सब घटनाए घटती हैं।

कर्म और कर्मफल के इस मौलिक सिद्धात का इस विचार से तो कोई सम्बन्ध नहीं की कुछ कर्म अपने आप में निकृष्ट होते हैं और कुछ प्रकार के काम उत्तम। वेदो का उच्चारण करना ऊचा काम होता है और कपडा बुनना नीचा काम यह बात तो परा-अपरा वाले असन्तुलन से ही निकल आई है। और इस बात की अपने यहा इतनी यात्रिक सी व्याख्या होने लगी है कि बडे बडे विद्वान भी दरिद्रता भूखमरी आदि जैसी सामाजिक अव्यवस्थाओं को कर्मफल के नाम पर डाल देते हैं। श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती जैसे जोषीमठ के ऊचे शकराचार्य तक कह दिया करते थे कि दरिद्रता तो कर्मो की बात है। करुणा दया न्याय आदि जैसे भावों को भूल जाना तो कर्मफल के सिद्धात का उद्देश्य नहीं हो सकता। यह तो सही व्याख्या नहीं दिखती।

कर्मफल के सिद्धात का अर्थ तो शायद कुछ और ही है। क्योंकि कर्म तो सब बराबर ही होते हैं। लेकिन जिस भाव से जिस तन्मयता से कोई कर्म किया जाता है वही उसे ऊचा और नीचा बनाता है। वेदों का उच्चारण यदि मन लगाकर ध्यान से किया जाता है तो वह ऊचा कर्म है। उसी तरह मन लगाकर ध्यान से खाना पकाया जाता है तो वह भी ऊचा कर्म है। और भारत में तो ब्राह्मण लोग खाना बनाया ही करते थे। अब भी बनाते है। उनके वेदोच्चारण करने के कर्म में और खाना बनाने में बहुत अन्तर नहीं है। पर वेदोच्चारण ऐसे किया जाए जैसे बेगार काटनी हो या खाना ऐसे बनाया गए जैसे सिर पर पडा कोई भार किसी तरह हटाना हो तो दोनो ही कर्म गडबड हो जाएगे।

इसी तरह दूसरे काम हैं। झाडू देने का काम है। बच्चे पालने का काम है। धोबी का काम है। नाई का काम है। बुनकर का काम है। कुम्हार का काम है। पशुपालन का काम है। जूते बनाने का काम है। ये सभी काम यदि उसी तरह ध्यान से तन्मयता के साथ किए जाते हैं तो ऊचे कर्म बन जाते हैं। उन कामों में ऐसा कुछ नहीं है जो उन्हें स्वभाव से ही निकृष्ट बनाता हो।

इस सन्दर्भ में एक पौराणिक कथा है। एक ऋषि थे। वे पता नहीं कितने वर्षों से एक ही स्थान पर समाधि लगाए तपस्या कर रहे थे। एक दिन अचानक उनकी समाधि टूटी। उन्होंने पाया कि कोई चिड़िया उनके सिर पर बीट कर गई है। तब उन्होंने आखें खोलकर रोष के साथ चिड़िया की ओर देखा। चिड़िया वहीं भस्म हो गई। ऋषि को लगा कि उनकी तपस्या पूरी हो गई है।

उसके बाद वे समाधि से उठे और बस्ती की ओर चल दिए। एक घर का दरवाजा खटखटाया और भिक्षा की गुहार लगाई। गृहिणी शायद अपने काम में व्यस्त थी। उसे दरवाजा खोलनें में कुछ देरी हो गई। इतने में ही ऋषि को रोष होने लगा। जब गृहिणी ने दरवाजा खोला तो वे फिर गुस्से भरी आखो से उसकी ओर देखने लगे। गृहिणी ने कहा महाराज अकारण रुष्ट मत होइए। मैं वह चिड़िया तो नहीं हू।

ऋषि को विचित्र लगा कि इतनी तपस्या के बाद जो सिद्धि उन्हें मिली थी उसका इस साधारण गृहिणी पर तनिक प्रभाव नहीं होता। उल्टा वह स्वय ही उनकी सिद्धि के रहस्यों को घर बैठे जान गई है। वे जानना चाहते हैं कि यह सब क्या है? गृहिणी उन्हें एक कसाई का नाम बताती है और कहती है कि इस विषय का भेद तो उन्हें वह कसाई ही बता सकता है।

ऋषि और भी आश्चर्यचकित हो उस कसाई के पास पहुचते हैं। कसाई उन्हें बताता है कि वह गृहिणी तो पूरी तन्मयता से अपने कर्म में लगी थी। उसके गृहकार्य की महिमा आपकी तपस्या से कम तो नहीं। और आपकी तपस्या तो तभी नष्ट हो गई थी जब उस चिड़िया पर रुष्ट हुए थे। मैं भी कसाई का अपना काम पूरी तन्मयता से करता हू। तन्मयता के उस भाव से किए सब कर्म महान हैं। वह वेदपाठ हो ध्यानसाधना हो गृहकार्य हो या फिर कसाई गिरी।

यह पौराणिक कथा कर्मफल के सिद्धात की एक व्याख्या प्रस्तुत करती है। ऐसी ही अनेक और व्याख्याए होंगी। परा-अपरा और वर्णव्यवस्था पर भी ऐसी अनेक व्याख्याए होंगी। उन व्याख्याओं को देख परख कर आज के सन्दर्भ में भारतीय मानस व काल की एक नई व्याख्या कर लेना ही विद्वता का उद्देश्य हो सकता है। परम्परा का इस प्रकार नवीनीकरण करते रहना मानस को समयानुरूप व्यवहार का मार्ग दिखाते रहना ही हमेशा से ऋषियों मुनियों और विद्वानो का काम रहा है।

६ सभ्यताओ का नवीनीकरण तो करना ही होता है

एक और पौराणिक प्रसग है। विष्णुपुराण से। कहते है कि एक बार महर्षि व्यास नदी में नहा रहे थे। उस समय कुछ ऋषि उन्हें मिलने आते हैं और दूर से वे देखते हैं कि नहाते हुए महर्षि व्यास जोर जोर से ताली बजा बजाकर कलियुग की शूद्रों की और स्त्रियों की जय बुला रहे है। कह रहे हैं 'कलियुग महान है' शूद्र महान हैं स्त्रिया महान हैं'।

बाद में ऋषि लोग महर्षि व्यास से पूछते हैं कि नहाते हुए वे यह सब क्या कह रहे थे। व्यासजी उन्हें समझाते हैं कि कृत त्रेता और द्वापर में जो काम बहुत कठिनाई से हो पाते थे वे कलियुग में तो क्षणभर में ही हो जाते हैं। थोडी सी भक्ति से ही ब्रह्म के साक्षात्कार हो जाते हैं। और इस कलियुग में स्त्रिया और शूद्र अपना काम तन्मयता से करके ही ब्रह्म को पा जाते हैं।

महर्षि व्यास की बहुत महत्ता है। कहा जाता है कि द्वापर में उन्होंने वेद को चार में और फिर उन चार को अनेक शाखाओंमे विभाजित किया। उसके बाद उन्होंने विशेष तौर से शूद्रों व स्त्रियों के लिए महाभारत की रचना की और स्वय गणेशजीने व्यासजी की रचना को लिपिबद्ध किया। पर महाभारत को रचने के बाद विश्व की अवस्था पर विचार करते हुए महर्षि व्यास दु खी हो गए। उन्हें लगा कि शूद्र और स्त्रिया वेदों से तो वचित कर दिए गए हैं और उनके लिए जिस महाभारत की रचना उन्होंने की है वह बहुत दु ख व क्षोभ वाली गाथा है। उसे पढ़कर मन प्रसन्न नहीं होता। उत्साह नहीं आता। तब उन्होंने अपनी गलती को सुधारने के लिए पुराणों की रचना की और उनके माध्यम से सृष्टि और उसके कर्ता के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भाव को सभी के लिए सुलभ बनाने का प्रयास किया। इन पुराणों में से श्रीमद् भागवत पुराण सबसे अधिक भक्ति व श्रद्धा में पगा दिखता है। नारद मुनि के परामर्श पर रचे गए व्यासजी के इस पुराण में वासुदेव श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। शायद भारत भर में श्रीमद् भागवत पुराण साधारणजनों के भारतीय साहित्य से परिचय का मुख्य स्रोत है।

महर्षि व्यास की यह सहृदयता प्राणी मात्र के लिए दया व करुणा का यह भाव जिसे मन में रखकर उन्होने पुराणों की रचना की यही भाव विष्णु पुराण वाले ऊपर के प्रसग में झलकता है। कलियुग की शूद्रों की और स्त्रियो की जय बुलाते हुए महर्षि व्यास कलियुगी काल की एक व्याख्या कर रहे हैं। और उस व्याख्या के माध्यम से धर्म की ग्लानि के इस काल को साधारणजन के लिए कुछ सहज कुछ सहनीय बनाए दे रहे हैं।

हो सकता है कि कलियुगी काल की व्यासजी की व्याख्या ही सही हो। हो सकता है कि जैसे कृतयुग में केवल एक ही वर्ण है वैसे ही कलियुग मे भी केवल एक शूद्र वर्ण ही बचा रहता हो। सभी शूद्रों जैसे ही हो जाते हों। अपरा विद्या और व्यावहारिक ज्ञान की पराकाष्ठा के इस युग में अपरा और व्यवहार के वाहक शूद्र और स्त्रिया ही महत्त्वपूर्ण रह जाते हों। गाधीजी भी कुछ ऐसी ही बात किया करते थे कि इस काल में तो हम सबका शूद्रों जैसा होना ही सही है।

पर बात शायद व्याख्या के सही या गलत होने की नहीं। क्योंकि व्याख्याए तो समय व सन्दर्भ सापेक्ष हुआ करती हैं। महत्त्वपूर्ण बात व्याख्याकार की सहृदयता की है। प्राणीमात्र के लिए मन में करुणा दया व सम्मान का भाव रखने की है। उस तरह के भाव को रखकर ही हम अपने मानस चित्त व काल की ऐसी व्याख्याए कर पाएगे जिनसे आज के सन्दर्भ में भारतीयता की धारा फिर स्थापित फिर प्रवाहित हो सके। अपनी दरिद्रता तो अपने कर्मो का ही फल है इस तरह की कठोर व्याख्याओं से तो कोई काम नहीं चल पाएगा।

प्राणीमात्र के प्रति सहृदयता के साथ साथ अपने चित्त व मानस की सक्षमता अपनी परम्परा की सशक्तता में विश्वास भी रखना पड़ेगा। हममें ऐसे बहुत हैं जो मानते हैं कि कभी भारतीय सभ्यता बहुत महान रही थी। पर अब तो उसके दिन नहीं रहे। चित्त व काल की बात करने का तो अब समय नहीं रहा। काची कामकोटि पीठम् के श्री जयेन्द्र सरस्वती ही कहते रहते हैं कि पहले तो हम महान थे पर आज की बात मैं नहीं करता। लेकिन समस्या तो आज की है। आज के सन्दर्भ में भारतीय मानस व काल को प्रतिष्ठापित करना ही विद्वत्ता का या भारतीय राजनीति का या भारतीय कला कौशल का कार्य है।

ऐसा हो सकता है कि आज भारत के सभी वासी भारतीय चित्त मानस व काल की परम्परागत समझ में विश्वास न रखते हों। ऐसे भी भारतवासी होंगे जो कलि जैसे किसी युग के होने की बात ही नहीं मानते। ऐसे भी होंगे विशेष कर भारतीय मुसलमानों ईसाईयो और पारसियों में अनेक ऐसे होंगे जो चतुर्युग व कल्प आदि को भी नहीं मानते।

पेरियार रामस्वामी नायकर और उनके अनुगामी लोग भी शायद चतुर्युग आदि को न मानते हों। भारत के भिन्न भिन्न भागों में और भी ऐसे जन होंगे जो इन मान्यताओं में विश्वास नहीं रखते। पर जो लोग पुराणों आदि को न मानने का दावा करते है उनमें से बहुतेरे प्राय अपने अपने जाति पुराणों में तो विश्वास रखते ही हैं। और इन असख्य जाति पुराणों की सरचना महर्षि व्यास रचित पुराणों जैसी ही है।

खैर इतना तो सभी भारतीयो के बारे में कहा जाता है साधारण भारतीय ईसाईयों के बारे में भी कि उनका अपना चित्त व काल आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के चित्त व काल से मेल नहीं खाता। बीसवीं-इक्कीसवीं सदी में तो वे भी नहीं है। ऐसा माना जा सकता है कि भारत के अधिक से अधिक आधा प्रतिशत लोगों को छोड़कर बाकी का *आधुनिकता की बीसवीं-इक्कीसवीं सदी से कुछ लेना देना नहीं है।* उन ९९ ५ प्रतिशत भारतीयों के चित्त व मानस में जो कुछ भी अकित है उसका सम्बन्ध यूरोपीय आधुनिकता और उनकी बीसवीं सदी-इक्कसवीं सदी से तो नहीं ही है।

लेकिन इस आधुनिकता के प्रवाह में भारत के साधारणजन और उनकी बची-खुची व्यवस्थाए उनके तीजत्यौहार उनके जीवन मरण के कर्म आदि सब दब गए हैं। उनकी अपनी पहचान खो सी गई है और अपनी अस्मिता की इस हानि से भारत के सभी साधारणजन पीड़ित हैं। यह पीड़ा सभी की साझी है। भारत के साधारण मुसलमानों ईसाइयों आदि की भी।

अब इस स्थिति से उबरने के रास्ते तो निकालने ही पड़ेगें। ४-६ वर्ष पहले इन्दिरा गाधी निधि की ओर से भारत के ऐसे ही प्रश्नो पर विचार करने के लिए एक आतरराष्ट्रीय गोष्ठी हुई थी। कहा जाता है उस गोष्ठी में किसी यूरोपीय विद्वान का सुझाव था की भारत की समस्याओं का समाधान भारत के ईसाई हो जाने में है। यह सुझाव नया नहीं है। भारत को ईसाई हो जाना चाहिए यह बात पिछले दो-सौ बरस से तो चली आ रही है। इसके लिए बडे पैमाने पर सरकारी पयत्न भी होते रहे हैं। इसी ईसाईकरण का दूसरा नाम पश्चिमीकरण है जिसे करने के प्रयत्न स्वतत्र भारत की सरकारें भी करती चली आ रही हैं। भारत का ईसाईकरण मैकाले रास्ते से हो कार्ल-मार्क्स के रास्ते से हो या आज की वैज्ञानिक आधुनिकता के रास्ते से-बात एक ही है।

इन सब प्रयत्नों से भारतीय मानस का ऐसा पश्चिमीकरण हो पाता जिससे भारत के साधारणजन सहजता से यूरोप की २१ वीं सदी से जुड सकते यह भारत की समस्याओं का एक समाधान तो होता। तब भारत के लोगों की मानसिक अवस्था और उनकी प्राथमिकताएं व आकाक्षाए भी वैसी ही होतीं जैसी आज यूरोप व

साधारण लोगों की है। ऐसा कुछ हो गया होता तो भारत का साधारणजन भी अपने मानस में ब्रह्म का अश होने और उस अशत्व के नाते स्वय में स्वतत्र सर्वशक्तिमान होने का जो भाव पाले रखता है वह भाव अपने आप नष्ट हो जाता। भारत के लोग भी पश्चिम के लोगों की तरह अपने आपको एक सर्वशक्तिमान व्यवस्था के दास जैसा मानने लगते। पश्चिम की पिछले चालीस पचास बरस की सम्पन्नता और खुशहाली के बावजूद वहा के साधारणजन का मानस तो व्यवस्था के दास वाला ही है मानस के स्तर पर वह अब भी प्लेटो के आदर्श राज्य और वास्तविक रोम साम्राज्य के गुलामों जैसा ही है। वैसा ही दासता वाला चित्त भारतीय साधारणजन का भी बन जाता यदि ईसाईकरण व पश्चिमीकरण के पिछले दो सौ बरस के प्रयास कहीं पहुच पाते। फिर भी भारत की दुविधा का एक समाधान तो शायद वह होता।

लेकिन ऐसे समाधान शायद सम्भव नहीं हुआ करते। किसी सभ्यता के मानस व चित्त को पूरी तरह मिटाकर वहा एक नए मानस का प्रतिष्ठापन करना शायद ससार में सम्भव ही नहीं है। उसके लिए तो किसी सभ्यता का पूरा विनाश ही करना पड़ता है उसके सभी लोगों को समाप्त करके उनकी जगह एक नई प्रजा को बसाना पड़ता है। अमेरिका में कुछ वैसा ही हुआ। पर यूरोप के सभी प्रयत्नों के बावजूद भारत पश्चिम के हाथो ऐसी परिणति पर पहुचने से तो अभी तक बचा है।

भारतीय सभ्यता का पश्चिमीकरण सभव नहीं तो फिर हमे अपने चित्त व काल के धरातल पर ही खड़ा होना पड़ेगा। आधुनिकता के तौर तरीकों और मुहावरों से छुटकारा पाकर स्वय अपने को अपने ढग से समझना पड़ेगा। कुछ उसी तरह जैसे महर्षि व्यास महाभारत में अपने पूरे इतिहास को अपनी सभी इच्छाओ-आकांक्षाओं को समझ रहे हैं और फिर कलियुग में जीने का एक मार्ग दिखा रहे हैं। या जैसे श्रीकृष्ण अर्जुन को विश्वदर्शन करवा रहे हैं और उस विश्वदर्शन के आधार पर अर्जुन को अपनी दुविधा से निकलने का रास्ता बता रहे हैं। ऐसा ही कुछ विश्वदर्शन हमें अपनी दृष्टि से अपने काल का करना होगा।

लेकिन यह काम यहीं की परम्परा से जुड़े और उसे सम्मान से देखने वाले लोग ही कर सकते हैं। इस विश्वदर्शन में सहृदयता का भाव बनाए रखना है तो यह भी आवश्यक होगा कि इस नए चिन्तन-दर्शन में साधारण लोगों की मान्यताओं व आचार व्यवहार को पुस्तकों व ग्रन्थों में दर्ज मान्यताओं पर वरीयता मिले। ग्रन्थों के साथ बधना भारतीय परपरा का अग नहीं है। भारतीय ऋषियों ने कभी अपने को किसी ग्रंथ में दर्ज विचारों से बधा हुआ नहीं माना। यह सही है कि वे प्राचीन ग्रन्थो की बातों को नकारते

भी नहीं हैं। पर उन बातों की नित नई व्याख्या करते रहने का अधिकार तो वे रखते ही हैं। तभी तो व्यास ताली बजा बजाकर कलियुग की और कलियुग में स्त्रियों व शूद्रों की जय बुला पाते हैं।

सभ्यताओं की दिशा का निर्धारण तो सभ्यताओं के सहज मानस चित्त व काल पर विचार करके ही होता है। लेकिन निर्धारित दिशा में सभ्यता को चलाने का काम गृहस्थों का होता है। गृहस्थों में सभी आ जाते हैं। जो पाडित्य में ऊचे है या पाकशास्त्र में निपुण हैं या खेती में लगे हैं या विभिन्न शिल्पों में दक्ष हैं या आज के विज्ञान और आज की तकनीकों में दक्ष है या राज्य व दड व्यवस्था चलाना जानते हैं या वाणिज्य में लगे हैं ये सब गृहस्थ मिलकर ही सभ्यता को चलाते हैं। सभ्यता की दिशा भटक भी जाए तो भी सवेरे से शाम तक और एक दिन से अगले दिन तक गृहस्थी तो चलानी ही पडती है। गृहस्थी को चलाए रखना गृहस्थ का मुख्य काम है। इसलिए साधारण तौर पर यह सही है कि राजनेताओं व्यवस्थापकों और विद्वानों इत्यादि का अपनी दिनचर्या चलाए रखने पर ही ध्यान केंद्रित करना जरूरी है।

पर ऐसा भी समय आता है जब सभ्यता की दिशा इतनी भटक जाती है कि रोजमर्रा की दिनचर्या चलाए रखने का कोई अर्थ ही नहीं रहता। ऐसा ही समय भारत के लिए अब आया दिखता है। ऐसे समय में गृहस्थ को भी अपनी गृहस्थी छोड अपनी सभ्यता के लिए कोई नई दिशा कोई नया सन्तुलन ढूढने पर ध्यान देना पडता है। आज के समय को भारतीय सभ्यता के लिए सकट का काल माना जाना चाहिए। और इस सकट से उबरने के लिए पर्याप्त साधन समय व शक्ति जुटाने के प्रयास हमें करने चाहिए।

एक बार हम इस काम में लग जाएगे तो भारतीय सभ्यता के लिए आधुनिक सन्दर्भों में एक नई उपयुक्त दिशा मिल ही जाएगी। ऐसे काम कुछ असम्भव नहीं हुआ करते। समय समय पर विभिन्न सभ्यताओं को अपनी मौलिक मान्यताओं को फिर से समझकर अपने भविष्य की दिशा ढूढने का काम करना ही पडता है। भारतीय सभ्यता में ही अनेक बार यह हुआ होगा।

कुछ गिने चुने प्रश्न हैं जिनका समाधान हमें शीघ्रता से कर लेना है। अपने इतिहास व अपने साहित्य का एक सिंहावलोकन-सा करके अपने चित व काल की एक प्रारम्भिक समझ बनानी है। सृष्टि के सर्जन और उसके विकास की प्रक्रिया का जो स्वरूप अपने मानस में अकित है उसका एक चित्र सा बना लेना है। समय के साथ अपने साहित्य मे और शायद अपने मानस में भी विभन्न विषयों पर जो असन्तुलन-सा

आ गया है उसका कुछ समाधान कर लेना है। और फिर अपने चित्त व काल की कोई ऐसी व्याख्या बना लेनी है जो साधारण भारतीयजन के मन को जचती है और जिसे लेकर आज के विश्व में भारतीयता के फिर प्रतिष्ठापन का कोई मार्ग निकलता हो।

अपने आप में अपने चित्त व काल में स्थित और अपनी दिशा में अग्रसर भारतीय सभ्यता का आज के विश्व के साथ क्या सम्बन्ध होगा और उस सम्बन्ध को कैसे स्थापित किया जाएगा उसकी कुछ अल्पकालीन योजना भी हमें बनानी पड़ेगी। आरम्भ में तो कोई ऐसा मार्ग निकालना ही पड़ेगा कि विश्व हमारे कामों में आड़े नहीं आए और आज के विश्व के साथ कोई अकारण का झगड़ा नहीं हो। लंबे समय में तो विश्व के साथ सही सम्बन्धों की ये समस्याएं अपने आप हल हो जाया करती हैं। विश्व हमें अपनी दिशा में चलते हुए और उस प्रयास में सफल होते हुए देखेगा तो शायद उसे भी भारतीयता में अपने लिए और सारी मानवता के लिए महत्त्वपूर्ण कुछ दिखाई देने लगेगा। यह कोई नई बात नहीं है। इतिहास में अनेक बार ऐसा हुआ है जब विश्व की अनेक अन्य सभ्यताओं को लगने लगा कि भारत के पास उनकी समस्याओं के समाधान का कोई महती संदेश है। अपने ही समय में अभी पचास-साठ वर्ष पहले जब महात्मा गांधी इस देश को अपनी ही एक दिशा में ले चले थे तब विश्व के बहुतेरे लोगों को लगने लगा था कि भारत पूरी मानवता को एक नया मार्ग दिखा देगा। यह स्थिति फिर आ सकती है। और उस स्थिति में जब विश्व को भारतीयता में महत्त्व का कुछ दिखाई देने लगेगा तब विश्व के साथ समानता के स्थायी स्वस्थ सम्बन्ध बनाने का उपाय भी निकल आएगा। उस स्थिति में पहुंचने के लिए जो बौद्धिक मानसिक व भौतिक प्रयास करने आवश्यक हैं उन्हें कर लेने का समय तो अब आ ही गया है।

विभाग २

भारत का स्वधर्म

१ स्वाधीनता से वंचित होने की चिन्ता

२ यूरोप से टकराव के पूर्व

३ भविष्य और सुपथ की गवेषणा

१ स्वाधीनता से वचित होने की चिन्ता

भारतीय समाज भारतीय मानस भारतीय समाज व्यवस्था को तथा यूरोपीय समाज और वहाँ की व्यवस्था और मानस को पिछले दो-ढाई सौ वर्षों में हुई इन दोनों की टकराहटों को और उससे भारत पर पड़े विभिन्न प्रभावों को समझने का कुछ प्रयास मैं करता रहा हूँ। मैं स्वाधीनता से वचित कर दिये जाने के अनुभव से भारतीयों में चले वैचारिक मथन तथा प्रतिनिधि-रूपों पर और उनके द्वारा निकाले गये निष्कर्षों पर कुछ कहूँगा। इन विचारों और निर्णयों की आज के हमारे परिवेश हमारे देश हमारे समाज और राज्य की दशा तथा रचना में निर्णायक भूमिका है। हम आज भी उन्हीं के मध्य जी रहे दिखते हैं। इसी के साथ मैं उस तैयारी के बारे में कुछ सकेत दूगा जो अपने विश्वविजय के अभियान के लिए ब्रिटेन ने की तथा जो यूरोपीय मानस की पृष्ठभूमि रही। उस तैयारी की अवधि में ब्रिटेन का समाज किन आधारों पर सगठित था शिक्षा ज्ञान प्रौद्योगिकी आदि में उसकी क्या स्थिति थी इस पर भी कुछ प्रासगिक चर्चा हो जायेगी।

मैं मुख्यत इस पर विचार व्यक्त करूगा कि यूरोपीयों से ऐसी टकराहट के पूर्व तथा अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हमारी समाज-सरचना शिक्षा व्यवस्था विद्या-सस्थाए समाज व्यवस्थाए राजतत्र धर्मतत्र एव हमारे लोक मानस का तत्र कैसा था। विज्ञान और प्रौद्योगिकी श्रम-मूल्य-भुगतान तथा परस्पर मानवीय सबध पर प्रकाश डालने वाली उस काल से सबधित सामग्री में से भी कुछ मैं आपके सामने रखूँगा।

लक्ष्य क्या हैं और कौन - से हो सकते हैं और उनमें कुटिल पथ कौन सा है और ऋजु पथ कौन सा है यह विचार करते रहने की अपनी परपरा रही है। स्वय वाणी को भी द्वार एव पथ कहा गया है अत विचार एव वाणी के स्तर पर हम पथ का अन्वेषण करें और उसी प्रक्रिया में कर्म पथ की भी खोज होती चले यही हमारे यहा प्रत्येक विद्या प्रक्रिया का लक्ष्य रहा है। ऋग्वेद में 'ऋतस्य पन्था' यानी ऋत और सत्य

के पथ की तथा अनृत-पथ' की बात है। उपनिषदों मे भी बार बार 'पथ' पद का प्रयोग है। *आत्मज्ञान के रास्ते पर बढ रहे साधक की तुलना गाधार पथ पर पूछ-पूछ* कर आगे बढ रहे पथ गवेषी से की गई है। ईशोपनिषद् की मुख्य प्रार्थना ही है कि चेतना अग्नि ! हमे सुपथ में प्रवृत्त रखो जटिल पथों से दूर रखो। पथो की अनृतता की बात हमारे यहा कही गई है। अत देश काल और पात्र का विचार कर अपने लक्ष्य या श्रेयस् का ध्यान रखते हुए ऋजु-पथ ऋत पथ की खोज हमारे यहा प्रत्येक विमर्श का और सहचिंतन का उद्दिष्ट रहा है। हमारे लक्ष्य क्या हैं और उनकी प्राप्ति के सुपथ ऋजु पथ या श्रेयस्कर पथ क्या हैं यह हमारे चिंतन का अभीष्ट है।

अपने इस विमर्श का समापन भी इसी प्रकार रहेगा। इतिहास और वर्तमान का विचार और स्मरण करते हुए हमें भविष्य की समाव्यताओं के बारे में सोचना होगा। भावी समाधानों की विवेचना करनी होगी। समाधानों और समाव्यताओं का यह विचार पथ के विचार की ओर ले जायेगा। हम किस पथ का वरण करें और क्यो ? हमारे सामने कौन कौन से पथ हैं ? उनमें से सुपथ या ऋजु-पथ कौन सा है कुटिल-जटिल पथ कौन से हैं। किस पथ पर प्रस्थान करने पर क्या गति होगी या हो सकती है इन सब पर हम सक्षेप में अतिम क्रम में विचार करेंगे। अपने व्यष्टि चित्त और समष्टि चित्त सस्कार और सामर्थ्य परपराए और कुण्ठाए- इन पर विचार के साथ प्रासगिक यूरोपीय सदर्भ सामने आयेंगे। आज की हीनता को गहराई से समझने पर उसे दूर करने के क्या उपाय या मार्ग हो सकते हैं इसका विचार भी आयेगा।

मेरी बातचीत मे कोई सुस्पष्ट एव निर्णीत पथ-निर्देश होना सभव नहीं है। तथ्य उनसे निगमित निष्कर्ष और जिज्ञासाए बहुत-से प्रश्न बहुत से वैचारिक द्वन्द्व हम सबसे *धीरता एव सहचिंतन की अपेक्षा करती बौद्धिक व्यग्रता - यही सब इनमें से शायद* निकलें। अपने बृहत समाज से और अपनी समष्टि चेतना से बृहत् ऋत से विराट भाव से अपने सम्बन्ध की सम्यक पहचान की व्यग्रता ही तो वास्तविक बौद्धिक व्यग्रता है। वह व्यग्रता हममें जाग्रत रहे तो प्रशस्त पथ सुपथ या ऋतस्य पन्था भी हमारी प्रज्ञा में कौंधते रहेंगे ऐसा आश्वासन हमारे पूर्वजों ने हमारे अवतारों ने हमारे देवता गणों ने हमारी दैवी *शक्तियों ने दे रखा है। अत उस श्रद्धा भाव के साथ ही यह विमर्श यह* सवाद आरभ करना चाहिए।

महात्मा गाधी ने सन् १९०९ ईस्वी में हिन्द स्वराज' लिखा था जिसमें भारत और योरप की टकराहट को दो सभ्यताओं की टकराहट के रूप में देखा बताया गया था। १९२० और १९३० ईस्वी वाले दशकों में गाधीजी ने भारतीय समाज की दशा के

बारे में और योरप विशेषत इग्लैंड से विभिन्न क्षेत्रों में उसकी तुलना के बारे में प्रभूत सामग्री लिखी ही थी अन्य लोगों ने भी ऐसी सामग्री बडी मात्रा में प्रकाशित की थी। उदाहरणार्थ यग इडिया' में ई १९२० के दशक के प्रारंभिक वर्षो में ही गाधीजी ने इन विषयों पर बहुत से लेख लिखे व प्रकाशित किये थे - १८ वीं शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध और १९ वीं शती ईस्वी के प्रारम्भिक काल में स्वदेशी भारतीय शिक्षा की दशा अग्रेजों के आने से पूर्व की भारतीय सामाजिक जीवन दशाएँ और उनके प्रभुत्व काल में बढी भारतीय समाज की दरिद्रता और दुर्दशा १८०० ईस्वी तक दक्षिण भारत में तथाकथित अन्त्यज लोगों (जिसमें दो चार जातियाँ ही आती थी) की अथवा महाराष्ट्र में महारों की अपेक्षाकृत अधिक अच्छी स्थिति जो ब्रिटिश आधिपत्य होने पर बिगडती चली गयी तथा अन्य ऐसे ही विषय। इन लेखकों में गाधीजी के अनुयायी या प्रशसक ही सम्मिलित नहीं थे। सर शकरन नायर ब्रिटिश वायसराय की कौंसिल के एक सदस्य थे। वे तथा उन जैसे अन्य लोग भी इसी प्रकार से लिखने लगे थे। स्पष्ट है कि उस समय के पढे-लिखे लोगों के विविध समूह इन तथ्यों को जानते थे। सर शकरन नायर ने ईस्वी १९१९ में लिखा था *कि अन्त्यज आदि की सामाजिक आर्थिक दशा में मुख्य गिरावट* विगत डेढ सौ वर्षो में ही हुई है तथा भारतीय समाज के सामाजिक और सास्कृतिक जीवन मे उल्लेखनीय ह्रास इसी अवधि मे हुआ। मेरा अनुमान है कि २० वीं शती ईस्वी के आरभ काल के अनेक समाचार पत्रों पत्र-पत्रिकाओं शोधपूर्ण गवेषणाओं विशिष्ट विद्वानों की कृतियों सृजनात्मक लेखकों कवियों की रचनाओं आदि में इसी तरह की बहुत सी सामग्री उपलब्ध हो जायेगी।

सभवत यह हुआ की ये सारी जानकारियाँ अब से ५०-६० वर्ष पूर्व सामने तो आई लेकिन इस समय वे भारतीय समाज का एक समग्र चित्र अकित करने की दृष्टि से नहीं रखी गईं। शायद जिज्ञासा वर्धक भाव से ही या ऐसे ढग से ही ये बातें अधिकाशत रखी गईं जिनमें आज अति भावुकता दिखती हो।

परतु गाधीजी ने १९०९ ईस्वी में ही हिन्द स्वराज' लिखा और हम सब भलीभाँति जानते हैं कि उसमें तथा अपनी अधिकाश कृतियों में गाधीजी ने सदा सतुलित रूप में भारतीय समाज एव राजनीति तत्र की एक ऐसी समग्र छवि एक ऐसा रूप सकेत प्रस्तुत करने का उद्यम किया जो कि उन्होंने इस समाज के सुदीर्घ अतीत से गतिशील जीवन के बारे में समझा था। हम यहा स्मरण करें कि हिन्द स्वराज' में असहयोग पर लिखते हुए गाधीजी ने सकेत दिया था कि यह परपरा भारत की स्वाभाविक परपरा है और यह भारत में सदा से विद्यमान रही है। इसके दृष्टांत भी

उन्होंने दिये। मेरा मानना है कि भारतीय बुद्धि एव भारतीय समाज की क्रियाशीलताओ के स्वरूपों के बारे मे अपने ऐसे बोध के कारण ही गाधीजी सहजता से भारतीय बुद्धि एव भारतीय समाज से सवाद कर सके सहज वार्तालाप का सम्बन्ध रख सके तथा इसके कारण ही भारतीय जन गाधीजी के सुझाए रास्ते को अपनाते रहे। १९४४ ईस्वी में गाधीजी ने कहा भी था कि जब मैं भारत लौटा तो मैने उन्ही भावों और विचारों को अभिव्यक्ति दी जो कि भारतीय अपने मन में स्वय पहले से जानते थे और अनुभव करते थे। निश्चित ही गाधीजी के नेतृत्व में भारत जो कुछ कर पाया और प्राप्त कर सका उसके मूल में गाधीजी की भारतीय समाज से यह सहज एकात्मता ही नहीं थी उनकी सगठन क्षमता तथा आध्यात्मिक व बौद्धिक सामर्थ्य भी इस सफलता व उपलब्धि का आधार रही।

बृहत् भारतीय समाज में अपनी समाज रचना समाज व्यवस्था और राज्य व्यवस्था के बारे में यह बोध परंपरा होते हुए भी और गाधीजी द्वारा हिन्द स्वराज' में तथा अन्यत्र एव दूसरे अनेक लोगों द्वारा यग इण्डिया' समेत विविध स्थानों में ब्रिटिश आधिपत्य से पूर्व के भारत के बारे में इतना सब कुछ लिखित साहित्य एव साक्ष्य विद्यमान होते हुए भी उन व्यक्तियों समूहों और अग्रेजों द्वारा रची गई उन समस्त व्यवस्थाओं में अधिकाशत जो आज भी हमारे बीच में है उस बोध परपरा की स्मृति बहुत कम दिखती है। स्वाधीनता-सग्राम के बोध के अग के रूप में लिखी गई तथा एकत्र और सुरक्षित रखी गई उस ऐतिहासिक तथ्य सामग्री की भी कोई चेतना या स्मृति इन व्यक्तियों के समूहो में कम ही दिखती है जिनके ऊपर अग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद सत्ता-हस्तातरण के द्वारा स्वाधीन भारत के शासन का दायित्व आया। स्थिति स्पष्ट है कि स्वाधीन होने पर भी हमारी समस्त शासकीय व्यवस्थायें और उनके साथ समस्त आधुनिक अशासकीय प्रवृत्तियाँ आज भी बहुत कुछ उसी सरचना पर आधारित हैं जो सरचना तत्र अग्रेजों ने सन् १७६० से १८३० ईस्वी के मध्य भारतीय व्यवस्थाओं एव सरचना-तत्र को नष्ट करने हेतु और उसी प्रक्रिया में रचे थे या फिर जो उन्होंने १८५७ ईस्वी के बाद अपने राज्य को भारत में और सुदृढ बनाने के लिये रचे थे।

यहा यह स्मरण किया जा सकता है कि सन् १९२० ई तक भारत का राज्यकर्ता वर्ग या अभिजनों का महत्वपूर्ण हिस्सा अपने समाज के बौद्धिक एव भावनात्मक स्तर पर असबद्ध हो चुका था और परकीयता अपना चुका था। इस वर्ग ने अग्रेजों के आचार-व्यवहार को और बोली या अभिव्यक्ति की विधियों को अंगीकार कर लिया था तथा ब्रिटिश सकल्पनाओं या अवधारणाओं एव जीवन-रूपों के अनुरूप अपने

निजी एव सामाजिक जीवन को ढालने के लिए अग्रसर था। स्पष्ट है कि महात्मा गाधी के नेतृत्व वाले २५ वर्षो का काल-खड भारत में विविध क्षेत्रों में सग्राम की दृष्टि से बहुत ही कम कहा जायेगा। यह भी सत्य हो सकता है कि जिन प्रमुख अभिजनों ने गाधीजी का नेतृत्व स्वीकार किया और उसके द्वारा राज-सत्ता एव राजनैतिक सत्ता प्राप्त की वे गाधीजी की भारतीय समाज की समझ को बहुत गभीरता से नहीं ग्रहण करते थे और वे यह स्वीकार कर पाने में भी असमर्थ थे कि वैसा कोई भारतीय समाज आधुनिक विश्व में व्यवहार्य हो सकता है। इस राज्यकर्ता वर्ग के एक अधिक प्रबुद्ध और गाधीजी के आत्मीय जनों में गिने जाने वाले सदस्य ने कहा ही था कि भला कोई यह कैसे कबूल कर सकता है की गाव के लोगों में भी कोई सद्गुण और सामर्थ्य है। ये तो बडे मूर्ख लोग हैं।

इसमें तो आज कोई सदेह नहीं है कि यह अभिजात वर्ग भारतीय अतीत को आत्मसात् नहीं कर सका और भारत का भविष्य उसके अनुरूप रचने की नहीं सोच सका। किन्तु यदि उसमें तनिक भी सृजनात्मक सामर्थ्य होता तो वह उस जानकारी को तो आत्मसात् कर ही सकता था जो उसने पश्चिम से ग्रहण की थी और फिर इस जानकारी या सोच को वह भारतीय प्रत्ययों एव अभिव्यक्ति रूपों में ढाल सकता था। लेकिन यह वर्ग अब तक भी तो इसमें विफल ही रहा है। लेकिन यह सृजनात्मक अक्षमता हमारे शक्तिशाली वर्ग या अभिजात वर्ग में ब्रिटिश काल में ही आई दिखती हो ऐसा शायद नहीं है। ऐसा लगता है कि भारत के बहुत से क्षेत्रों में उसके बहुत पहले से यह अक्षमता घर कर चुकी थी। सुप्रसिद्ध आचार्य विद्यारण्य से प्रेरणा पा रहे विजयनगर राज्य में भी और स्वदेशी राज्य हेतु प्रेरणा देने वाले समर्थ गुरु रामदास से प्रेरित मराठों द्वारा १७ वीं शती ईस्वी के पूर्वार्द्ध में हिन्दवी स्वराज की स्थापना के प्रयास में भी राज्यकर्ता वर्ग ने बहुत सृजनात्मक सामर्थ्य नहीं दिखाया। अपने समाज और राजनीति तत्र (पौलिटी) को ऐक्यबद्ध करने साथ-साथ चलने सवाद और विमर्श करने तथा कार्य करने की एकता उत्पन्न करने में ये दोनों ही राज्य कुछ अधिक सफल नहीं रहे। भाषाशास्त्रियों का कहना है कि शिवाजी के समय में मराठी क्षेत्र में फारसी का प्रयोग बहुत बढा-चढा था। यहा तक कि शिवाजी के प्रारम्भिक काल में राजकाजी मराठी में सत्तर-अस्सी प्रतिशत शब्द फारसी के होते थे। दक्षिण के १७ वीं शती ईस्वी के सस्कृत प्रहसनों में भी इसीलिए मराठों की भाषा पर व्यग्य किया गया। छत्रपति बनने के बाद अवश्य शिवाजी की राजकाजी मराठी में फारसी शब्दों की भरमार घटी और भाषायी स्वाभिमान की कुछ समझ बढी। उस काल की मराठी में फारसी शब्दों की सख्या २० से

३० प्रतिशत तक मानी जाती है।

सभवत ऐसा ही होता हो कि प्राय सभी सभ्यताओं में ऐसे अतराल आते हों जब बृहत समाज और राज्य से उसके सम्बन्ध छिन्न भिन्न हो जाते हों अथवा निष्प्रभावी या व्यर्थप्राय हो जाते हों - या प्रसुप्ति की दशा में जा पड़ते हों। हो सकता है कि पिछली कई शताब्दियों से हम इसी दशा ऐसे ही अतराल में जी रहे हों और शीघ्र ही वह समय आने वाला हो जब भारत का राज्यतत्र और राजनीति तत्र (पॉलिटि) हमारे समाज की आकाक्षाओं एव आवश्यकताओं को तो प्रतिबिम्बित करने ही लगे साथ ही समाज के अपने व्यवहार-पर्वो व्यवहार-विधियों एवं अभिव्यक्ति -विधियों को भी प्रतिबिम्बित करे उन्हें सम्यक् प्रतिष्ठा दे।

यह भी सभव है कि यह प्रक्रिया प्रारभ हो चुकी हो जो निकट भविष्य में ही हमारे समाज और 'पॉलिटी'(राजनीति-तत्र) के बीच के इस विखडन को नगण्य सिद्ध कर दे और मेरी अधीरता शायद असम्यक् हो। जब हमने स्वाधीनता फिर से पा ली थी उसी समय गाधीजी ने किसी को लिखा था कि तत्काल बड़े परिणामों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए और १५० वर्षो की दासता से जर्जर भारत को पुन स्वस्थ होने में कम से कम उससे आधे वर्ष तो लगेंगे ही।

तब भी मेरी व्यग्रता का अत नहीं दिखता। मुझे कुछ ऐसी अनुभूति होती है कि हमारा समाज और हमारा राजनीति तत्र दोनों दो विलग-विलग विश्वों में परिभ्रमण करने लगे हैं तो इसके कहीं गहरे और दार्शनिक हेतु हैं। कुछ ऐसा दिखता है कि समष्टिगत भारतीय मानस और उसके अगभूत भारतीय व्यक्ति के निजी मानस की स्वाभाविक सरचना सस्कार और बोध प्रवृत्ति ही ऐसी है कि भारतीय जन स्वभावत एक ऐसे विश्व में रहने को तैयार नहीं हो पाते जिसमें विभिन्न मानव समूहों या विविध क्षेत्रों के लोगों के मध्य परस्पर वैर-भाव एव युद्ध स्थिति एक स्थायी लक्षण हो। इस विषय पर आधिकारिक रूप से निश्चित विचार व्यक्त करने की पात्रता मैं स्वयं में नहीं पाता। किन्तु यदि मेरी इस जिज्ञासा में और व्यग्रता में कुछ तत्त्व दिखें तो हमारे विद्वज्जनों एव प्रतिभाशाली नर-नारियों को इस ओर विचार करना चाहिए। हो सकता है कि ऐसी प्रक्रिया चल रही हो।

यदि भारतीय बुद्धि और मन की सरचना ऐसी होती है तो स्पष्टत इसके परिणाम दूरगामी और बहुअर्थी निकलते हैं। इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय मानस भी यदा-कदा-लड़ाई झगड़ों तथा अन्य उपद्रवों-अनिष्टों को जीवन का स्वाभाविक अंग मानता है। पर इसके साथ ही वह वैर भाव या युद्ध भाव को नित्य मानने की कल्पना

भी नहीं कर पाता। अतत एक आतरिक सौमनस्य स्थापित होकर शाति-लाभ होगा। सबका सह-जीवन सह अस्तित्व अपने सपूर्ण वैविध्य समस्त बहुरूपता एव रूप-भेद गुण-लक्षण-क्रिया भेद के साथ अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित हो सकेगा यह शायद भारतीय मानस का स्थायी भाव है। एक ऐसे ससार में जहा भारतीय शक्ति का निर्णायक प्रभाव हो अथवा कम से कम अपने बारे में भारत स्वावलम्बी एव पर्याप्त समर्थ हो पराजय की स्थिति न हो यह स्थायी भाव एक उदात्त व्यवहार का आधार बनता है। किन्तु जब किसी ऐसी प्रबल शक्ति से सामना हो जाए जो वैर-भाव एव युद्ध-भाव को शाश्वत मानवीय स्वभाव एव कर्तव्य माने अपने से अतिरिक्त अन्य प्रकार के जीवन-रूपों को नष्ट करने की या दूसरों को अधमरा करके अधीन बनाये रखने की योजना पर सतत् चले तब स्थिति बदल जाती है। उस स्थिति में यदि पराजित तेजहत भारतीय चित्त अपने समय और अपने सम्मुख उपस्थित ससार के इस स्थायी वैरभाव को समझ पाने को तैयार न हो तब उसका स्थायी शाति-भाव तेजहीन होकर एक तरह से स्वय को ठगने का विचार-जाल रचता है। शायद भारतीय चित्त 'कबिरा आप ठगाइए और न ठगिये कोय' जैसे अध्यात्म सूत्र की भ्रामक व्याख्या द्वारा इस दशा को उचित ठहराने का प्रयास करने लगता है। ऐसे में अद्वैत बोध का स्थान एक भ्रात अद्वैतवादी तर्क-जाल ले लेता है अद्वैत दर्शन का सारतत्त्व विवेक-सिद्धि तब उपेक्षित कर दी जाती है। वस्तुत भेद की सम्यक् पहचान के सामर्थ्य का ही नाम विवेक है। सत् और असत् में स्व और पर में स्वधर्म और विधर्म में धर्म और अधर्म में भेद करने का सामर्थ्य ही विवेक है। परमार्थत अद्वैत जो सत्ता है उसका ज्ञान इस भेद-बोध सम्पन्न विवेक के बिना असभव है। विवेक के अभाव में अद्वैत ज्ञान नहीं होता किन्तु अद्वैतवाद का शब्दजाल जिसे आदि शकराचार्य ने चित्त को भटका डालने वाला महावन कहा है प्रबल हो उठता है। अद्वैत-बोध सात्त्विक तेज है अद्वैतवाद तामसिक प्रमाद। पराजित समाज में जब अपनी विद्या-सस्थाए नहीं रह जातीं जब बोध की साधना का पथ विलुप्त हो जाता है और पथ नहीं सूझता चित्त-भूमि जब बाहरी खरपतवारों से सकुल हो उठती है तब अद्वैतवादी प्रमाद अपने समय के ससार के सत्य को जानने में बाधक बनता है। यह स्वाभाविक ही है। तब न तो परायी विद्या-सस्थाओं का मर्म आत्मसात् करने योग्य बौद्धिक स्फूर्ति बचती है न ही अपनी विद्या परपराओं की पुनर्रचना का बल और साहस। पराजित भारतीय चित्त शायद इसी हीनता से ग्रस्त है। हीनता की दशा में प्रमाद और सृजन-विमुखता से उपजी अद्वैतवादी भ्राति अपनी परपरा का ही प्रसार दिखने लगती है। शायद प्रत्येक सस्कृति की विकृति का भी अपना ही विशिष्ट स्वरूप होता है।

प्रमादपूर्ण अद्वैतवाद से भरे मानस में ससार को ठीक से जानने के प्रति अनिच्छा का उभार हो जाना विशिष्ट भारतीय विकृति है। अन्य सस्कृतियों की विकृतिया भिन्न प्रकार की होती हैं। हमारी विकृति इसी आत्महीनता से भरे प्रमाद के रूप में है।

पराजित भारतीय चित्त की बात उठने पर उसके स्वरूप को तथा पराजय से उभरने की उसकी सतत चेष्टाओं के इतिहास को स्मरण करना आवश्यक है। इसके लिए मुझे यह उचित लगता है कि कुछ प्रतिनिधि घटनाओं तथा बिन्दुओं का साकेतिक स्मरण किया जाए। इस्लाम के अनुयायियों से हजार वर्ष लबे समय तक सम्बन्ध होते हुए भी इस्लाम के स्वरूप को भी बौद्धिक स्तर पर समझने का कोई प्रयास भारत में पिछले दो सौ-तीन सौ वर्षों में भी नहीं हुआ दिखता। यह सही है कि इस्लाम अनुयायियों के आक्रमण से अधिकाश भारत पराजित नहीं हुआ सघर्षरत ही रहा और अपने ढग से इस्लाम को आत्मसात् करने की भी चेष्टा में लगा रहा। भारतीय समाज के पास ११ वीं शती से १७ वीं शती ईस्वी तक लगातार सग्राम और बलिदान के उपरात भी उल्लेखनीय शक्ति बची रह गई। सग्राम के क्रम में भारतीय समाज को बीच-बीच में उल्लेखनीय सफलताए भी मिलीं। विजयनगर राज्य और मराठों का प्रसग पहले आ चुका है। किन्तु अपना राज्य भिन्न एवं विपरीत प्रकार के विचारतत्र के प्रति क्या बौद्धिक व्यवहार करे इस पर पर्याप्त गहरा शास्त्रार्थ विजयनगर राज्य में भी नहीं हुआ। जो सास्कृतिक केन्द्र विद्या-केन्द्र नष्ट कर देने वाली शक्तिया हैं उन्हें मात्र प्रत्यक्षत पराजित कर अपने क्षेत्र भर में मर्यादित रखके क्षेत्र के चारों ओर वैर भाव से परिपूर्ण वैचारिक आक्रमकता को यों ही रहने देना है या उससे वैचारिक सवाद करना है इस पर विगत एक हजार वर्षों में कभी कहीं पर्याप्त गहरा विमर्श हुआ हो इसके अभी तक सूत्र नहीं मिले हैं। खुदा' और 'ईश्वर' की एकपंथवाद और सर्वपथ मान्यता की अवधारणाओं में तात्त्विक अतर क्या है और एकता का आधार क्या है इस पर आध्यात्मिक बौद्धिक विमर्श न आचार्य विद्यारण्य के सरक्षण में या नेतृत्व में कहीं हुआ न ही समर्थ गुरु रामदास के। पचदशी और दासबोध को पढने पर यह रचमात्र नहीं पता चलता कि इस्लाम की किन्हीं आधारभूत अवधारणाओं को कोई चुनौती समझी जा रही है। यह सेजगता होती तो विदेशी भाषा के कितने शब्दों को और किन विचारों को आत्मसात् करना है और क्यों करना है मनुष्य के रूप में कहां उनसे हमारी एकात्मता है तथा एक भिन्न सास्कृतिक प्रजाति या समाज के रूप में कहां नितात विरोध विभेद या विपरीतता है क्या ग्रहण करना धर्म है क्या अधर्म किन किन रूपों में प्रतिरोध व स्वाधीन सृजन-साधना धर्म है आदि विषयों पर विस्तृत विचार होता जैसे कि उन

दिनों इस पृथ्वी पर अन्यत्र हो रहा था। अपने यहा महाभारत में विविध स्थलों में भिन्न-भिन्न देशों के निवासियों के स्वभाव व विशेषताओं का कुछ वर्णन है। ब्रह्म पुराण और स्कन्द पुराण में भी कुछ ऐसे ही प्रसग हैं। विश्व के नए घटनाक्रमों और एकपथवादी समूहो के अभूतपूर्व विस्तार के सदर्भ में इस भेद विवेचन को और विस्तार तथा गहराई देना ही स्वाभाविक होता। अपने उन दिनों के राष्ट्रीय अनुभवों के सदर्भ में यह आवश्यक था। पर ऐसा कुछ अपने यहा उन दिनों हुआ नहीं दिखता। समाज में तो भावोद्वेलन प्रतिरोध भाव प्रतिशोध-भाव आदि देखने को मिलते हैं किन्तु राजनीति-तत्र के शीर्ष जनों मे ये भाव पर्याप्त नहीं दिखते।

अठारहवीं शती ईस्वी के आरम्भ में औरगजेब की १७०७ ई में मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य समाप्त हुआ ऐसा माना जा सकता है। शिवाजी के राज्याभिषेक से लेकर १७५० ई तक मराठे ही भारत की सबसे शक्तिशाली व विस्तृत राज्य शक्ति थे। लेकिन इन्हीं दिनों में योरपीय भारत में प्रभाव बढाने लगे। १७५० ईस्वी में अरकाट की लडाई से उन्होंने अपनी शक्ति को निर्णायक रूप से बढाना शुरू किया। १८०० ईस्वी तक प्राय समस्त भारत पर उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभुत्व हो गया। इसके उपरात यह मानना कि सन् १८५७ ई तक भारत की अपनी स्वतत्र सत्ता कहीं रही निराधार और निरर्थक है। सन् १८०३ ईस्वी तक हमारा प्रभावशाली वर्ग मानसिक पराजय स्वीकार कर चुका था। इस वर्ग का एक महत्वपूर्ण अश उत्साहपूर्वक ब्रिटिश जीवन-पद्धति ब्रिटिश विचार-पद्धति एव अभिव्यक्ति-पद्धति को ऐसे अपना रहा था मानो वह बौद्धिक दारिद्र्य से ग्रस्त हो उसके पास न अपनी प्रभा हो न प्रतिभा न प्रतिमान। बाहरी विचार और व्यवहार को किस रूप में लेना है उसका सपूर्ण समाज पर क्या-क्या प्रभाव पडेगा उस प्रभाव को कैसे सतुलित रखना तथा अर्थवान बनाना है इस पर शास्त्र-चिंतन कोई सृजनात्मक प्रयास नहीं दिखते। जो ले रहा है उत्साह से ले रहा है। बृहत् समाज तिरस्कार से यह देख रहा है। विखडन की यह स्थिति स्पष्ट दिखती है।

ऐतिहासिक राजनैतिक घटनाओं को समझने के प्रति राजनीति तत्र के शीर्ष जनों में या तो प्रमाद और उपेक्षा-भाव दिखता है या फिर एक अस्पष्ट अपेक्षा-भाव। हमारे प्रतिभाशाली लोग समकालीन राजनीतिक घटनाओं को किस रूप में देख रहे थे इसका एक उदाहरण हैं राममोहन राय।

कहा जाता है कि बचपन में अपने साथ घटी घटनाओं के कारण उन्होंने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया और हुगली जिले से पटना जा पहुचे। वहा फारसी और अरबी का अध्ययन किया। अरबी विज्ञान और दर्शन पढा। यूनानी चिंतकों के अरबी अनुवाद

पढे। हाफिज रूमी आदि की शाइरी पढी। फिर कुछ साल बनारस रहे। वहा उपनिषद् और गीता पढी। फिर मुर्शिदाबाद जाकर अरब की विद्या पढने लगे। वहीं अपनी पहली पुस्तक 'तुहफत-उल मुवहिदीन' फारसी मे लिखी जिसमें एकपथवाद का घनघोर समर्थन किया। इसकी भूमिका अरबी भाषा में थी। तदुपरात ब्रिटिश राज में नौकरी की। १८१४ ईस्वी मे कोलकत्ता पहुचे। वहीं ईसाई साहित्य पढा और हिब्रू, लैटिन और यूनानी भाषाए सीखीं। और फिर एक यूनिटेरियन मिशन प्रेस सभाघर पुस्तकालय आदि बनवाया व द प्रिसेप्ट्स आव जीसस' अपील टु द क्रिश्चियन पब्लिक' 'द आइडियल ह्यूमैनिटी आव जीसस आदि पुस्तकें प्रकाशित की। अग्रेजी की शिक्षा के देशव्यापी प्रचार के लिए वातावरण बनाने में लगे रहे और अत में ब्रह्म समाज की स्थापना की जिसका मुख्य लक्ष्य था मूर्तिपूजा की परपरा पर तीव्रतम प्रहार करना। साथ ही उन्होंने देशभर में एकपथवाद की स्थापना के लिए अत्यधिक श्रम किया। आधुनिक अभिजनों ने उनमें 'रेनेसॉ का नव प्रवर्तक देखा।

यहीं पर बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय का स्मरण प्रासगिक है। बकिम ने आनदमठ' जैसे उपन्यास लिखे और सन्यासी-विद्रोह जैसी राजनैतिक घटनाओ की मीमासा की। प्रसिद्ध राष्ट्रगीत वदेमातरम् रचा। उन्हीं बकिम की अग्रेजी राज के बारे में यह व्याख्या थी कि वह दैवी इच्छा से भारत के शुभ के लिए ही आया है। यह बोध उस काल-खंड का है जब अग्रेज भारत की समाज-रचना कृषि शिल्प प्रौद्योगिकी विद्या-सस्था आदि को देशभर में नष्ट कर चुके थे। लेकिन जन-जीवन का व्यापक क्षय और विनाश करने वाला ब्रिटिश राज ऐसे शक्तिशाली लोगों को पूर्ववर्ती इस्लामी त्रास से मुक्ति दिलाने वाले वरदान के रूप में दिख रहा था। ये सब भारत के मेधावी नागरिक थे। देशभक्ति और सस्कृति रक्षा की भावना इनमें कम नहीं थी। किंतु बृहत् सामाजिक जीवन के विध्वस का या तो इन्हें पर्याप्त ज्ञान नहीं था या फिर विध्वस इन्हें अपनी या अपने जैसों की निजी क्षति न होने के कारण उतना पीडाप्रद नहीं लगता था। निजी अनुभव निजी दैहिक मानसिक स्तर पर भोगा हुआ यर्थाथ ही इन्हें सामाजिक यथार्थ का प्रयाप्त प्रतिनिधि दृष्टात लगता था। बृहत् समाज के दु:खों का राजनैतिक ऐतिहासिक सदर्भ पहचानना उन्हें आवश्यक नहीं लगता था। सब परपरागत अर्थ में विरक्त भी नहीं थे। क्योंकि परंपरा में तो गुरुतम निजी दु:ख से भी विचलित न होने का आदर्श रहा है जबकि ये सब निजी दु:खों के दारुण अनुभवों से ही महत्त्वपूर्ण सामाजिक निष्कर्ष निकालते दिखते हैं।

स्वामी विवेकानंद का व्यक्तित्व कई अर्थों में इससे भिन्न था और प्रतिभा

शास्त्र ज्ञान एव सवेदना में भी वे अधिक उन्नत थे। अत उनका स्मरण बहुत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। हिन्दु धर्म और भारतीय सस्कृति के वे समर्थ प्रवक्ता सन्यासी बने और शायद आज सबसे अधिक पुस्तकें जिन आधुनिक भारतीय विचारकों की पढी जाती हैं उनमें प्रमुख हैं विवेकानद और महात्मा गाधी।

हम स्वामी विवेकानद में गहरा और उत्कट देशप्रेम व्याप्त पाते हैं। शास्त्रों का ज्ञान भी उन्हें था ही। श्री रामकृष्ण परमहस के वे सर्वप्रमुख शिष्य थे। श्री रामकृष्ण का शरीरान्त १५ अगस्त१८८६ ईस्वी को हुआ। २६ मई १८९० को विवेकानद ने वाराणसी के श्री प्रमदादास मित्र को एक लबा पत्र लिखा। उसमें कहा 'यह निश्चय ही अपराध हो गया कि भगवान श्री रामकृष्ण परमहस के शरीर को चिताग्नि में समर्पित कर दिया गया जबकि उसे समाधिस्थ किया जाना उचित होता। उनके राख-फूल सुरक्षित हैं। अच्छा हो यदि वे पवित्र गगा तट पर जहा पर वे साधना किया करते थे वहीं स्थल निर्मित कर सुरक्षित भूमिस्थ कर दिये जायें इससे उस अपराध का कुछ मार्जन हो जायेगा। उन अवशेषों की श्री परमहस के आसन की एव चित्र की पूजा मठ का नित्य नियम है। ब्राह्मणवशीय एक सन्यासी रात-दिन इसी कार्य हेतु नियुक्त है। पूजा का खर्च दो महान् भक्तों द्वारा उठाया जाता है । कितनी पीडा की बात है कि उनकी स्मृति के लिए अभी तक बगाल से धन नहीं एकत्र हो सका जिनके जन्म से यह बगाली जाति पवित्र हो गई है और जो पश्चिमी सस्कृति के सासारिक आकर्षण से भारतीयों को बचाने के लिए पृथ्वी पर आए तथा इसीलिए जिन्होंने अपने अधिकाश सन्यासी-शिष्य विश्वविद्यालयों से चुने।

स्मृति-स्थल हेतु अपेक्षित भूमि लगभग पाच-सात हजार रूपयों में मिलेगी। फिर उस पर कुछ आश्रम बनाना होगा। श्री रामकृष्ण के सन्यासी-शिष्यो के मित्रों और सरक्षकों मे से एक मात्र अब आप ही हैं। सयुक्त प्रात (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में आपकी प्रसिद्धि है पद है और परिचय-क्षेत्र है। आप इस कार्य को उचित मानें तो इसके लिए धन एकत्र करने की कृपा करें। मैं आपके साथ द्वार-द्वार चलकर इस श्रेष्ठ कार्य हेतु भिक्षा-याचना को उद्यत हू। उसमें तनिक भी लज्जा कैसी ? शायद आप कहें कि सन्यासी को इच्छाए क्यों ? मेरा उत्तर होगा भगवान श्री रामकृष्ण परमहस का नाम उनका जन्म-स्थल एव साधना-स्थल विश्व में सर्वत्र प्रसिद्धि पाए इसके लिए मैं चोरी-डकैती तक करने को तैयार हू, क्योकि मैं उनका सेवक दास हू, मैं इस स्मृति स्थल के निर्माण हेतु ही कोलकत्ता लौटा हू। अगर आप कहें कि स्मारक काशी में हो तो निवेदन है कि उन्होंने साधना तो यहा कोलकत्ते में गगा-तट पर की थी। मेरी

पढे। हाफिज रूमी आदि की शाइरी पढी। फिर कुछ साल बनारस रहे। वहा उपनिषद् और गीता पढी। फिर मुर्शिदाबाद जाकर अरब की विद्या पढने लगे। वहीं अपनी पहली पुस्तक तुहफत उल-मुवहिदीन फारसी में लिखी जिसमें एकपथवाद का घनघोर समर्थन किया। इसकी भूमिका अरबी भाषा में थी। तदुपरात ब्रिटिश राज में नौकरी की । १८१४ ईस्वी मे कोलकता पहुचे। वहीं ईसाई साहित्य पढा और हिब्रू, लैटिन और यूनानी भाषाए सीखीं। और फिर एक यूनिटेरियन मिशन प्रेस समाघर पुस्तकालय आदि बनवाया व 'द प्रिसेप्ट्स आव जीसस' अपील टु द क्रिश्चियन पब्लिक' 'द आइडियल ह्यूमैनिटी आव जीसस आदि पुस्तकें प्रकाशित कीं। अग्रेजी की शिक्षा के देशव्यापी प्रचार के लिए वातावरण बनाने में लगे रहे और अत मे ब्रह्म समाज की स्थापना की जिसका मुख्य लक्ष्य था मूर्तिपूजा की परपरा पर तीव्रतम प्रहार करना। साथ ही उन्होंने देशभर में एकपथवाद की स्थापना के लिए अत्यधिक श्रम किया। आधुनिक अभिजनों ने उनमें 'रेनेसाँ' का नव-प्रवर्तक देखा।

यहीं पर बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय का स्मरण प्रासगिक है। बकिम ने आनदमठ' जैसे उपन्यास लिखे और सन्यासी-विद्रोह जैसी राजनैतिक घटनाओं की मीमासा की। प्रसिद्ध राष्ट्रगीत वदेमातरम् रचा। उन्हीं बकिम की अग्रेजी राज के बारे में यह व्याख्या थी कि वह दैवी इच्छा से भारत के शुभ के लिए ही आया है। यह बोध उस काल खंड का है जब अग्रेज भारत की समाज-रचना कृषि शिल्प प्रौद्योगिकी विद्या-सस्था आदि को देशभर में नष्ट कर चुके थे। लेकिन जन-जीवन का व्यापक क्षय और विनाश करने वाला ब्रिटिश राज ऐसे शक्तिशाली लोगों को पूर्ववर्ती इस्लामी त्रास से मुक्ति दिलाने वाले वरदान के रूप में दिख रहा था। ये सब भारत के मेधावी नागरिक थे। देशभक्ति और सस्कृति-रक्षा की भावना इनमें कम नहीं थी। किंतु बृहत् सामाजिक जीवन के विध्वस का या तो इन्हें पर्याप्त ज्ञान नहीं था या फिर विध्वस इन्हें अपनी या अपने जैसों की निजी क्षति न होने के कारण उतना पीडाप्रद नहीं लगता था। निजी अनुभव निजी दैहिक मानसिक स्तर पर भोगा हुआ यथार्थ ही इन्हें सामाजिक यथार्थ का प्रयाप्त प्रतिनिधि दृष्टात लगता था। बृहत् समाज के दु खों का राजनैतिक ऐतिहासिक सदर्भ पहचानना उन्हें आवश्यक नहीं लगता था। सब परपरागत अर्थ में विरक्त भी नहीं थे। क्योंकि परपरा में तो गुरुतम निजी दु:ख से भी विचलित न होने का आदर्श रहा है जबकि ये सब निजी दु:खों के दारुण अनुभवों से ही महत्वपूर्ण सामाजिक निष्कर्ष निकालते दिखते हैं।

स्वामी विवेकानंद का व्यक्तित्व कई अर्थों में इससे भिन्न था और प्रतिभा

शास्त्र-ज्ञान एव सवेदना मे भी ये अधिक उन्नत थे। अत उनका स्मरण बहुत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। हिन्दु धर्म और भारतीय सस्कृति के ये समर्थ प्रवक्ता सन्यासी बने और शायद आज सबसे अधिक पुस्तकें जिन आधुनिक भारतीय विचारकों की पढी जाती हैं उनमें प्रमुख हैं विवेकानद और महात्मा गाधी।

हम स्वामी विवेकानद में गहरा और उत्कट देशप्रेम व्याप्त पाते हैं। शास्त्रों का ज्ञान भी उन्हें था ही। श्री रामकृष्ण परमहस के वे सर्वप्रमुख शिष्य थे। श्री रामकृष्ण का शरीरान्त १५ अगस्त१८८६ ईस्वी को हुआ। २६ मई १८९० को विवेकानद ने वाराणसी के श्री प्रमदादास मित्र को एक लबा पत्र लिखा। उसमें कहा यह निश्चय ही अपराध हो गया कि भगवान श्री रामकृष्ण परमहस के शरीर को चिताग्नि में समर्पित कर दिया गया जबकि उसे समाधिस्थ किया जाना उचित होता। उनके राख-फूल सुरक्षित हैं। अच्छा हो यदि वे पवित्र गगा तट पर जहा पर वे साधना किया करते थे वहीं स्थल निर्मित कर सुरक्षित भूमिस्थ कर दिये जायें इससे उस अपराध का कुछ मार्जन हो जायेगा। उन अवशेषों की श्री परमहस के आसन की एव चित्र की पूजा मठ का नित्य नियम है। ब्राह्मणवशीय एक सन्यासी रात-दिन इसी कार्य हेतु नियुक्त है। पूजा का खर्च दो महान् भक्तों द्वारा उठाया जाता है । कितनी पीडा की बात है कि उनकी स्मृति के लिए अभी तक बगाल से धन नहीं एकत्र हो सका जिनके जन्म से यह बगाली जाति पवित्र हो गई है और जो पश्चिमी सस्कृति के सासारिक आकर्षण से भारतीयों को बचाने के लिए पृथ्वी पर आए तथा इसीलिए जिन्होंने अपने अधिकाश सन्यासी-शिष्य विश्वविद्यालयों से चुने।

स्मृति स्थल हेतु अपेक्षित भूमि लगभग पाच-सात हजार रूपयों में मिलेगी। फिर उस पर कुछ आश्रम बनाना होगा। श्री रामकृष्ण के सन्यासी शिष्यों के मित्रों और सरक्षकों में से एक मात्र अब आप ही हैं। सयुक्त प्रात (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में आपकी प्रसिद्धि है पद है और परिचय-क्षेत्र है। आप इस कार्य को उचित मानें तो इसके लिए धन एकत्र करने की कृपा करें। मैं आपके साथ द्वार-द्वार चलकर इस श्रेष्ठ कार्य हेतु भिक्षा याचना को उद्यत हू। उसमें तनिक भी लज्जा कैसी ? शायद आप कहें कि सन्यासी को इच्छाए क्यों ? मेरा उत्तर होगा भगवान श्री रामकृष्ण परमहस का नाम उनका जन्म-स्थल एव साधना-स्थल विश्व में सर्वत्र प्रसिद्धि पाए इसके लिए मैं चोरी-डकैती तक करने को तैयार हू, क्योंकि मैं उनका सेवक दास हू, मैं इस स्मृति स्थल के निर्माण हेतु ही कोलकता लौटा हू। अगर आप कहें कि स्मारक काशी में हो तो निवेदन है कि उन्होंने साधना तो यहा कोलकते में गगा-तट पर की थी। मेरी

बुद्धि के अनुसार कुलीन घरों के ये अच्छे सुशिक्षित मेरे साथी युवा सन्यासी यदि श्री रामकृष्ण के आदेशों को पूर्ण करने हेतु जीवन समर्पित करने पर भी उस कार्य में आश्रय और सहायता के अभाव में विफल रहे तो यह हमारे देश का दुर्भाग्य है।

प्रमदादास मित्र ने इसका निराशाजनक उत्तर दिया। स्पष्ट इससे विवेकानंद को असह्य वेदना हुई। वेदना की बात भी थी। निस्ससदेह तब तक बगाल दरिद्र और कगाल किया जा चुका था परंतु इतनी कम धनराशि उस व्यक्ति के स्मृति-स्थल हेतु न जुट पाये जिसके पास केशवचद्र सेन गिरीशचद्र घोष ईशान चद्र मुखोपाध्याय बलराम बोस शभुनाथ मल्लिक मणिमोहन मल्लिक जैसे सपन्न लोग आते-जाते थे तो यह प्रसंग आर्थिक दारिद्र्य का नहीं वैचारिक दारिद्र्य का ही दिखला है। या तो यह बात सही नहीं है कि बगाल में भी श्री रामकृष्ण परमहस की ख्याति उनके जीवन काल में ही दूर-दूर तक फैल चुकी थी और शायद ऐसा रहा हो कि १५ २० युवाओं के सिवाय उनके सच्चे प्रशसक लगभग नगण्य थे या फिर यह पूरी तरह बौद्धिक आध्यात्मिक दारिद्र्य की दशा का फल है कि इतनी धनराशि न जुट पाये।

इस दुर्दशा ने विवेकानद को हिला दिया। उन्हें लगा कि क्या अब इस देश के भीतर से स्वत कुछ नहीं हो सकेगा? तो वे इस देश को जानने को निकल पडे। परिव्राजक यायावर सन्यासी विवेकानद निरतर घूमते रहे। सर्वत्र उन्हें प्रेम मिला श्रद्धा मिली। किन्तु बस अधिक ठोस सहायता नहीं। फिर वे कन्याकुमारी की सुप्रसिद्ध *विवेकानद शिला पर ध्यानस्थ हुए। ध्यान का उनका सुदीर्घ साधना-क्रम था। वहां भी* अद्वितीय अनुभूति हुई। कुछ ही दिनों बाद लगा श्री रामकृष्ण परमहस समुद्र के बीचोबीच हैं और बुला रहे हैं। यह विदेशयात्रा का सकेत बना। शिकागो विश्वधर्म सभा वस्तुत स्वामी विवेकानद के विदेश जाने का कारण न थी। कारण उससे कहीं बहुत बडा बहुत गहरा और बहुत अलग था। योरप-अमेरिका की समृद्धि देखी। सगठन देखा। शक्ति देखी। प्राणवत्ता देखी और बहुत प्रभावित हुए। उन प्रभावों के ओजस्वी उत्साहमय भावपूर्ण काव्यात्मक वर्णन उनके पत्रों मे हैं। उन पत्रों में प्रगाढ देशप्रेम देश के वैविध्य की समझ लोक व्यवहार की समझ भी है और अतर्बाह्य दारिद्र्य का दु.ख भी। धर्म के मामले में वे अमेरीकियों को अव्यावहारिक बताते हुए ६ मार्च १८९५ को अमरीका के अलासिंघा पेरुमल को लिखते हैं - धर्म में मात्र हिन्दु व्यावहारिक हैं बाकी (अमेरिकी) लोग धन कमाने में व्यवहारपटु हैं। इसी से मैं यहां कुछ निश्चित पाकर ही लौटना चाहता हू। धीरे धीरे शुरु करो अपना आधार पहचानो और बढो बढते जाओ मेरे वीर बच्चों! एक दिन हमें प्रकाश दिखेगा। भारतीयों को दी गई उनकी प्रेमपूर्ण

धिक्कृति में गहरी पीडा है ममत्व है प्रेम है। उनके निजी अनुभवों से निकला निष्कर्ष यह है कि भारत का उद्धार तभी सभव है जब इसकी सेवा हेतु बाहर से समर्पित व्यक्ति आए और बाहर से धन आए। इस प्रकार मुख्यत विदेशी धन से रामकृष्ण मिशन का प्रारभिक विकास होता है।

श्री रामकृष्ण परमहस को वे क्षण भर भी नहीं भूलते। किन्तु व्यवहार-कुशल बुद्धि से वे देखते हैं कि कहा किस तरह का सवाद अर्थमय होगा सम्प्रेष्य होगा। अत पश्चिम में वे तर्कपूर्ण प्रतिपादनों से श्री रामकृष्ण की विचारधारा का प्रसार चाहते हैं। सन् १८९५ में ही अपने एक गुरु भाई को लिखे पत्र में वे स्पष्ट कहते हैं – 'वास्तविक वस्तु है श्री रामकृष्ण द्वारा सिखाया गया धर्म। हिन्दू उसे हिन्दू धर्म कहे तो कहने दो। दूसरे उसे अपने ढग से पुकारेंगे। हमें शनै शनै पथ पर बढना है। मुझे लौटने को कहने से लाभ नहीं। यहा किया गया थोडा सा कार्य भारत में कई गुना प्रभाव उत्पन्न करेगा। फिर यहा के लोग धनी हैं और साहसपूर्वक देते हैं। हमारे यहा तो न धन है न दानशीलता का यह साहस। २९ सितम्बर १८९४ को अलासिंघा पेरुमल को वे लिखते हैं हमारा कार्यक्षेत्र भारत है। हमें अपना सुदृढ आधार बनाना है। क्षण भर भी मन्द मत पडो। हिन्दू समाज मात्र आध्यात्मिक लोगों के लिए सगठित है तथा औरों के प्रति कठोर व्यवहार करता है। ऐसा क्यों ? जो ससार के सुखों का कुछ उपभोग करना चाहते हैं वे कहा जाए ? समाज में इन सबका भी स्थान होना चाहिए। पहले धर्म के सच्चे सिद्धातों को समझना होगा। फिर उन्हें समाज में क्रियान्वित करना होगा।

६ अप्रैल १८९७ के अपने पत्र में वे भारती' की विदुषी सपादिका सरला घोषाल को लिखते हैं मैं सदा से यह मानता रहा हू कि हमारा उत्कर्ष तब तक न हो पायेगा जब तक पश्चिमी लोग हमारी सहायता के लिये आगे नहीं आते। हमारे इस देश में गुणों का सम्मान नहीं है धन की शक्ति नहीं है और सर्वाधिक शोचनीय यह है कि तनिक-सी भी व्यवहार बुद्धि नहीं है। मैंने अपने अल्प जीवन में भी यह अनुभव किया है कि श्रेष्ठ अभिप्राय सकल्प निष्ठा और अगाध-अनत प्रेम से विश्व-विजय सभव है। इन गुणों से सपन्न एक अकेली आत्मा करोडों पाखण्डियों और जड क्रूरबुद्धियों के तमसावृत सकल्पों को विनष्ट कर सकती है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि पश्चिम से व्यक्तियों और धन के आये बिना हमारा कल्याण असभव है। इस प्रकार विवेकानद पश्चिम से धन लाए और व्यक्ति लाए – इन्हीं में थीं मार्गरेट नोबुल यानी भगिनी निवेदिता। हम पाते हैं कि भगिनी निवेदिता महान वैज्ञानिक जगदीशचद्र बसु की वैज्ञानिक पुस्तकों के सपादन में सहायता करती हैं बृजेन्द्र नाथ सील की रचनाओं के

अनुवाद में भी। ऐसे तथ्यों से कम से कम हमारे भद्रलोक हमारे अभिजात वर्ग के बारे में यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने समाज की प्रतिभा व शक्ति को पहचानने और आगे बढाने का सामर्थ्य वे खो चुके हैं। विश्व का कोई भी स्वस्थ समाज अपने महत्त्वपूर्ण मौलिक सृजनात्मक कार्य विदेशियो की सहायता से सपन्न नहीं किया करता।

जहा तक धन की बात है हम पाते हैं कि सोलहवीं शती के आरम्भ से सत्रहवीं शती ईस्वी के अत तक उत्तर भारत में कबीर रैदास दादू आदि सतो को सपन्न शिष्य मिलते हैं। तुलसीदास को अवश्य अपने ही पडित बधुओ से सर्वाधिक प्रताडना सहनी पडती है। पर साथ ही उन्हें व्यापक सहयोग भी मिलता है। अपार लोकप्रियता मिलती है। किंतु राजाओं और सपन्न जनों द्वारा गुरु भाव रखे जाने पर भी इन सतो के पास ऐसे पर्याप्त साधन स्रोत पहुचे नहीं दिखते जिनसे वे दक्षिण भारत के मदिरों जैसे किसी भव्य विद्या केन्द्र या सस्कृति केन्द्र का निर्माण करा सकें। लगता है कि उस अवधि में ही हमारे सपन्न और शक्तिशाली वर्ग की प्राथमिकताए बृहत समाज से अलग बन चुकी थीं। बृहत समाज ने अवश्य इन सतों को यथाशक्ति सहयोग दिया साधन दिए। सभवत इसका कारण यही था कि तब तक बृहत् भारतीय समाज के पास कुछ साधन-स्रोत बचे रहे थे। अंग्रेजों ने उनका सुनियोजित विनाश किया। देश के जन साधारण में तो मौलिक दारिद्र्य बढता ही गया किन्तु नए अभिजात वर्ग के पास कुछ धन व शक्ति तो रही ही होगी। लेकिन ऐसा लगता है कि यह वर्ग मानसिक दारिद्र्य से त्रस्त और मलिन हो गया था जिसका अनुभव विवेकानद को हुआ।

विवेकानन्द से तत्काल पूर्व तेजस्वी स्वामी दयानद को आवश्यक साधन स्रोत एव जनाधार मिला था। वेदों के गहरे अर्थों की तेजस्वी व्याख्या और उनकी परम प्रामाणिकता का प्रतिपादन करने के साथ-साथ ही स्वामी दयानद ने गो-रक्षा आदोलन को भी भरपूर समर्थन तथा सहयोग दिया। किन्तु साथ ही व्यापक हिन्दू समाज की समकालीन सास्कृतिक बुद्धि के प्रति उनमें एक गहरे दुःख का भाव भी था। प्रतिमा पूजन के खण्डन में उन्हें भारतीय समाज की शक्ति दिखती थी। मूर्तिपूजन और एकपथवादी कठोर पथानुशासन के मध्य आधारभूत अतर क्या है यह वे शायद कभी पहचान नहीं पाये।

विवेकानद और दयानद जैसे लोगों में भारतीय समाज के प्रति ममत्व का प्रेम था। विवेकानन्द मे तो भारतीय नर-नारियों पर बहुत गहरा विश्वास भी था। किंतु देश के बारे में जो छवि जो प्रतिभा नवप्रबुद्ध वर्ग ने रच दी थी उसके प्रभाव से ये प्रसिद्ध और प्रतिभाशाली लोग भी बच नहीं पाए।

देश की वह प्रतिमा परपरागत नहीं थी न ही भारतीय इतिहास के तथ्यों के अनुरूप थी। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में वह प्रतिमा अग्रेजों द्वारा और उनकी प्रेरणा से परिश्रमपूर्वक गढी गई। बगाल के नवप्रबुद्धों ने इसमें बहुत आगे बढकर भूमिका निभाई। सस्कृत तथा भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की भी पढाई हो इसका राममोहन राय जैसों ने प्रचड विरोध किया। उनका मत बन गया था कि ये भाषाए मात्र स्मृति की अतीत के ज्ञान की वाहक हो सकती हैं। पश्चिम का ज्ञान तो पश्चिम की भाषा से ही प्राप्त हो सकता है। यह एक अनोखी मान्यता थी कि स्वय पश्चिम तो भारत का और पूर्व का ज्ञान अपनी ही भाषा में प्राप्त करे परतु भारत को पश्चिम का ज्ञान पश्चिम की ही भाषा में सीखना होगा। इस आग्रह के पीछे निश्चय ही भारतीय भाषा भारतीय बुद्धि भारतीय जन के प्रति एक हीनता का भाव रहा। यह भारत के प्रति किसी द्वेष या द्रोह की बात नहीं है। अपितु भारत के प्रति ऐसे बोध को आत्मसात् कर लेने की दशा है जिसमें भारत को विश्व के अन्य समाजों से विशेष हीन विशेष पतित और निकृष्ट मानने का आग्रह है। इस बोध की अभिव्यक्ति हम उन दिनों के अनेक प्रसिद्ध लोगों के कथनों में पाते हैं।

केशवचद्र सेन ने भारत के बारे में ब्रिटेन में ही कहा - यदि आप आज भारत को देखें तो आप पायेंगे - दूर-दूर तक फैली मूर्ति-पूजा एक ऐसी जाति व्यवस्था जैसी और कहीं नहीं मिलेगी जिज्ञासारहित प्रकृति वाली सामाजिक और पारिवारिक सस्थाए तथा अत्यन्त जुगुप्साजनक सीमा तक विद्यमान अज्ञान पूर्वग्रह दोष और अधविश्वास। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सन् १९०० के आसपास लिखा अस्तित्व के आतरिक सत्य से सम्बन्ध विच्छिन्न कर हमारे देशने अविवेक के प्रचड भार से दब कर परिस्थितियों की भीषण दासता स्वीकार कर ली। सामाजिक व्यवहार राजनीति धर्म और कला के क्षेत्र में हम लोग सृजनात्मकता से रहित हो गये तथा एक क्षयशील परपरा अपनाकर हमने अपनी मानवता की अभिव्यक्ति का ही अत कर दिया।

देश के बारे में यह छवि रायल बगाल सोसायटी तथा बगाल एशियाटिक सोसायटी जैसी अनेक सस्थाओं एव प्रवृत्तियों से क्रमश प्रचारित होती रही। राजेन्द्रलाल मित्र जैसे विद्वानों ने अपनी समर्पित प्रतिभा और परिश्रम के द्वारा इसे रूपायित करने में विशेष योगदान दिया। राजेन्द्रलाल मित्र एक देशभक्त थे। वे भारत को इग्लैंड जैसा तथा भारतीयों को अग्रेजों जैसा बनते देखना चाहते थे और इसी में देश का गौरव मानते थे। आर्य जाति सबधी भाषा-वैज्ञानिक परिकल्पनाए और गाथाए इस सम्मोहन का प्रेरक तत्व बनीं। इन सब तत्वों के सम्मिलित परिवेश ने ही तत्कालीन नवप्रबुद्ध भारतीयों

विशेषकर बगाली भद्रलोक का वह मानस रचा।

भारत की छवि नई 'इन्डोलॉजी' की रचना थी। इसमें किसी व्यक्ति को दोषी ठहराने की बात नहीं है अपितु तत्कालीन भद्रवर्गीय परिवेश और मनोदशा के प्रतिनिधि रूपों का ही सकेत यहा है। भारत के हार जाने और पराधीन हो जाने की चिंता का एक उल्लेखनीय शक्तिशाली वर्ग में यह रूप बनते जाना कि विजेता के समक्ष समर्पण और दासता में ही स्वाधीनता दिखने लगे विचार एव विश्लेषण का विषय है निंदा या धिक्कार का नहीं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसी सर्जनात्मक प्रतिभाओं ने एक विचित्र आत्मग्लानि आत्मदैन्य और उसी के साथ योरपीय लक्ष्यों की पूर्ति में ही भारत का आत्मगौरव देखने का बौद्धिक परिवेश रचा उसमें ही जवाहरलाल नेहरू जैसे पश्चिमीकृत व्यक्तियों का उभरना और प्रतिष्ठित होना सभव हुआ।

चेतना-विकासवाद की अपनी विशिष्ट अवधारणाओं के फलस्वरूप जवाहरलाल नेहरू जैसे लोग पश्चिम के चिंतकों में सर्वाधिक विकसित चेतना देखते थे और पश्चिम के चिंतकों के अनुगत समाज को सर्वाधिक विकसित समाज। अत पश्चिम के द्वारा रची गई आधुनिक शिक्षा ही स्वभावत जवाहरलाल नेहरू के लिए प्रामाणिक ज्ञान का एकमात्र माध्यम थी। इसीलिए वे मानते थे की भारतीय ग्रामीणों में आधुनिक शिक्षा के पर्याप्त प्रसार बिना ज्ञान और गुण हो ही कैसे सकते हैं। इसीलिए वे भयकर अज्ञान और गुणहीनता की इस दशा से करोड़ों भारतीयों का उद्धार करना तथा उन्हे अपने अनुरूप रूपातरित करना अपने नेतृत्व में आधुनिक शिक्षित वर्ग द्वारा सचालित राज्य का प्रमुख कर्तव्य मानते थे।

सृजनात्मक बुद्धि के इस अभाव का परिणाम था कि भारतीय इतिहास भारतीय शास्त्र धर्मग्रथ एव वेदों तक में वे सब बातें बूझी-बताई जाने लगीं जो हमें अग्रेजों के अनुगत बनने के योग्य सिद्ध करें। इसमें विशेष बात यह भी थी कि स्वय अग्रेजों के बारे में हमें लगभग कुछ भी नहीं ज्ञात था। न उनका इतिहास न उनकी समाज व्यवस्था न उनके लक्ष्य। वे अपने बारे में जो भी यहा हमें बता देते उसे ही हमारे प्रबुद्ध लोग ब्रह्म सत्य मानने लगे। साथ ही स्वय के वैसे बन सकने की सुपात्रता सिद्ध करने लगे। यहां तक कि वेदों में गोमास-भक्षण की बात है यह सिद्ध करने के लिए राजेन्द्रलाल मित्र जैसे विद्वानों ने अद्‌भुत परिश्रम किया। अपनी नृतत्त्वशास्त्रीय एव राजनैतिक मान्यताओ के कारण अग्रेज मानते थे कि उनसे भिन्न अन्य समाज सभ्यता के विकास की पूर्व अवस्था मे हैं और अपने इतिहास के कारण वे मानते थे कि आदि दशा में मनुष्य नरमास खाते

थे तो यहा राजेन्द्रलाल मित्र जैसे परिश्रमी विद्वान यह सिद्ध करने में भी जुट गये कि हमारे यहा नरबलि प्रथा थी एव नरमास खाया जाता था। ऐसी बातों के प्रचार से ऐसा वातावरण बना कि अपने समय में विवेकानद भी कह गये कि एक समय था जब भारत में पाच ब्राह्मण मिलकर एक गाय को चट कर जाते थे। इसकी एक परिणति आचार्य विनोबा भावे में देखी जा सकती है। विनोबा भावे गीता प्रवचन में कह गये कि वैदिक ऋषि गोमास खाते थे और फिर इस कथन के लिए प्रमाण दिया सातवीं शताब्दी ईस्वी में भवभूति रचित उत्तर रामचरितम्' नाटक के उस अश का जिसका अर्थ भी अस्पष्ट है। इससे हमारे विद्या के स्तर में आया ह्रास व प्रमाद ही झलकता है।

स्वाधीनता की चिन्ता और विचार जहा हमारे नवप्रबुद्ध वर्ग में आक्रमकों के प्रतिपाद्नों के प्रति ऐसे दास्य भाव को गहरा करने की परिणति को प्राप्त हुआ वहीं बृहत् भारतीय समाज में स्वाधीनता की चिन्ता इससे विपरीत रूप में ही प्रकट होती रही। यह बृहत् समाज अपने सास्कृतिक प्रतीकों और आदर्शों को केन्द्र बनाकर बारम्बार स्वय को सगठित करने का प्रयास करता है। १८५७ ई के स्वतत्रता सग्राम में भी ऐसा ही प्रयास किया गया था। सन् १८८० से १८९४ ई तक देशभर में विशेषत उत्तर और मध्य भारत में प्रबल गोरक्षा आदोलन उठा। गोरक्षिणी सभाओ की व्यापक शृखला स्थापित हुई जिसमें हिन्दू, मुसलमान ईसाई धनी निर्धन नर-नारी बाल-वृद्ध सभी सम्मिलित हुए। अपनी सास्कृतिक अस्मिता चेतना और परपरा से जुडे प्रतीकों एव रूपों के साथ बृहत् समाज के ऐसे प्रयासों में भारत को हीन मानने या भारतीय सस्थाओं प्रवृत्तियों एव आदर्शों के प्रति ग्लानि का भाव होने के कोई भी चिन्ह नहीं दिखते।

महात्मा गाधी में ऐसा हीनता और ग्लानि का भाव लेशमात्र नहीं था और उनके नेतृत्व में पूरा देश एक होकर उमड पडा। देश के बारे में महात्मा गाधी का विचार नवप्रबुद्ध लोगों से नितात भिन्न था। वे मानते थे कि इस देश के बृहत् समाज में भरपूर गुण हैं और कुप्रवृत्तियों तथा विकृतियों के होते हुए भी आतरिक सामर्थ्य है। यदि इन्हें अपनी श्रेयस्कर प्रवृत्तियों को सगठित करने और अभिव्यक्ति करने के वैसे ही पर्याप्त साधन स्रोत फिर से दे दिये जाए तो ये लोग उसी तरह एक श्रेष्ठ सभ्यता पुन रचने लगेंगे जैसे की हजारों साल से रचते रहे हैं। कुछ लडाई- झगडे तो समय-समय पर होते ही रहेंगे उतार चढाव भी होंगे थोडा वैर-विरोध कुछ अनीति भी शायद रहे पर उन सबको अनुचित और अधर्म माना जाएगा मर्यादा का उल्लघन माना जायेगा तथा उनकी निंदा की जायेगी। इसलिए आवश्यक है इन्हें पुन आत्मगौरव एव आत्मप्रतिष्ठा

हेतु आवश्यक वे साधन स्रोत वापस लौटाना जो कुछ तो इस्लामी प्रभुत्व काल में लेकिन पूरी तरह ब्रिटिश साम्राज्य के काल में इनसे छल बल से छीन लिये गये। यह महत्त्वपूर्ण मात्र इतना है कि गांधीजी को भारतीय जन और भारतीय धन के सामर्थ्य पर पूरा भरोसा था तथा उसी दृष्टि से उन्होंने अपने अद्वितीय संगठन और सामर्थ्य के बल पर देश व्यापी विराट संगठन और आंदोलन खड़ा किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वाधीनता की चिंता व विचार की दो मुख्य धारा ब्रिटिश साम्राज्यकाल में रहीं। एक धारा बृहत समाज की थी जिसके सबसे सशक्त नेता गांधीजी हैं। दूसरी धारा भारत में क्रमश पराये होते जा रहे अभिजन एवं *शक्तिशाली जन हैं जो आक्रमकों के प्रति विशेष समर्पण एवं दास्य भाव की एक लंबी* परंपरा के वाहक हैं। स्पष्ट है कि भारत के स्वाधीनताको चाहनेवाले बृहत् समाज की मुख्य टक्कर इन अभिजनों से नहीं थी अपितु पराधीन बनाने वाले साम्राज्य से थी। उस साम्राज्य को समझने से हमें इस दास्य भाव वाले अभिजन समुदाय के भी मानस के कारक तत्त्वों का कुछ अनुमान हो सकेगा।

आक्रमक अंग्रेज और उनका समाज तथा सभ्यता

सन् १५०० ई के बाद से विश्वभर में यूरोपीय जातियां अपना प्रभाव बढ़ाने लगीं और लगभग संपूर्ण गैर यूरोपीय विश्व को किसी न किसी रूप में अपने नियंत्रण या प्रभाव में लाने में सफल हुईं। *यह सफलता यद्यपि उन्हें सोलहवीं शती ई से ही मिल पाई* किन्तु उनकी अपनी सभ्यता-दृष्टि बहुत पहले से ऐसी ही रही है।

प्लेटो के समय से ही यूरोपीय दृष्टि यह है कि थोड़े से लोग मुख्यत एक चिंतक या उद्धारक और उसके अनुरूप सधे शिष्य या अनुयायी तथा उन्हें मिलाकर बनी संस्था या निकाय ये ही सत्य और संस्कृति के वाहक होते हैं। शेष समाज में सत्य और संस्कृति के सर्वोच्च रूप को ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं होता और *The good* and the Beauty 'द गुड' और द ब्यूटी की भी समझ नहीं होती समझने की क्षमता नहीं होती। अत यदि उनकी बुद्धि और मन पर नियंत्रण नहीं रखा गया तो बुराई फैलेगी पाप फैलेगा बर्बरता फैलेगी। इसलिए शक्ति का केन्द्रीकरण अत्यावश्यक है। उसी से सभ्यता की रक्षा हो सकती है।

सभ्य वे हैं जो शक्तिशाली हैं शासक हैं। अपने समाज के शेष लोग बर्बर हैं। उन्हें दास बनाकर रखना चाहिए। तभी सभ्यता का विकास होता है सुव्यवस्था संभव होती है। अपने अतिरिक्त अन्य समाज संपूर्णत बर्बर होते हैं अंधकार ग्रस्त होते हैं।

उन्हें अपने अधीन लाकर कुछ प्रकाश का सचार करना चाहिए। यह सम्पूर्ण पृथ्वी हमारे अपने द्वारा प्रकाश फैलाये जाने के लिए है। हमारे द्वारा विश्व के सभी समाजों का उद्धार होना है। उनका उद्धार इसमें है कि ये सभ्यता के टूल औजार बन जाए। इस प्रकार सभ्यता का अर्थ है यूरोपीय शासकों के विचार व व्यवहार। विश्व के समाजों के उद्धार का अर्थ है उन्हें इस सभ्यता का औजार बनाया जाना।

अरस्तू ने स्पष्ट कहा है सपत्ति मनुष्य का औजार है और स्वय औजार मनुष्य की सपत्ति है। सभ्यता का अर्थ है सपत्ति की निरतर वृद्धि व्यवस्था और रक्षा। अपनी सपत्ति की रक्षा औजारों के द्वारा की जाती है। दास एव सेवक भी ऐसे ही औजार है। उनसे काम लेते हुए सपत्ति बढाई जाती है। इस प्रकार सभ्यता का अर्थ है - सपत्ति विस्तार। शासकों यानी सभ्यों के अतिरिक्त शेष सबको सपत्ति का औजार बनाना है। यही सभ्यता का विस्तार है। समय एव आवश्यकता के अनुसार औजार के रूप बदलते रहते हैं।

यहीं यह भी स्मरणीय है कि यूरोपीय शासक सामान्यत अन्य समाजों को सीधे अपने द्वारा उद्धार योग्य नहीं मानते। ऐसे छोटे कामों के लिए उनके औजार या उनके अर्धविकसित लोग ही पर्याप्त है। सभ्य शासक इस उद्धार व्यापार का नियत्रण-निर्देशन ही करते हैं। इसी दृष्टि के अतर्गत १६ वीं शती ईस्वी में विविध ईस्ट इण्डिया कपनी बनायी गईं। जो लोग अपेक्षाकृत गरीब य मध्यम वर्ग के होते थे और जिनमें जोखिम उठाने का साहस व धन की अभिलाषा होती थी उन्हीं यूरोपीयों को शेष विश्व की खोज करने तथा वहा आधिपत्य जमाकर यूरोपीय सभ्यता का प्रकाश फैलाने भेजा गया। यहीं प्रसगवश स्मरणीय है कि कार्ल मार्क्स ने भी यही माना था कि एशिया अफ्रिका के देशों के समाजों का उद्धार तो यूरोप का वर्किंग क्लास' - औद्योगिक श्रमिक वर्ग करेगा। कार्ल मार्क्स यूरोपीय सभ्यता के ही एक सबल प्रतिनिधि थे।

अपनी विश्व दृष्टि के प्रति आस्था सकल्प और मनोबल से तथा उसके अनुरूप सस्थाए व्यवस्थाए खडी करते हुए यूरोपीय विश्व में फैले साधन या शिक्षा या विज्ञान प्रौद्योगिकी की दृष्टि से वे उन दिनों विश्व के अन्य समाजों से पीछे ही थे आगे नहीं। इस यथार्थ को न जानने के कारण हमारे बहुत से विद्वान भी तरह तरह के भ्रान्त निष्कर्षों पर पहुचते रहते हैं। यहा हम भारत को सभ्य बनाने के लिए आगे बढ़कर सफल होने वाले इग्लैंड के ही तथ्यों का इस दृष्टि से स्मरण कर लें।

विज्ञान एव प्रौद्योगिकी के सदर्भ में सर्वप्रथम तो यही स्मरणीय है कि आधुनिक विज्ञान की अधिकाश उपलब्धियां मात्र एक सौ वर्ष पुरानी हैं - कार वायुयान

मोटरलारी बिजली आदि एक सौ वर्ष पहले नहीं थे। रेल भी १५० वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। १६ वीं शताब्दी में जब अंग्रेज भारत में अपना विस्तार कर रहे थे उस समय तक इंग्लैंड में वहां की आवश्यकता की तुलना में बहुत कम लोहा होता था। स्वीडन रूस आदि से आयात कर वे काम चलाते थे। ब्रिटेन का कच्चा लोहा हल्के किस्म का था और १७०० ईस्वी के आसपास से पत्थर के कोयले का प्रयोग वे इस्पात बनाने के काम में करने लगे थे पर वह कोयला भी घटिया किस्म का था। जे एम हीथ ब्रिटेन के एक उद्योगकर्मी थे। वे बाद में शेफील्ड में लोहे और इस्पात के एक प्रमुख निर्माता बने। पहले १८२४ ई में उन्होंने लिखा - यह सुविदित है कि अपनी आवश्यकता के लिए वांछित लोहे के लिए इंग्लैंड पूरी तरह विदेशों पर निर्भर है। पिछले वर्ष मात्र इस्पात बनाने के लिए इंग्लैंड में १२ हजार टन से अधिक विदेशी लोहे का आयात करना पड़ा। हर वर्ष 'सोसायटी फार एनकरेजमेंट आफ आर्ट्स' इंग्लैंड में इस्पात बनाने के योग्य इंग्लिश लोहा तैयार किये जाने हेतु पुरस्कार देने की घोषणा करती है और आज तक उस पुरस्कार का कोई दावेदार नहीं हुआ। लगता है कि कभी कोई होगा भी नहीं। क्योंकि इंग्लिश कच्चा लोहा ऐसे ही स्तर का है और हमारा ईंधन भी घटिया श्रेणी का है।

ड्रिल प्लाऊ' यानी वपित्र जो भारत में पुरातन काल से प्रयुक्त होता रहा है यूरोप में पहले पहल सन् १६६२ ई में आस्ट्रिया में प्रयोग में आया। इंग्लैंड में ड्रिल प्लाऊ' का पहला प्रयोग १७३० ईस्वी में हुआ पर प्रचलन लगभग ५० वर्ष बाद सन् १७८० में हुआ। सिंचाई यूरोप में कभी अधिक नहीं थी।

ब्रिटेन में शिक्षा की दशा का भी स्मरण उपयोगी होगा

१३ वीं और १४ वीं शती ईस्वी में ब्रिटेन में आक्सफोर्ड कैम्ब्रिज एवं एडिनबर्ग विश्वविद्यालय प्रारंभ हुए। १८ वीं शती ईस्वी के अंत तक ब्रिटेन में लगभग ५०० ग्रामर स्कूल थे। सोलहवीं शती ईस्वी के मध्य में वहां प्रोटेस्टेंट ईसाईयों ने सत्ता पर एकाधिकार किया था और अधिकांश कैथोलिक ईसाई मठों को बंद कर दिया तथा उनकी संपत्ति एवं आय राज्य के अधीन कर दी। तब से वहां शिक्षा एक अत्यंत सीमित वर्ग को ही दी जाती रही।

ए ई डाम्स के अनुसार प्रोटेस्टेंट क्रांति के पहले इंग्लैंड के गरीबों को पढ़ने के लिए स्कूल की सुविधा थी। उनके अनुसार उन दिनों आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय एक ईसाई पंथ का धर्मार्थ शिक्षा केन्द्र था और इंग्लैंड का वह मुख्य ग्रामर स्कूल माना जाता था जहां ईसाई तत्त्व ज्ञान चिकित्सा एवं कानून पढ़ाये जाते थे। किन्तु सोलहवीं शती

ईस्वी केमध्य से विपरीत प्रवृत्ति उभरी।

तब कुछ समय के लिए एक कानून बना कि अंग्रेजी में लिखी बाइबल चर्चों में नहीं पढी जानी चाहिए। कानून में प्रावधान था कि निजी तौर पर पढने का अधिकार उन नोबल्स को कुलीनों को एव व्यापारियों को है जो गृहस्वामी हैं किन्तु कारीगरों किसानों मालियों मजदूरों आदि के बेटों को नहीं है। इसका कारण यह बताया गया था कि धर्मग्रथ बाइबल की मुक्त व्याख्या करके वहा अव्यवस्था फैलाने की कुछ कोशिश हो रही है। उन लक्षणों को दबाना है। तब कहा गया कि 'हल जोतने वाले के बेटे को हल पकडना चाहिए कारीगर के बेटे को बाप का हुनर अपनाना चाहिए कुलीनों की सतानो को राजकाज का ज्ञान प्राप्त कर कामनवेल्थ का शासन करना चाहिए। क्योंकि हमे सभी प्रकार के लोग चाहिए और (इसीसे) सबका स्कूल जाना आवश्यक नहीं।

फिर १७ वीं शती ईस्वी केअत से कुछ नई नीति अपनायी गई। साधारण लोगों के लिए कुछ चरिटी स्कूल इस लिए खोले गए ताकि श्रमिक वर्ग की चेतना को इतना तो उन्नत बनाया जा सके कि वे ईसाई धार्मिक निर्देशों को ग्रहण कर सके। विशेषकर वेल्स में ये चेरिटी स्कूल इसलिए खोले गये ताकि गरीबों को इतनी बाइबिल पढायी जा सके कि वे रविवारी प्रार्थना में सम्मलित हो सकें और धार्मिक निर्देश ग्रहण कर सके। पर ये चेरिटी स्कूल अधिक नहीं चले। फिर १७८० ई के लगभग से 'सढे स्कूल मूवमेण्ट' शुरू हुए। उसमें भी लोकशिक्षण का मुख्य लक्ष्य ईसाइयत के प्रचार के ग्रहण करने योग्य अधिकाधिक लोगों को बनाना और हर बचे को बाइबिल पढने योग्य बनाना था। कुछ समय बाद ऐसे स्कूलों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। १८३४ ईस्वी तक अच्छे राष्ट्रीय स्कूलों में भी पाठ्यक्रम मुख्यत धार्मिक निर्देशों तक सीमित था। पढ पाना लिख पाना और अकगणित का सामान्य ज्ञान पाठ्यक्रम के लक्ष्य थे। कई स्कूलों में लिखना सिखाने की बात त्याग दी गई क्योंकि भय था कि इसके बुरे यानी राज्य के लिये हानिकारक परिणाम हो सकते हैं।

१८०२ के एक कानून में यह विधान बना कि छोटे बचों को काम पर रखने वाले स्वामी लोग सात वर्षों की एप्रेण्टिसशिप की अवधि में सेवा लेने के साथ-साथ पहले चार वर्ष उन्हें पढना लिखना और अकगणित सिखाए तथा धार्मिक निर्देश ग्रहण करने के योग्य बनाए। रविवार को एक घटा इन बचों को प्रार्थना सभा में पहुचाया जाए। किन्तु यह कानून बहुत अलोकप्रिय हुआ। उसका प्रभाव अधिक नहीं हुआ। तभी जोसेफ लकास्टर द्वारा प्रयुक्त मानीटोरियल शिक्षणविधि अपनायी गई। इसमें एण्ड्रयू बेल का भी योगदान था। उन्हीं दिनों यह माना गया कि यह विधि भारत से ग्रहण की गई। उस विधि

से लोकप्रिय शिक्षा के कार्य को बहुत सहायता मिली। ब्रिटेन में १७९२ ईस्वी में स्कूलों में पढ रहे बच्चों की सख्या ४० हजार के लगभग बताई गई है। १८१८ ई में यह सख्या ६ ७४ ८८३ तथा १८५१ ईस्वी में २१ ४४ ३७७ थी। १८०१ ई में निजी और सार्वजनिक स्कूलों कि वहा कुल सख्या ३ ३६३ थी तथा १८५१ ईस्वी में वह क्रमश बढती हुई ४६ ११४ तक जा पहुची। प्रारम में शिक्षक बहुत सक्षम नहीं थे।

सार्वजनिक स्कूलों में प्रारम्भ में अत्यल्प छात्र थे। सूसबरी के प्रसिद्ध स्कूल में जनवरी १७६७ ईस्वी में कुल तीन या चार लड़के थे। बहुत प्रयास करने पर और स्कूल का पुनर्स्सगठन करने पर एक वर्ष बाद यह सख्या २० तक जा पहुँची। १८५१ ईस्वी तक स्कूलों में गणित का नियमित अध्यापन नहीं होता था। छिटपुट अकगणित सिखायी जाती थी।

सार्वजनिक स्कूलों की चाहे जो दशा थी किन्तु आक्सफोर्ड कैम्ब्रिज एव एडिनबर्ग इग्लैंड के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय थे। १७७३ ईस्वी के बाद वहा से भारत आने वाले विद्वान यात्री न्यायाधीश आदि इन्हीं विश्वविद्यालयों के शिक्षित जन थे। १८०० ईस्वी में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की स्थिति पर एक दृष्टि यहा उपयोगी होगी। कैम्ब्रिज और एडिनबर्ग में भी स्थिति लगभग ऐसी ही थी।

सन् १८०३ में पहली बार आक्सफोर्ड मे रसायनशास्त्र के प्रोफेसर की नियुक्ति हुई। इसके पहले साहित्य विधि सगीत व्याकरण दर्शन आदि के प्रोफेसर थे। साथ ही १६२४ ईस्वी में एनाटमी के और १६६९ ई में 'बॉटनी के प्रोफेसर की नियुक्ति हुई थी। उन्नीसवीं शती के आरम में आक्सफोर्ड से सलग्न १९ कोलेज और ५ सभा कक्ष थे। कालेजों में कुल ५०० फेलो थे जिनमे से कुछ प्रत्येक कालेज में अध्यापन भी करते थे। कुल १९ प्रोफेसर (विभागाध्यक्ष) १८०० ई में थे। १८५४ में इनकी सख्या २५ हो गई।

उन्नीसवीं शती ईस्वी के आरभ में जो मुख्य विषय पढाये जाते थे वे थे ईसाई पथ विद्या (थिओलॉजी) एव क्लासिक्स। लिटरेट ह्यूमेनिअर्स' नाम से क्लासिक्स की परीक्षा होती थी जिसमें ग्रीक व लैटिन भाषा और साहित्य मॉरल फिलोसॉफी छन्द अंलकार शास्त्र एव तर्क शास्त्र सम्मिलित थे। गणित विज्ञान एव भौतिकी के तत्वों से सबधित प्रश्नपत्र भी परीक्षा में होते थे। विधि चिकित्सा भूगर्भ शास्त्र आदि पर व्याख्यान उपलब्ध थे।

१८०५ ई के आगे इस विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो की संख्या बढने लगी। उन्नीसवीं शती के आरभिक वर्षो में कुल छात्र ७६० थे १८२०-२४ में यह संख्या

१३०० तक जा पहुची। कालेजों के पास अपनी सपत्ति थी विशेषकर भूमि और विद्यार्थियों से प्राप्त धन।

विश्वविद्यालयों का काम इसी तरह के धन से चल रहा था। जहा ब्रिटिश डच पुर्तगाली और फ्रेंच लोगों के समूह सीधे या तो १६वीं-१७वीं शती मे बनायी अपनी विविध ईस्ट इडिया कपनियों के नाम से भारतीय क्षेत्र एव भारतीय महासागर-क्षेत्र में अपना प्रभाव आधार स्थिति सुदृढ करने में लगे थे वहीं यूरोपीय विद्वान इस क्षेत्र की सभ्यता को समझने में निरतर प्रवृत्त थे ताकि उस ज्ञान से लाभ उठाकर इस सभ्यता को अपने हिसाब से ढाल सकें और प्रभावित कर सके। इनमे विविध ईसाई मठो के पथ प्रचारक एव पथाधिकारी प्रमुख थे विशेषकर जेसुइट लोग। ये लोग भारतीय विज्ञान सामाजिक प्रथाएँ रीति रिवाज तत्त्वज्ञान एव धर्म-पथों को समझने हेतु सक्रिय थे। कुछ अन्यों की रुचि अधिक राजनैतिक ऐतिहासिक तथा आर्थिक विषयों में थी। वे कथात्मक' एव उत्तेजनापूर्ण पूर्व के अपने अनुभव और कथाए लिखते थे। यूरोपीय अभिजातवर्ग में इस तरह की लिखित सामग्री की इतनी माग बढी कि शीघ्र ही एक या एकाधिक यूरोपीय भाषाओं में ऐसे साहित्य का प्रकाशन प्रारभ हो गया। जो वृत्तात और विमर्श सीमित किन्तु विशिष्ट विद्वज्जनोचित उपयोग के थे अथवा धार्मिक अभिप्राय के काम के थे उनकी लगे हाथ अनेक प्रतिलिपिया तैयार होती थीं। उदाहरणार्थ एक विदुषी ने डॉक्टरेट के अपने शोधग्रथ एटूड सुर ल रोल देस मीसनरीज योरोपीन्स दान्स ला फार्मेशन प्रीमीयर्स देस इन्डीज सुर इ इन्दे' में बताया कि अठारहवीं शती के आरभ की एक पाडुलिपि ट्रेट दे ला रीलीजन देस मलाबार्स की अनेक प्रतिया उपलब्ध हैं। उसकी पहली प्रतिलिपि पाडिचेरी में १६९९ से १७२० ईस्वी तक पेरिस फारेन मिशन के प्राकूरेटर रहे टेसीयर डे क्वेरले द्वारा १७०९ ई में पूर्ण की गयी थी। वे १७२७ ई में थाइलैंड के एपास्टालिक वाइकार नामाकित किये गये थे। इस पाडुलिपि की प्रतिया इन सग्रहालयों में उपलब्ध हैं - पेरिस में बीबिलयाथिक नेशनल में ३ प्रतिया बीबिलयाथिक दे ल आर्सनल मे एक प्रति बीबिलयाथिक स्टे जेनेवी में एक प्रति आर्काइव्स नेशनल्स में एक प्रति चार्टर्स में बीबिलयाथिक म्युनिसिपेल में एक प्रति जो कि पहले गवर्नर बेनाइ डूमा के पास थी लदन में इडिया आफिस लाइब्रेरी में दो प्रतियाँ एक कर्नल मैकेन्जी के सग्रह में दूसरी जान लेडेन के रोम में एक प्रति (बीबिलयाटेका केसानटेसा जिसमें वेटिकन कलेक्शन हैं)।

ऐसी सचित सामग्री के विशाल सग्रह के कारण यूरोपीय विद्वानों का ध्यान भारत एव दक्षिणपूर्व एशिया की राजनीति विधि शास्त्र दर्शन विज्ञान और भारतीय गणित

ज्योतिष की ओर गया। वाल्टेयर एवं रेनाल जा सिलवां बैली जैसे यूरोपीय विद्वान लोगों के प्रभाव को ग्रहण कर ब्रिटेन में भी एडम फर्गुसन विलियम रावर्टसन जान प्लेफेयर और मैकनोची आदि ने भारतीय राज्य राजनीति समाज जीवन सामाजिक सम्बन्ध आदि का विस्तृत विवरण प्राप्त करने में गहरी रुचि दिखाई। अपने सुनियोजित प्रयास से वे सब क्रमश भारतीय राज्य राजनीति एव समाज व्यवस्था पर ब्रिटिश प्रभाव बढ़ाते जाने में सफल होते गए। अपने प्रयोजन के अनुरूप ये भारत के बारे में जानकारी एकत्र करते रहे। इसी प्रक्रिया में चार्ल्स विलकिन्स विलियम जोंस एफ डब्ल्यू, एलिस लेफ्टिनेंट विलफोर्ड आदि ने भारतीय साहित्य का भी अध्ययन किया। ऐसा लगता है कि भारतीय ज्ञान विद्या और विद्या केन्द्रों के प्रति तीन परस्पर पूरक किन्तु दिखने में भिन्न प्रवृत्तिया अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध से ब्रिटिश विद्वानों मे पनपीं। एक तो ब्रिटिश सत्ता की वृद्धि एव प्रशासनिक आवश्यकताओं के आधार पर यह जानकारी आवश्यक लगी ताकि अंग्रेज अपनी राजनीति एव अपने राजकीय कानूनों को भारतीय परपराओं धर्मग्रथो आदि के अनुरूप बनाए, भले ही इसके लिए कितनी भी दूर की कौड़ी लानी पड़े। दूसरी धारा मैकनोची जैसे लोगों की थी। अमेरिका का अपना अनुभव ध्यान में रखकर ये सोचते थे कि पराजित भारत की सभ्यता बिखर जाएगी प्राचीन ज्ञान परपरा विनष्ट हो जायेगी इसलिये विशेषत वाराणसी जैसे केन्द्रों में ज्ञान की जो भी प्रवृत्तिया एव राशि विद्यमान है उनका अभिलेख तैयार कर डालना ये लोग आवश्यक मानते थे। तीसरा प्रकार स्वय ब्रिटन में अपने लोगों को मार-पीटकर दबाकर एक सस्थाबद्ध औपचारिक कानून को मानने वाली ईसाइयत के अधीन ले आया गया है वैसा ही भारत मे भी किया जाय और इसमें ईसाई मिशनरियों के लक्ष्य और प्रोपेगण्डा की सहायता की जाए ताकि ईसाई 'प्रकाश' और 'ज्ञान' भारतीयों मे फैलाया जा सके। इसके लिए विविध भारतीय भाषाओं का व्याकरण तैयार करना अत्यावश्यक कार्य समझा गया। विलियम विल्बरफोर्स के अनुसार इसका लक्ष्य- पवित्र बाइबल का प्रचार देशी भाषाओं में करना था ताकि सक्षेप में भारतीय बिना जाने ही ईसाई हो जाएँ।

ब्रिटिश समाज व्यवस्था

अपने ऐसे लक्ष्यों से साथ विश्व को अपनी सभ्यता के दायरे में ले आने अर्थात् उन्हें अपनी सभ्यता का औजार बनाने अपनी सपत्ति बनाने के लिए सकल्पित एव प्रयासरत ब्रिटिश शासकों द्वारा शासित उनका अपना समाज कैसा था उनकी व्यवस्था क्या थी संक्षेप में यह जानना भी आवश्यक है।

शताब्दियों तक ब्रिटिश भूमि पर बार बार आक्रमण होते रहे और प्रत्येक आक्रमणकारी समूह पहले के समुदायों को दास बनाता तथा नष्ट करता रहा। इस प्रकार ब्रिटेन को अनेक बार पराजय झेलनी पडी। अतिम बार ग्यारहवीं शती ईस्वी में नार्मन जाति ने वहा आक्रमण किया और यहा के समाज को पराजित कर अपने अधीन कर लिया। नार्मनों ने अपने ढग से नयी व्यवस्थाए रचीं। उन्हीं व्यवस्थाओं का क्रमिक विकास आधुनिक ब्रिटिश साम्राज्य के रूप में हुआ।

ब्रिटेन ने भारत में जो भी किया यह उससे अधिक भिन्न नहीं है जो ग्यारहवीं शती ईस्वी में नोर्मन विजय के बाद से ब्रिटिश राज्य ने अपने यहा करना शुरु किया और १९ वीं शती ईस्वी तक भी बहुत कुछ करना जारी रखा। १९ वीं शती ईस्वी से वही व्यवहार इग्लैंड द्वारा आयरलैंड के साथ किया गया। १६ वीं १७ वीं १८ वीं शती ईस्वी में वही व्यवहार उत्तरी अमेरिका में किया गया। १८ वीं १९ वीं शती ईस्वी में सयुक्त राज्य अमेरिका में भी ब्रिटिश राज्य के उत्तराधिकारियों ने ये ही सब तरीके अपनाए। बल्कि एक अर्थ में कहा जाना चाहिए कि भारत की व्यापकता-विशालता के कारण यहा निवास करने वालो की जनसख्या की सघनता के कारण अथवा भारतीय जलवायु एव परिवेश बडे पैमाने पर औपनिवेशीकरण के उपयुक्त नहीं होने के कारण ब्रिटेन ने भारत में जो किया वह अधिक दिनों तक किया गया क्रूर दमन तो था पर स्वय ब्रिटेन में की गई तीव्र क्रूरता से अधिक नहीं था शायद कुछ कम ही था। उदाहरण के लिए ब्रिटेन में सन् १८१८ ईस्वी तक मृत्युदड का प्रावधान २०० से अधिक अपराधों मे से प्रत्येक प्रकार के अपराध पर विधि-विहित था इनमें ५ शिलिंग से अधिक मूल्य की कोई भी वस्तु चुराने का अपराधी भी सम्मिलित था। इसी प्रकार लगभग १८३० तक ब्रिटिश सैनिकों को कोई गभीर मानी जाने वाली गलती करने पर (विशेष रूप से तैयार) ४००-५०० कोडे लगाये जाने की बात सामान्य थी।

नार्मन विजय के बाद इग्लैंड में जो जो हुआ उसके विस्तार में जाने का यहा अवसर नहीं है। किन्तु सन् १३८५ के आसपास हुए किसान विद्रोह की याद प्रासगिक होगी। १३८५ में इग्लैंड में बहुत बडी मात्रा में किसान विद्रोह हुए। देशभर में किसानों की क्षेत्रीय फ्यूडल लार्डस से तथा अन्य अधिकारियों से लडाई हुई। फिर किसानों ने लदन को घेर लिया। राजा को सन्धि करनी पडी। फिर बाद में राजा ने छल-घात से किसानों को बातचीत के लिए बुलाया और सेना से घिरवाकर कईयों को मरवा डाला तथा विद्रोह को कुचल दिया। इसी प्रकार सोलहवीं शती ई के आरभ मे वहा 'एनक्लोजर मूवमेंट' चला। हजार-पाच सौ एकड के क्षेत्र के बाडे घेरकर उस दायरे से छोटे किसानों को भगा

दिया जाता था तथा बडे फार्म स्थापित किये जाते। भगाये हुए किसान मुक्त बाजार में सस्ती मजूरी के लिए सुलभ होते और दर-दर भटकते। इन्हीं बडे खेतो मे इस प्रकार खेती एव भेड पालन कर सरप्लस' पैदा किया गया व ऊन उद्योग विकसित किया गया। इसे ब्रिटिश पूजी के निर्माण का महत्त्वपूर्ण अभियान माना जाता है। अनेक कानून बनाकर किसानों से जमीन छीनने को वैधानिक रूप दिया गया। ईसाई मठों आदि की सपत्ति भी छीनी गई और इस प्रकार एक सशक्त राज्य का निर्माण आरभ हुआ।

आयरलैंड के इग्लिश एटार्नी जनरल सर जान डेविस ने १६१० ईस्वी में आयरलैंड में अधिक प्रभावी नीति अपनाने का सुझाव देते हुए कहा

आयरलैंड की विजय को परिपूर्ण बनाने में दो कमिया सामने आई। एक तो विद्रोहियों को पर्याप्त कठोरता से नहीं कुचला दूसरे नागरिक प्रशासन में ढील बरती गई। जमीन मालिक पहले जमीन को तोडता है। तभी वह जमीन अच्छे बीज के लायक बन पाती है। पूरी तरह जमीन तोडकर और आवश्यक खाद आदि देकर फिर यदि समय पर अच्छे बीज न बोये गये तो खरपतवार उग आती है। अत किसी बर्बर देश को पहले युद्ध से तोडा जाना चाहिए। तभी वह अच्छे शासन के योग्य बनता है। जब वह पूरी तरह जीत कर अधीन बना डाला जाय तब उस पर एक शक्तिशाली सरकार थोपी जानी चाहिए, नहीं तो वह बर्बर दशा में लौट जायेगा।

इस प्रकार अग्रेज इग्लैंड और आयरलैंड में अपनी सभ्यता के आदर्शों के अनुरूप व्यवस्था रखते रहे। किसानों की कृषि भूमि छीन लेना उन्हें विस्थापित करना सेवकों को ३-४ सौ तक कोडे बात-बात में फटकारना छोटी छोटी चूकों के लिए कठोर दड देना मजदूरी की दरें बहुत कम रखना किसानों से कुल उपज का ५० से ८० प्रतिशत राजस्व के रूप मे लेना शिक्षा को विशिष्ट वर्ग का अधिकार मानना राजनीति पर और शासन पर कुलीनों भर का अधिकार करना फौज के पदों की भर्ती सरकारी रेट या बोली के अनुसार धन लेकर करना आदि १९ वीं शती ई तक ब्रिटिश समाज व्यवस्था के मुख्य लक्षण थे। राष्ट्र के समस्त साधन स्रोत राज्यकर्ता वर्ग की सपत्ति हैं। उस सपत्ति को सभ्यता का औजार बनना है। शासकों के विचार एव व्यवहार ही सभ्यता है। अपने समाज को सभ्य बनाने के साथ ही विश्व को भी सभ्य बनाना है यह उनका लक्ष्य था। अपने इसी लक्ष्य के अनुरूप वे भारत आए और यहा योजनानुसार बढे। हमारा नवप्रबुद्ध वर्ग उनकी सभ्यता के इन्हीं लक्ष्यों की पूर्ति का औजार बना। उसी सभ्य बनने की प्रक्रिया में भारतीय स्वाधीनता खो दी गई। बाद में खोई हुई स्वाधीनता की चिंता में नवप्रबुद्ध वर्ग द्वारा यूरोपीय अधीनता को अधिकाधिक चाहा गया तथा स्वीकार किया जाता रहा। यह अधीनता विस्तार ही सभ्यता-विस्तार कहा गया।

२ यूरोप से टकराव के पूर्व

यह स्पष्ट है कि हमारा शक्तिशाली वर्ग भारतीय समाज को जो दिशा देना चाहता है या देने की बात करता रहा है उसका तर्क और औचित्य वह एक विशिष्ट ऐतिहासिक व्याख्या में देखता है जिसके अनुसार इधर शताब्दियों से हम अंधेरे और अज्ञान में गिरे थे हमारा अपना राज्य नहीं था परस्पर सम्बन्ध पर्याप्त नहीं था हमारी सामाजिक इकाइया अपने अपने में अलग अलग कटी पडी रहती थीं विज्ञान और प्रौद्योगिकी में हम बहुत पीछे थे शिक्षा मुट्ठी भर लोगों तक और विशिष्ट समूहों तक सीमित थी। हम एक असगठित गतिहीन समाज थे। इस्लाम की टकराहट से कुछ प्राण आते दिखे पर उसमें मात्र भक्ति आदोलन उभरा विद्रोह हुआ। मुख्य धारा बिखराव असगठन परस्पर भेदभाव शोषण और गतिहीनता की ही रही। यूरोप की स्थिति इससे उलटी थी। वहा गतिशीलता थी अपेक्षाकृत समता एव समृद्धि थी इसी से सगठन था और इसी से वे जीत गए हम हार गये।

यह मान्यता सत्ता का हस्तान्तरण सम्हाल रहे जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में सक्रिय समूह भर की नहीं रही है। जैसा हम पहले स्मरण कर चुके हैं यह मान्यता बहुत गहराई तक प्रविष्ट कराई जा चुकी थी और ब्रिटिश राज में जिन लोगों को शक्तिशाली रहने दिया गया या जो किसी भी रूप में शक्तिशाली बन पाए उनमें ऐसा एक भी सगठित समूह नहीं दिखता जो सोलहवीं सत्रहवीं या अठारहवीं शताब्दी ईस्वी के भारत को उस समय के यूरोप से अधिक अलोकतात्रिक विषमताग्रस्त पिछडा गतिहीन मानवीय गुणों में घटकर और अज्ञानता से त्रस्त न मानता हो। जिन लोगों ने भारतीय शिल्प उद्योग या शिक्षा की दिशा के विनाश के बारे में लिखा वे भी इसके निहितार्थों को बहुत स्पष्ट नहीं समझ पाए। महात्मा गाधी ही इसमें अपवाद दिखते हैं। किन्तु उनके जाने के बाद गाधीवादी सगठित समूहों में यह दृष्टि लगभग अनुपस्थित दिखती है। भारत की हीनता की बात गाधीवादियों में सर्वमान्य ही दिखती है। पुरानी श्रेष्ठता का सबका आग्रह या अभिमान है। परतु हार के मूल में हमारी हीनता और विषमता ही कारण थी इस पर नये प्रबुद्ध समूहों में लगभग सर्वानुमति है। कुछ लोगों ने

इसका कारण सगठन के अभाव को माना। पर उसका अधिक विचार ये भी सामने नहीं रख पाए। किस तरह के सगठन का अभाव था क्या अब उस अभाव की पूर्ति यूरोपीय सगठन से की जानी है भारतीय मानस इतिहास और वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह कहा तक सभव होगी इन सब बातों पर कोई सतोषप्रद विचार हुआ नहीं। श्री विनायक दामोदर सावरकर ने भारतीय पराजय का कारण सद्गुण विकृति को बताया। परतु सद्गुण सस्कृति क्या होगी अब उसका राष्ट्रीय रूप क्या बनेगा इस पर उनका लेखन व भाषण अत्यत विखडित और परस्पर विरोधी है। कुछेक यूरोपीय दुर्गुण हम भी अपना लें तो बात बन जाए ऐसा उनका प्रतिपादन दिखता है।

ये सब तो विश्लेषण के बिन्दु हैं। इनसे पहले स्थान तथ्यों का है। अत सर्वप्रथम हमें उन तथ्यों की ओर ही ध्यान देना चाहिए। अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध तक भारतीय समाज में शिक्षा विज्ञान प्रौद्योगिकी व्यापार श्रम वेतन मजूरी सामाजिक सबध समेत सपूर्ण सामाजिक सगठन की क्या स्थिति थी इसे समेटने के कुछ प्रयास मैंने विज्ञान-प्रौद्योगिकी एव शिक्षा से सबधित अपनी पुस्तकों 'इण्डियन साइन्स एड टेक्नोलोजी इन दी एटीन्थ सेंचुरी' और 'ब्यूटीफुल ट्री' में तथा कुछेक लबे आलेखों निबधो में एव व्याख्यानों में किये हैं। यहा सक्षेप में उनका स्मरण उचित दिखता है।

शिक्षा

भारत मे शिक्षा की आवश्यक नीति क्या अपनाएं यह निर्णय करने के पहले अग्रेजों ने तत्कालीन स्वदेशी शिक्षापद्धति के कुछ सर्वेक्षण कराए। भारत का एक बड़ा भाग बारहवीं शती ईस्वी से लगातार इस्लाम - अनुयायियों के आक्रमण से टकरा रहा था। युद्धरत समाज की समाज व्यवस्था शिक्षा व्यवस्था तथा अर्थ व्यवस्था बहुत अस्तव्यस्त होती बिखरती और अस्वस्थ होती रहती है यह सर्वविदित है। अत अठारहवीं शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शती ईस्वी के पूर्वार्द्ध में हुए सर्वेक्षण उस क्षयशील बिखर रही कमजोर दशा के ही सूचक हैं यह ध्यान रखते हुए ही इनका स्मरण करना चाहिए।

मद्रास प्रेसीडेन्सी में स्वदेशी शिक्षा की क्या दशा थी इसका अग्रेजों द्वारा किया गया सर्वेक्षण सन् १८२० एव १८३० के दशक में वहा की वास्तविक दशा का संक्षिप्त विवरण है। मुख्यत १८२२-२५ में यह सर्वेक्षण हुआ। तत्कालीन मद्रास प्रेसीडेन्सी में वर्तमान पूरा तमिलनाडु वर्तमान आंध्रप्रदेश का अधिकाश भाग और वर्तमान कर्नाटक प्रात के कुछ जिले व केरल के मलाबार जिला व उड़ीसा में गजाम जिला सम्मिलित थे।

इसके पहले सन् १७९० ईस्वी की बगाल के नवद्वीप विश्वविद्यालय की एक रिपोर्ट है जिसके अनुसार वहा ११०० विद्यार्थी और १५० अध्यापक उन दिनों थे। सन् १८३० से १८४० ईस्वी के मध्यबगाल की शिक्षा की स्थिति के बारे में विलियम एडम की पहली रिपोर्ट १८३५ में आई और दूसरी तथा तीसरी १८३८ ईस्वी में।

एडम का यह सर्वेक्षण इस अनुमान को मानकर चला कि बगाल और बिहार की उन दिनो कुल जनसख्या लगभग ४ करोड थी और विद्यमान स्कूलों की सख्या एक लाख थी। अर्थात् हर ४०० व्यक्तियों पर एक स्कूल। इस पर अनुमान लगाते हुए एडम ने लिखा कि औसतन हर ६३ लडको के लिए एक स्कूल बगाल-बिहार में है। उसका कहना था कि इन दोनो प्रातो में सरकारी आकड़ों के अनुसार १ ५० ७८४ गाव हैं। इनमें से अधिकाश में एक एक स्कूल है। पर अधिक से अधिक लगभग एक तिहाई गावो को स्कूलों के बिना मान लिया जाय जो एडम के अनुसार अधिकतम कल्पना' है तो भी एक लाख स्कूल तो अवश्य ही होगे ऐसा उनका अनुमान था। एडम ने लिखा कि गरीब से गरीब परिवारों के बच्चे स्कूल जाते है और उनके माता पिता इस ओर ध्यान रखते है। इस रिपोर्ट मे एडम ने लिखा कि ये स्कूल देशी लोगों की जीवनशैली और सामाजिकता का अतरग अग है। प्राय गाव के प्रतिष्ठित व्यक्ति के घर में या उसके समीप या स्वय किसी गुरु के ही घर मे स्कूल चलते हैं। ११ वर्ष की वय तक उनकी प्राथमिक पढाई पूरी हो जाती है। एडम ने इस शिक्षा की विधि का विवरण भी दिया कि पहले ८-१० दिन स्लेट पर या भूमि पर अगुलियों से स्वर-व्यजन लिखना सिखाया जाता है। फिर पेंसिल या सफेद मिट्टी (खड़िया) से। फिर ताड-पत्र पर भरूई की लेखनी से। स्याही बनाने की देशी विधि भी उसने लिखी। व्यजनों को जोड़ना शब्द बनाना वर्णोच्चार सीखना गिनती सीखना भार एव माप की गिनती सीखना विशिष्ट व्यक्तियो वस्तुओं एव स्थलों के नाम लिखना सीखना आदि साल भर में सिखा दिया जाता है। आगे अकगणित खेत की नाप-जोख खेती एव वाणिज्य सम्बन्धी लेखा व कस्बो शहरो में व्यापार वाणिज्य तथा आख्यान लेख अधिक सिखाया जाता है। फिर कुछ कवितायें तथा आख्यान लिखना और याद रखना। एडम को इस पर चिंता थी कि वैसी कोई स्पष्ट नैतिक शिक्षा यानी 'रीलिजस' शिक्षा यहा इन स्कूलों में नहीं दी जाती जैसी इग्लैड में उन दिनों दी जा रही थी। इससे उसका अभिप्राय ईसाई मान्यताओं के प्रचार के अभाव से था। यह अभाव एडम को खटक रहा था।

विलियम एडम से वर्षों पहले मद्रास के गर्वनर सर थामस मुनरो ने मद्रास प्रेसीडेन्सी के बारे में यही कहा कि ऐसा लगता है कि वहा हर गाव में एक स्कूल है। सन्

१८२० ई के आसपास बम्बई प्रेसिडेन्सी के बारे में वहा के एक वरिष्ठ अफसर जी एल. प्रेंडरगास्ट ने कहा कि 'हमारे क्षेत्र में शायद ही कोई छोटा सा भी गाव ऐसा हो जहा एक स्कूल नहीं है। १८८२ ईस्वी में डॉ जी डब्ल्यू, लिटनर ने पजाब की सन् १८५० की स्थिति के बारे में लिखा कि अग्रेजी आधिपत्य में आने से पहले पंजाब में भी लगभग हर गाव में एक स्कूल था।

मद्रास प्रेसीडेन्सी में शिक्षा की स्थिति के बारे में जानकारी एकत्र करने हेतु गर्वनर थामस मुनरो ने एक निर्देश राजस्व-कलक्टरों को सन् १८२८ में प्रसारित किया उसके आधार पर राज्य-मुख्य सचिव डी हील ने बोर्ड आफ रेवन्यू के अध्यक्ष व सदस्यों को एक पत्र लिखा। उस पर से कलेक्टरों की रिपोर्टें आयीं। उनमें विद्यालयों की सख्या उनकी सामाजिक एव आर्थिक स्थिति एवं व्यवस्था की रूपरेखा शिक्षकों एव विद्यार्थियों की सख्या उनकी सामाजिक स्थिति जाति आदि तथा पढाए जाने वाले विषय पुस्तकें व अध्यापनविधि और छात्रों-अध्यापकों का योग्यतास्तर आदि विवरण थे। गजाम और विजगापटनम के कलेक्टरों ने लिखा कि जो तथ्य वे भेज रहे हैं वे भी अभी पूरे नहीं हैं अधूरे ही हैं। और तथ्य अभी एकत्र होने हैं। दो कलेक्टरों ने घर पर पढ रहे बच्चों की भी जानकारी दी। मलाबार के कलक्टर ने वहा के १५९४ विद्वानों की विस्तृत सूची भेजी जो धर्मशास्त्र विधि गणित ज्योतिष तत्वज्ञान नीतिशास्त्र एव आयुर्वेद मे अपने गुरुओं के घरों मे (स्कूलों व कालिजों में नहीं) निजी तौर पर अध्ययनरत थे। फरवरी १८२६ में मद्रास के कलेक्टर ने रिपोर्ट भेजी की उसके क्षेत्र में २६ ९६३ विद्यार्थी अपने घरों में पढ रहे हैं। मद्रास के कलेक्टर की पहली रिपोर्ट में पढ रहे बच्चों की सख्या ५ ६९९ दी गई है।

कलेक्टरों की रिपोर्ट मिलने पर मद्रास प्रेसीडेन्सी की सरकार ने १० मार्च १८२६ को उनकी समीक्षा की और गवर्नर सर थामस मुनरो ने निष्कर्ष-टिप्पणी की कि ५ से १० वर्ष आयु समूह *के प्रेसीडेन्सी के कुल लडकों का लगभग* एक चौथाई हिस्सा स्कूलों में शिक्षा पा रहा है। घर पर पढ रहे बच्चे इसके अतिरिक्त हैं। घर पर पढ रहे बच्चो की सख्या मिलाने पर कुल लगभग एक तिहाई के करीब छात्र पढ रहे हैं ऐसा निष्कर्ष निकलता है। लडकियों की स्कूली शिक्षा की कमी के बारे में थामस मुनरो ने यह स्पष्टीकरण दिया कि उनकी पढाई मुख्यत घरों में होती है।

विद्यार्थियों की जातिवार सख्या का विवरण उस बहुप्रचारित एवं प्रतिष्ठित मान्यता को ध्वस्त करता है जो हमारे नवप्रबुद्ध वर्ग में विगत १०० वर्षों से अधिक समय से गहरी होती गई है कि भारत में शिक्षा हिन्दुओं में मुख्यत द्विजों तक सीमित थी

और मुसलमानों में प्रतिष्ठित घरों तक ही। प्रस्तुत ऑकडे तो इससे विपरीत तथ्य ही प्रकट करते हैं। तमिल भाषी क्षेत्रों में दक्षिणी अर्काट में वहा पढ रहे कुल बच्चों में १३% द्विज कही जानी वाली जातियों के हैं और मद्रास में २३%। वहीं शूद्र कही जाने वाली जातियों के स्कूल में पढ रहे छात्रों की सख्या क्रमश ७६ १९ एव ६८ ६२ प्रतिशत है। सेलम में तथाकथित शूद्रों एव अन्य द्विजेतर या वर्णोत्तर (पचम वर्ण) जातियों के स्कूली बच्चों की सख्या ६६ ७६ प्रतिशत है जबकि तथाकथित द्विजों की लगभग १५%। चिंगलपेट में शूद्र माने जाने वाले जाति समूहों के छात्र ७१ ४७% हैं तजौर में ६१ १७%। तथाकथित पचम वर्ण एव शूद्र मिलाकर गैरद्विज जातियों के बच्चे दोनों स्थानों में क्रमश ७८ एव ७५ प्रतिशत से कुछ अधिक हैं। तिन्नेवेल्ली में उन दोनों की सख्या ८१% से अधिक है। मलाबार में तथाकथित द्विज छात्र २०% से भी कम हैं और तथाकथित शूद्र तथा अवर्ण जातियों के ५४ प्रतिशत के लगभग। कन्नड भाषी बेल्लारी में तथाकथित द्विज जाति के छात्रों की सख्या अधिक है –३३% तक पर यह सख्या भी शूद्रों एव अवर्ण जातियों के ६३ प्रतिशत से लगभग आधी है। उडिया भाषी गजाम जिले में प्राय ऐसी ही स्थिति है। मात्र तेलुगुभाषी क्षेत्र में द्विज छात्रों की सख्या तथाकथित शूद्रों एव अवर्ण के पढ रहे बच्चों की सख्या से कुछ अधिक है। विजगापट्टनम में ब्राह्मण लड्के ४६% हैं तथा शूद्र एव अवर्ण छात्र मिलाकर लगभग १% हैं नेल्लोर में ब्राह्मण लड्के ३२ ६१% हैं और शूद्र तथा अवर्ण लड्के ३७ ५४ प्रतिशत। कडप्पा में ब्राह्मण छात्र २४% हैं तथा शूद्र एव अवर्ण छात्र ४१%।

स्कूल में पढ रही लडकियों की सख्या बहुत कम है। जो लडकिया पढने जाती थीं उनमें भी ब्राह्मण क्षत्रिय एव वैस्य लडकियों की सख्या कम होती थी शूद्र एव अन्य अवर्ण जातियों की लडकियों की सख्या कुछ अधिक। मलाबार क्षेत्र में स्कूल में पढ रही लडकियों की सख्या अपेक्षाकृत अच्छी है। वहा मुसलमान लडकियों की सख्या भी अपेक्षाकृत बहुत ऊची है।

जबकि मुस्लिम लड्कों की सख्या ३१९६ थी उस समय मुस्लिम लडकियों की सख्या ११२२। इतना ऊचा अनुपात तो १९२० व १९३० ईस्वी में भी नहीं रहा होगा।

बगाल के पाच जिलों को लेकर इस विषय में ऐडम की जो रिपोर्ट है वह अधिक विस्तृत है और उसमें छात्र शिक्षक विषय पुस्तकें एव विद्याव्यवस्था से सबधित सामग्री का विस्तार है। उससे बगाल में शिक्षकों की जातियों का परिचय भी मिलता है और फिर यह स्थापना ध्वस्त होती है कि अध्यापन पर ब्राह्मणों का एकाधिकार है। एडम

की रिपोर्ट से छात्रो की जातीय सरचना के बारे में भी वही तथ्य मिलते हैं जो मद्रास प्रेसीडेन्सी की रिपोर्ट में है यानी शूद्र और तथाकथित अन्त्यज जातिया डोम चाण्डाल जालिया ब्याघा बागर के छात्र भी इन विद्यालयों में पढते ही हैं। इनमें ब्राह्मण राजपूत क्षैत्री कायस्थ के साथ साथ कैवर्त सुवर्णवनिक ताँती सुनरी तैली मैरा अगुरी सद्‌गोप गधवनिक वैद्य सुनार कमार बरई स्वर्णकार नापित ग्वाला तमौली कहार डोम कैरी मागध कुम्हार कुर्मी युगी दैवज्ञ चाण्डाल जालिया पासी धोना भट्ट माली कलवार लुनियार खटिक बढई माला अगरदानी ओसवाल काडू मातिया धनूका दुसाध गरेरी कलाल कसारी चूडिहार मुशहर केवट पुनग केलदार बहेलिया भूमिया कौरी धूलिया ब्यौधा बागर सथाल तिवाड कुन्यार आदि आदि जातियो के छात्र हैं।

स्पष्ट है कि शिक्षकों में वे जातिया भी सम्मिलित हैं जिन्हें अस्पृश्य बताया जाता है। कायस्थ शिक्षकों की सख्या ब्राह्मणों से अधिक है। साधारण स्कूलों में पढाई जाने वाली पुस्तकें एडम की रिपोर्ट में वर्णित हैं। इनमें साहित्य में रामजन्म व सुदरकाड (रामचरितमानस) आदिपर्व (महाभारत) सूर्य पुराण (पुराण अश) गीत गोविंद हितोपदेश (सस्कृत) नीतिकथा (बागला) दान लीला गुरु वदना सरस्वती वदना दाता कर्ण गगा वदना नीति वाक्य आदि व्याकरण में शब्द सुनत अमरकोष अष्टधातु, अष्टशब्दी आदि गणित में शुभकर और उग्र बलराम ज्योतिष में ज्योतिष विवरण दिग्दर्शन आदि सम्मलित है। इससे आगे के अध्ययन में पाणिनीय अष्टाध्यायी पतजलि का महाभाष्य सिद्धात कौमुदी सिद्धात मजूषा लघु कौमुदी सरस्वती प्रक्रिया आदि व्याकरण ग्रथ शाकुतल रघुवश नैषध कुमार सभव तथा भट्टि माघ दडी भारवि आदि की साहित्यिक रचनाए तथा काव्य प्रकाश साहित्य दर्पण आदि काव्य विवेचन ग्रथ तिथि तत्त्व प्रायश्चित्त तत्त्व शुद्धि तत्त्व श्राद्ध तत्त्व आह्निक तत्त्व समयशुद्धि तत्त्व ज्योतिष तत्त्व प्रायश्चित तत्त्व विवेक मिताक्षरा श्राद्धविवेक विवाह तत्त्व दाय तत्त्व आदि विधि ग्रथ एव वेदात साख्य मीमासा तत्र तर्कशास्त्र गणित फलित ज्योतिष आदि के ग्रथ पढाये जाने का विवरण है। फारसी और अरबी स्कूलों में गुलिस्ता शाहनामा युसुफ और जुलेखा अल्लामी सिराजिया हिदाया मिसकातुल मिसाबी मीजान मिसबा काफिन्या तहजीब कुरान आदि पढाये जाने का विवरण है। फारसी अरबी स्कूलो मे मुसलमान शिक्षकों के साथ ब्राह्मण कायस्थ दैवज्ञ और गध वनिक जाति के भी शिक्षक हैं और छात्र भी विविध हिन्दू जातियों के तथा मुसलमान हैं। इन विवरणों से ज्ञात होता है कि बगाल बिहार में बागला हिन्दी एव सस्कृत तथा मद्रास

में क्षेत्रानुसार तमिल तेलुगु, कन्नड एव उड़िया तथा सस्कृत शिक्षा का माध्यम थीं। उस प्रकार लिटनर की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि पजाब में शिक्षा का माध्यम थीं पजाबी हिन्दी एव सस्कृत। लिटनर ने पजाब की शिक्षा के विवरण देते हुए लिखा कि यहा भी देश के अन्य हिस्सों की तरह विद्या का सम्मान है। ऐसा एक भी मदिर मस्जिद या धर्मशाला नहीं जहा एक स्कूल न हो। हर ग्रामीण अपने यहा के शिक्षकों को अपने उत्पादन का एक अश देने में गर्व का अनुभव करता है यह भी लिटनर ने लिखा है। लिटनर ने पजाब में पाच तरह के स्कूल-वर्ग गिनाए। १ गुरुमुखी स्कूल २ मकतब मदरसा और कुरान स्कूल ३ घटसाल पठशाला एव सेकुलर हिन्दू स्कूल ४ मिश्रित शिक्षा-सस्थाए फारसी वर्नाकुलर और एग्लो वर्नाकुलर स्कूल तथा ५ सिखों मुसलमानों एव हिन्दुओं की लडकियों के स्कूल। इनमें से हिन्दू लडकियों को घर पर ही पढाया जाता था यह लिटनर ने लिखा। लिटनर ने हिसाब लगाकर लिखा कि १८५० ईस्वी में पजाब पर ब्रिटिश आधिपत्य से पूर्व कम से कम ३ लाख ३० हजार छात्र छात्राए पजाब में पढ रहे थे। जबकि १८८२ में एक लाख नब्बे हजार के लगभग ही पढ रहे हैं। पढाये जाने वाले विषयों का जो विवरण उन्होंने दिया उनमें गणित व्याकरण ज्योतिष तर्क आयुर्वेद विधि दर्शन और सस्कृत साहित्य के प्राय वे ही ग्रथ हैं जो मद्रास या बगाल में। क्षेत्रीय साहित्य की पुस्तकें कथा-कहानी नाटक नीतिकथा आदि अशत प्रत्येक क्षेत्र में प्राय स्थानीय होती थीं। इस प्रकार शिक्षा का अखिल भारतीय और स्वाभाविक क्षेत्रीय रूप साथ साथ दिखता है।

शिक्षा के ये विवरण स्पष्ट करते हैं कि भारत उन दिनों शिक्षा की दृष्टि से हीन नहीं था और महात्मा गाधी का सन् १९३१ में लदन की एक विशिष्ट सभा में कहा गया यह कथन पूर्णत प्रामाणिक था कि अग्रेजी राज्य में भारत में शिक्षितों की सख्या घटी है क्योकि अग्रेजो ने स्वेदशी विद्या के सुदर वृक्ष की जडों को खोदकर देखा और फिर वे खुदी हुई जडें खुली ही रहने दीं।

विज्ञान एव प्रौद्योगिकी

यह एक बहुप्रचारित मान्यता हो गई है कि विज्ञान एव प्रौद्योगिकी में हमारे पिछडेपन और ब्रिटेन के आगे बढे होने के कारण हम ब्रिटेन से हार गए और इस प्रकार ब्रिटेन की जीत दूसरों को नष्ट कर डालने और रूपातरित कर अपने अनुकूल बनाने को सन्नद्ध राजनीति और दृष्टि की जीत नहीं रह जाती अपितु अधिकाश नवप्रबुद्ध भारतीयों की दृष्टि में यह सत्य और प्रगति की खोज मे समर्पित विज्ञान और प्रौद्योगिकी की

मानवीय विजयगाथा बन जाती है। अतः यथार्थ स्थिति को जानना आधारभूत बात है। आज तो उस दिशा में कुछेक विद्वानों ने प्रयास किया है और तथ्यों की जानकारी बढ़ रही है।

लोहा और इस्पात भारत में बहुत प्राचीन काल से उत्पादित हो रहा है। विश्व भर में उसकी ख्याति थी और उसकी उत्कृष्टता प्रसिद्ध थी। उत्तर प्रदेश के अतिरंजन खेड़ा जैसी जगहों में कम से कम १२ वीं शती ईसा से पूर्व से लोहा ढाला जा रहा था यह अब अनेक लोगों को ज्ञात है। किन्तु अठारहवीं शती ईस्वी में भारत में यह उद्योग कितना फल फूल रहा था इसकी तकनीकी कितनी परिष्कृत थी यह बहुत कम लोगों को आज याद है।

सन् १७९४ में डॉ एच स्काट ने ब्रिटिश रायल सोसायटी के अध्यक्ष सर जे बैंक्स को भारतीय 'वुटज इस्पात का एक नमूना भेजा। इंग्लैंड के अनेक विशेषज्ञों ने उसका विस्तृत परीक्षण किया। तब पाया गया कि उन दिनों ब्रिटेन में जो सर्वोत्तम इस्पात प्रयोग में आ रहा है उससे इस भारतीय इस्पात का साम्य है। उसकी माग हुई और यह माग बढ़ती रही। उसकी तकनीकी विशेषता पर पहले अंग्रेजो को संशय रहा। वे भारतीय कच्चे लोहे की विशेषता मानते रहे पर भारतीय तकनीकी को अविकसित बताते रहे। कई वर्षो के बाद उन्हें उस तकनीकी की भी उत्कृष्टता ध्यान में आई। जे एम हीथ ने लिखा भारतीय इस्पात-निर्माण की प्रक्रिया में ऐसा लगता है कि एक बन्द पात्र में पिघले लोहे को कार्बनीकृत हाईड्रोजन गैस से अति उच्च तापमान में गुजारने पर कार्बन सयोग से लोहा इस्पात में बदलने की विधि का प्रयोग किया जाता है। इससे इस्पात बनने में समय कम लगता है जबकि ब्रिटेन में प्रचारित पुरानी विधि में १४ से २० दिन लगते हैं। भारतीय लोग ढाई घंटे में ही लोहे को इस्पात में ढालने में समर्थ हैं और यह भी इंग्लैंड में प्रयुक्त ताप से कम मात्रा में ताप का प्रयोग करते हुए। यद्यपि हीथ यह मानने को तैयार नहीं थे कि भारतीयों को रसायन-शास्त्र के उस सिद्धात का भी ज्ञान हो सकता है जो कि इंग्लैंड में ताप द्वारा लोहे को इस्पात में ढालने के आधार के रूप में निरूपित किया गया था। पर वे यह बता रहे थे कि व्यवहार में भारतीय यह कठिन कौशल सम्पन्न कर लेते हैं।

भारतीय इस्पात में अंग्रेजों की इस व्यावहारिक रुचि के फलस्वरूप अंग्रेजों द्वारा भारत में इस्पात निर्माण से सबंधित तथ्यों के अनेक वृत्तान्त तैयार किये गये। भारत के विविध हिस्सों में अनेक स्थानों में अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध व उन्नीसवीं शती के आरम्भ तक लोहे व इस्पात के निर्माण के काम से सबंधित वृत्तांत उन्होंने लिखे व प्रकाशित किये।

डॉ बेंजामिन हेन ने १७९५ में लिखा कि नूजीद क्षेत्र में अनेक स्थानों पर लोहे की भट्ठियाँ हैं जहा सामान्य प्रयोग हेतु लोहा तैयार किया जाता है। ऐसे ही एक स्थान 'रमन का पेठा' का हेन ने कुछ विस्तार से विवरण दिया। यहा स्मरणीय है कि नूजीद क्षेत्र की जनसख्या १७८६ ईस्वी में एक लाख से ऊपर थी। १७६०-६२ में वहा अकाल पडा और जनसख्या लगभग आधी ५७ हजार के करीब रह गयी। हेन के अनुसार 'रमन का पेठा' में अकाल से पहले ४० लोहे की भट्ठिया थी और अनेक सपन्न सुनार तथा ठठेर भी थे। अकाल के बाद ये दरिद्र हो गये। वे वहा की भट्ठियों की कार्यपद्धति का कुछ ब्यौरा देते हैं और बताते है कि यहा कच्चा माल काफी है ईंधन के लिए बढ़िया जगल पास में है तथा कुशल लोग भी उपलब्ध हैं। ठेके पर उन्हें काम दिया जा सकता है। अत भारत में ब्रिटिश तत्र को इस ओर ध्यान देना चाहिए। वह यह भी बताते हैं कि इसी क्षेत्र में ऐसे ६ गाव और हैं जहा बराबर लोहा बनाया जाता है।

ब्रिटिश बगाल सेना के मेजर जेम्स फ्रैंकलिन ने ई १८२९ के आसपास मध्य भारत में लोहा बनाने की विधियों के बारे में लिखा। जबलपुर जिले में अगरिया गटना लमतरा मगैला जौली इमलिया और बडागाव में नर्मदा के दक्षिण में डगराई गाव में पन्ना जिले में बृजपुर के पास सिमरिया गाव में केन और धसान नदियों के मध्य के क्षेत्र में पाण्डव पहाडियों अमरौनिया महगाव और मोतिही में मध्य प्रदेश के कोटा जिले में सैगढ और चन्द्रपुर में उससे पश्चिम में पिपरिया रेजकोई और कजरा में तथा आगे बजाना में लोहे की खानें हैं तथा उससे आगे सेरवा हीरपुर तिघोरा और मझवरा में। यमुना तट पर सरई और धौरीसागर में तथा खटोला से ग्वालियर के बीच की लगभग सभी पहाडियों में खदानें होने की सूचना फ्रेंकलिन देते हैं। कालिंजर और अजयगढ की पहाडियों का भी ब्यौरा देते है। सागर जिले में तेंदूखेडा में कच्चे लोहे के विविध रूपों गुलकू सुरमा पीरा और काला तथा देवी साही कच्चे लोहे का वृत्तान्त लिखते हैं। साथ ही इन इलाकों में लोहे की भट्ठियों की शृखला होने की भी सूचना देते हैं। भट्ठियों की आकृति बनावट कार्यपद्धति इधन का स्वरूप पिघलावभट्ठी और शोधनविधि उत्पादन का स्तर व मात्रा आदि का विवरण यह लेखक देते हैं। उसके भार लागत बिक्री मुनाफे आदि का भी अदाजा लगाते हैं तथा इस विधि को समझने की ओर अग्रेजों द्वारा ध्यान दिया जाना आवश्यक समझते हैं क्योंकि उससे अच्छे लाभ की सभावना उन्हें दिखती है।

मद्रास के असिस्टेंट सर्वेयर जनरल कैप्टेन जे कैम्पबेल ने दक्षिण भारत में तैयार किये जाने वाले चार तरह के भारतीय लोहे का विवरण इग्लैंड को भेजा। इसमें कच्चा

माल भट्ठी ईधन निर्माणविधि आदि का विवरण था ताकि ब्रिटिश लोहानिर्माता एवं लोहाव्यापारी उस ज्ञान का लाभ उठा सकें।

मेरा अनुमान है कि १८०० ईस्वी के आसपास में लगभग १० ००० भट्टिया थीं जिनमें लोहा और इस्पात बनता था। यदि वर्ष में ३०-४० सप्ताह इन पर कार्य होता होगा तो इनमें से प्रत्येक की उत्पादन क्षमता २० टन बढिया इस्पात प्रतिवर्ष की थी। ये भट्टिया वजन में हल्की होती थीं और बैलगाडी में रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाई जा सकती थीं। इस प्रकार बढिया लोहा एव इस्पात बनानें मे उस समय भारत के लोहा बनाने वाले ब्रिटेन के लोहा बनाने वालों से आग दिखते हैं।

१८ वीं शती ईस्वी में भारत में बर्फ बनाने की तकनीक भी विकसित थी। इलाहाबाद जैसे स्थानों पर बर्फ बनाये जाने का विवरण कुछेक तत्कालीन अग्रेजों ने दिया है। सन पौधे के उपयोग से कागज बनाये जाने का विवरण भी मिलता है। डामर बनाये जाने गारा बनाये जाने रगाई के विविध रसायन बनाने की प्रौद्योगिकी भी १८ वीं शती ई के भारत में सुविकसित थी।

खेती और सिंचाई की व्यवस्था में भारत अति प्राचीन काल से समुन्नत रहा है तथा १८ वीं शती ई में फसलचक्र खादप्रयोग वपित्र से बुवाई तथा अन्य उन्नत कृषिप्रौद्योगिकी का भारत में प्रचुर उपयोग होता था। हमारे गाय-बैल पर्याप्त हृष्टपुष्ट होते थे। खाद्यान्न तिलहन दलहन फल सब्जी वृक्ष वनोपज बागवानी आदि की उन्नत प्रौद्योगिकी एव विज्ञान भारत में विद्यमान था। प्रत्येक कृषिकर्म की बहुत गहरी समझ तकनीकी निपुणता परिष्कृत बोध सूक्ष्म सवेदना कुशल प्रबंध एव सक्षम भण्डारण का ज्ञान यहा व्यापक था। अकाल सुकाल वर्षागम शरदागम आदि कालज्ञान ऋतुज्ञान वायुप्रवाह का ज्ञान उसके परिणामों का ज्ञान फसल के लक्षणों रोगों रोग के उपचारों का ज्ञान फलो और अनाजों की विविध किस्मों और उनके गुण धर्म प्रभावों का ज्ञान बीजों की पहचान पशुओं की नस्ल व क्षमता की पहचान पशुपालन एव पशुआहार का ज्ञान यह सब भी १८ वीं शती ईस्वी के भारत में पर्याप्त समृद्ध था। कृषि और बागवानी के उत्कृष्ट उपकरण विद्यमान थे। रहट ढेकुरी विविध तरह के हल पवनचक्की हसिया खुरपी खुरपा गोदना ओखल मूसल ढेंकर बरवर पाटा आदि व्यापक रूप से प्रचलित उपकरण थे। लकडी और लोहे के कारीगरो बढई और लुहार के यत्रो की स्थिति भी अच्छी थी। निराई गुडाई कटाई गहाई उड़ावनी आदि की तकनीकी का यहा विस्तृत ज्ञान था। सिंचाई के अत्यन्त समुन्नत तरीके थे जिससे कि भूमिगत जल एव वर्षाजल का सर्वोत्तम सदुपयोग हो। स्वय राजस्थान में सरों और सरोवर की

सुव्यवस्था के द्वारा कठोर ऋतुदशा एव प्रतिकूल परिस्थितियों मे भी समाज को गतिशील रखने के पर्याप्त प्रबध थे। जल के सदुपयोग की चेतना राजस्थान मे अत्यत विकसित रही है। मद्रास प्रेसीडेन्सी और मैसूर राज्य में करीब एक लाख छोटे-बडे सिंचाई के तालाब १८०० ई के आसपास थे ऐसा माना जाता है। उनकी ब्रिटिश राज में उपेक्षा होने पर बहुत से तालाब १८५० ई तक समाप्त हो गये। तालाब तथा अन्य सिचाई स्रोतो की देखभाल तथा मरम्मत के लिए दक्षिण में कुल कृषिउपज का एक अश सुरक्षित रखने की परपरा रही थी। उसी से यह व्यवस्था सुचारु एव गतिशील रहती थी। शायद राजस्थान एव अन्य क्षेत्रों में भी ऐसी ही कुछ व्यवस्था रही हो।

सन् १८०० ई के आसपास भारतीय खेती की उपजदर इग्लैड की कृषि उपजदर से दुगुनी व तिगुनी तक थी। भारत में कृषि का अधिकाश काम किसान स्वय करते थे जबकि इग्लैंड में अधिकतर खेती का काम कृषिदासो और मजदूरो से ही लिया जाता था।

जैसा कि हम सब जानते है कपडा बनाने का उद्योग भी भारत में पुरातन काल से है। यह भी सब जानते ही हैं कि १८ वीं शती ई में भारतीय वस्त्रोद्योग विकसित था और यहा से बहुतसा कपडा विदेशों विशेषकर यूरोप में जाता था। भारत के सूती कपडो से जब इग्लैंड का बाजार भरने लगा तब वहा भारतीय कपडों के आयात के विरुद्ध आदोलन हुए। भारतीय बुनकरो का कौशल विश्व प्रसिद्ध था। भारत के गावों व कस्बों शहरों में कपास की धुनाई सूत आदि की कताई कपडों की बुनाई छपाई रगाई आदि के काम व्यापक स्तर पर होते थे यह भी सर्वविदित ही है।

सन् १८१० ई के आसपास के ब्रिटिश भारतीय आकडो से पता चलता है कि दक्षिणी भारत के जिलों में सूती रेशमी आदि कपडा बनाने और निवाड आदि तैयार करने के काम आने वाली खड्डियों की सख्या १५ से २० हजार तक प्रति जिले मे थी। ऐसा लगता है कि देश भर में प्राय सर्वत्र हर जिले मे लगभग इतनी खड्डिया रही हो सकती हैं। बुनने वाले बुनकरों की सख्या तो खड्डियों की सख्या से अधिक ही होगी। कातने वालों की तो अनगिनत ही होगी। धुनाई रगाई छपाई आदि का काम करने वाले धुनिया रगसाज छीपी आदि की सख्या भी इसी अनुपात में होगी। भारतीय वस्त्रोद्योग के विनाश से ये सब दरिद्र और कगाल हुए।

चरक और सुश्रुत के इस देश में १८ वीं शती में भी आयुर्वेद का पर्याप्त प्रभाव शेष था। चेचक का टीका लगाने की देशी प्रथा भारत के कई हिस्सों मे व्यापक थी जब कि इग्लैंड में चेचक का टीका १७२० ई के बाद ही चला। शल्यचिकित्सा में भी

भारतीय ग्रामीण वैद्य १८ वीं शती में इतने उन्नत बचे रहे थे कि इग्लैंड की स्थिति की उनसे तुलना ही नहीं हो सकती।

जिस तरह अग्रेजों ने सुनियोजित ढग से भारतीय वस्त्रोद्योग एव कारीगरों को विनष्ट किया उसी तरह टीका लगाने के एव चिकित्सा कौशलों का भी हनन किया। १८०२ ई के आसपास से बगाल प्रेसीडेन्सी में भारतीय तरीके से चेचक का टीका लगाना प्रतिबधित कर दिया गया। इससे भयकर महामारी फैली। भारत में परपरा से इस रोग के निवारक उपाय भी अत्यन्त विस्तृत एव व्यापक थे। पर साथ ही टीके की भी तकनीक विकसित थी। किन्तु अग्रेजों ने उसका दमन किया और स्वय की विकसित हो रही तकनीक के पक्ष में हवा बनाने के लिए उस काम को रोक दिया। अपनी टीका तकनीकी भी सबको सुलभ नहीं करा पाए। फलत उन्नीसवीं शती और बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में भारत में चेचक महामारी भयकर रूप से बार बार फैली।

शल्य चिकित्सा में निपुणता भी भारतीय ग्रामीण वैद्यों मे १८ वीं शती तक शेष थी। अग्रेजों ने उनकी विधि को अवैज्ञानिक मानकर भारत में तो उसे दबाया लेकिन ब्रिटेन में इसी भारतीय विधि के आधार पर यूरोपीय मानी जाने वाली शल्य चिकित्सा को विकसित किया। ऐसा १७९५ और १८१५ के बीस बरसों में किया गया। गणित एव ज्योतिष में प्राचीन भारत की श्रेष्ठता विश्वविदित है। किन्तु १८ वीं शती में हमारी इस मामले में क्या स्थिति थी इस पर प्राय अस्पष्टता है। भारतीय गणित ज्योतिष १८ वीं शती में भी पर्याप्त विकसित थी। एडिनबर्ग के गणित विभागाध्यक्ष प्रो जान प्लेफेयर ने विस्तृत जाच पड़ताल के बाद माना कि ईसा पूर्व ३१०२ सन् में आकाशीय पिंडों की स्थिति के बारे में भारतीयों का गणित ज्योतिषीय कथन हर प्रकार से सही दिखता है। पर वे यह मानने को तैयार नहीं थे कि यह भारतीयों ने ३१०२ ईसा पूर्व में स्वय जो देखा था उसी का विवरण परपरा से सुरक्षित है। क्योंकि गणित मे तो उतने विकसित वे हो ही कैसे सकते हैं ? देश और काल की दूरस्थ गणना का सामर्थ्य भारतीयों मे कैसे आ सकता है ? अब यह अलग बात है कि अठारहवीं शती में भारत में बनारस में दशाश्वमेध घाट के पास मानमदिर वेधशाला विद्यमान थी जो कि १६ वीं शती ई में बनी बताई जाती है। इसी १६ वीं शती में ब्रिटेन में गणित ज्योतिष नितात अविकसित दशा में था। प्लेफेयर ने कहा कि 'गुरुत्वाकर्षण सिद्धात एव इण्टीग्रल केलकुलस के गणितीय सिद्धातों के ज्ञान के बिना भारतीय गणितज्ञ इतना अचूक गणित ज्योतिषीय आकलन कर ही नहीं सकते थे। हा लगता है कि आकाशीय पिंडों के सीधे सूक्ष्मता से निरीक्षण की कला ब्राह्मणो को पाचेक हजार साल पहले आती थी और देखे गये विवरण

ही उन्होंने दर्ज रखे एव अब याद किये हुए हैं। गणित और रेखागणित के ज्ञान में भारतीयों के अधिक उन्नत होने का तथ्य स्वीकार करने की मनोदशा में विदेशी विजेता नहीं थे।

इस विवरण से सामने यह आया कि गणित विज्ञान प्रौद्योगिकी वस्त्रोद्योग सिंचाई कृषि आदि के विस्तार में भारत पीछे नहीं था। उस समय के ब्रिटेन ने भारत से तब कुछ सीखा ही। अत ब्रिटिश जीत का कारण उनकी प्रौद्योगिकी श्रेष्ठता नहीं कुछ और था।

समाज व्यवस्था

भारतीय समाज व्यवस्था में अंग्रेजों को क्या परिवर्तन उद्दिष्ट थे इसका ध्यान रखने पर ही हमें उनके अनेक कामों और योजनाओं का सही अभिप्राय समझ में आयेगा। पहले कहा ही जा चुका है कि अमरीका आयरलैंड अफ्रिका या भारत के समाजों को ब्रिटिश राज्य या अन्य यूरोपीय राज्य के औजार के रूप में विकसित किया गया। इस तथ्य को ही ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है। तभी हम 'बोर्ड आफ कमिश्नर्स आफ इण्डिया' के अध्यक्ष हेनरी डण्डास द्वारा ११ फरवरी १८०१ ई में मद्रास प्रेसीडेन्सी की सरकार को भेजे गये इस पत्र का आशय समझ सकते हैं -

(स्थायी बदोबस्त के विरुद्ध परामर्श देते हुए उन्होंने लिखा) कर्नाटक के क्षेत्रों एव बगाल में एक ठोस अतर है। बगाल में लोग सरकार का आदेश मानने और अधीनता स्वीकार करने की आदतों में बहुत बढे चढे थे। कर्नाटक के लोग उन्हें दिए जाने वाले लाभों और कृपा के स्वागत के लिए परिपक्व नहीं हैं। वहा के लोग जब तक उन लाभों का महत्त्व समझने की बुद्धि से सपन्न न हो जाए तब तक वहा कोई वैध आदेश-व्यवस्था लागू करना व्यर्थ होगा। दक्षिण के राजाओं में विद्रोह और अधीनता न मानने की जो प्रवृत्ति प्रबल है उसका दमन किये बगैर वहा कोई व्यवस्था लागू नहीं की जा सकती। ऐसे क्षेत्रों को अधीनता की उस दशा में लाया जाना चाहिए जिसमें वे इस सिद्धात के प्रति समर्पित हों और उसे स्वीकार करें। प्रत्येक लाभ के लिये उन्हें हमारे उपकारों और हमारी बुद्धिमत्ता के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। हम उन्हें काम करने देते हैं और खुशी से जीने देते हैं इस सरक्षण के प्रति उन्हें हमारा हार्दिक कृतज्ञ होना चाहिए। ये हमारी दृष्टि में अनुल्लघनीय सत्य है।

हेनरी डण्डास के वशज सन् १९४७ के भारत छोडने तक ६-८ पीढियों तक भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य से विविध स्तरों पर सबधित रहे। सन् १७८० से १९४७

तक इसी प्रकार कई हजार ब्रिटिश परिवार भारत में ब्रिटिश राज से ऐसे ही र
जुड़े रहे।

यहां यह भी याद करना आवश्यक है कि यह मानना नितांत असत्य
तो भारत मे ईस्ट इण्डिया कपनी आई थी ब्रिटिश राज्य नहीं अत १८५
कुछ भारत में हुआ वह कुछ ब्रिटिश व्यापारियों का काम था ब्रिटिश राज्यम
नहीं। प्रारम से ही ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कपनी को ब्रिटिश राज्य द्वारा सप्रभु
एवं राज के अधिकार प्रदान कर दिए गए थे।

ऐसी ही कपनिया यूरोप के अनेक राज्यों ने स्वीकृत की थीं
विस्तारवाद के तरीके को समजने के लिए यह समझना आवश्यक है कि ऐ
कपनिया मुख्यत विविध यूरोपीय राज्यों का औजार थीं। भले ही किसी
राजतत्र से कुछ झगड़ा हो परतु उसे राज्य का सैनिक एव राजनैतिक सरक्षण
रहता था। और जब कोई कपनी विशेषत ब्रिटिश कपनी सचमुच किसी
जीतना और उस पर राज करना शुरू कर देती थी तो व्यवहारत वास्तवि
उस विजित क्षेत्र पर ब्रिटिश राज्य ही करने लगता था। भले ही औपचारिक
शासन उस विशेष कपनी का ही जारी रहे जैसे कि कुछ मामलों में भारत में
तक था। परतु निर्णय लेने वाली शक्ति तथा राजनैतिक एव सैन्यनियत्रण क
शक्ति ब्रिटिश राज्य ही था। सभी विषयों से सबद्ध विस्तृत निर्देशों का
सशोधन एव स्वीकरण राज्य द्वारा ही किया जाता था। भारत के सदर्भ मे तो १
से आगे वैधानिक रूप में भी ऐसा था ही १७५० ई से भी ब्रिटिश ईस्ट इण्डि
द्वारा कोई भी महत्वपूर्ण कदम ब्रिटिश राज्य के निर्देश या स्वीकृति के बिना नह
गया। उदाहरणार्थ मराठा नौसेनापति आग्रे पर १७५० ई के दशक में ब्रिटिश र
ब्रिटिश राज्य की नीति एव निर्देश के अधीन किया गया था और इस पहल क
ईस्ट इण्डिया कपनी से नाम मात्र का ही सम्बन्ध था। वैसे भी कपनी को आर
ब्रितानी नौसेना की पूरी सहायता प्रदान की गई तथा बाद में स्थल सेना की भी

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश राज्य एवं समाज का अपने राज्य-वि
सदर्भ में क्या स्वरूप था और क्या नीति थी। दूसरी ओर भारत मे राज्य को स
ही तरह सदा विविध मर्यादाओं में रहना होता था। किसी पर अकारण आक्रमण
किसी को पूर्णत अधीन बनाकर अपने अनुरूप रूपांतरित करने का कोई भारती
विचार तक नहीं कर सकता था। अपने कार्यों का स्पष्टीकरण समाज के समक्ष ए
होता था।

ईस्ट इण्डिया कपनी भारत में जो कर रही थी वह ब्रिटिश अभिजात वर्ग के आदर्शो एव निर्देशों के अनुरूप ही था। एडिनबर्ग के प्रोफेसर एडम फर्गूसन ने सन् १७८३ ई में हेनरी डडास को लिखा था कि कपनी चरित्र मे (ब्रिटिश अभिजनों से) घटिया है। पर इसी कारण उसमें ऐसे लोगों को भर्ती किया जा सकता है जो ऊचे और भव्य कामों के योग्य नहीं हैं। सन् १७७३ में फर्गूसन ने अपने मित्र व शिष्य जान मैकफरसन को जो बगाल में काउसिल के सदस्य व वारेन हेस्टिग्ज के बाद कुछ समय बगाल के गर्वनर भी रहे थे लिखा था मुझे बहुत दु ख होगा यदि कपनी के नौकरों को भारत की धरती पर धन बटोरने से रोका गया। आखिरकार भारतीय सपत्ति को इग्लैंड खींच कर लाने का सबसे आसान तरीका यही तो है।

यहा मैं उन बातों को अधिक विस्तार से नही कह रहा हू कि ब्रिटिश भारतीय फौज के अधिकाश अफसर किस प्रकार घूस लेते थे यहा की उनकी सैनिक व नागरिक सेवाओ में क्या क्या प्रलोभन थे और यहा सिविल सर्विस में आये ब्रिटिश अभिजनों से कुछ वर्षो मे कितने रूपये बचाकर इग्लैंड ले जाये जाने की आशा की जाती थी ताकि वहा सभ्य जीवन जी सकें। यहा तक की मैकाले या विलियम जोंस जैसे राजनैतिक सास्कृतिक व्यक्तित्व वाले लोगों के भारत आने के पीछे मुख्य अभिप्राय यही था कि यहा कुछ वर्ष रहकर वे इतनी बचत कर लेंगे कि ब्रिटेन वापिस जाकर वहा के समाज में अपनी हैसियत के अनुरूप आराम से आजीवन रह सके। अधिकाश गवर्नर जनरलों एव बाद में वायसरायों ने इग्लैंड से भारत आते समय यह हिसाब लगाया था कि अपने कार्यकाल मे वे कितनी बचत कर सकेंगे।

अपने मित्र अर्ल मोर्ले को १८२४-२५ मे एमहर्स्ट ने बताया कि मैं सभवत प्रतिवर्ष पचीस हजार पौंड के वेतन का आधा बचा पाऊ। एमहर्स्ट गवर्नर जनरल रहे थे। एलफिंस्टोन मुबई में गवर्नर थे। उनकी महत्वाकाक्षा थी कि जब वे ब्रिटेन लौटें तो ३ लाख रूपये बचाकर ले जाए ताकि नया पुराना साहित्य पढते हुए आराम से रह सकें। उनके मित्र स्ट्रेची ने सुझाव दिया कि ६० हजार पौंड बचत करने तक गवर्नर बने रहो।

ब्रिटिश फौज में जिसमे भारत मे आये ब्रिटिश फौजी अफसर भी सम्मिलित हैं अफसर पद की भर्ती कानूनी तौर पर सन् १८६० ई तक खरीदी जाती थी। क्योंकि इन पदों पर अच्छी आमदनी के साथ ही पद के अनुरूप उस लूट में हिस्सा मिलता था जो लड़ाई के समय ब्रिटिश सेना पराजित राज्य में करती थी।

इस प्रकार धन कमाने को न केवल वैधता एव प्रतिष्ठा प्राप्त थी अपितु उसे ब्रिटेन की सेवा का एक माध्यम भी मान लिया गया था। विदेशी लूट ब्रिटिश देश सेवा

की एक बहुमान्य अवधारणा रही है। राबर्ट क्लाइव और उसके साथियों को जो बड़े बड़े उपहार आदि दिए गए और डाली का जो व्यापक प्रचलन ब्रिटिश राज में बढ़ाया गया वह इस लूट के अतिरिक्त है। अंग्रेजों द्वारा भारत में मुनाफा कमाने का एक यही तरीका था कि अपने राज्य में भी किसी इलाके में नमक बनाने का एकाधिकार प्राप्त कर लो या बुनकरों पर पूर्ण नियन्त्रण के अधिकार प्राप्त कर लो अथवा किसी व्यापार में जुटो और सरकार से कर वगैरह में रियायत या माफी प्राप्त कर लो। इन सबसे भी अधिक महत्वपूर्ण तरीका यह था कि पहले किसी देसी रियासत के राजा को ब्रिटिश सरक्षण स्वीकार करने को तैयार किया जाय। फिर उसे अपने राज्य में तैनात ब्रिटिश फौज का खर्च वहन करने को मजबूर किया जाए। इस खर्च को पूरा करने के लिए उस राजा को ब्रिटिश अफसर सौदागर कौंसिल सदस्य और गवर्नर तक ३६ से ६० प्रतिशत तक वार्षिक ब्याज पर ऋण दें। इसके एवज में विस्तृत क्षेत्र या पूरा क्षेत्र ब्रिटिश अफसरो के पास रेहन रख लिया जाए। कई बार स्वय ऋणदाता अपने नाम से ये इलाके रेहन रखता था कभी अपने एजेण्ट के नाम से या किसी 'डमी के नाम से। इस प्रकार उस क्षेत्र पर अधिकार भी हो जाता था और धन भी वसूल किया जाता रहता था। अतत यह सारा धन ब्रिटेन जाता था। १७५० से १८३० तक यह सब व्यापक रूप में चलता रहा।

किन्तु इसका यह अभिप्राय भी नहीं कि मात्र निजी लोभ या सग्रह-लालसा ही ऐसे व्यवहारों का मूल थी। जान लॉक एडम स्मिथ जैसे ब्रिटिश विचारकों ने इस व्यवहार के पक्ष में वैचारिक आधार निर्धारित एव निरूपित किये। इसमें अधिक कठिनाई इसलिए भी नहीं आई क्यों कि ये व्यवहार ब्रिटेन में ऐसे क्षेत्रों में प्रचलित प्रतिमानों के अनुरूप ही थे। ब्रिटिश समाज अपने ऊर्जस्वी और उद्यमी बेटों से यही अपेक्षा करता था कि वे विश्व को ब्रिटिश प्रयोजनों का एक नियत्रित अधीनस्थ औजार बनाए। जैसी कि चर्चा की जा चुकी है यही ग्रीक सभ्यता काल से परपरागत यूरोपीय दृष्टि है।

इसी प्रकार भारत में अंग्रेज अफसर जहां ब्रिटिश समाज द्वारा उन्हें सौंपे गए दायित्वों को चुस्ती से निभा रहे थे वहीं वे उन व्यवहार प्रतिमानों का भी निष्ठा एव दृढतापूर्वक निर्वाह कर रहे थे जो कि स्वय ब्रिटिश समाज में बनाये गये थ और प्रचलित थे। अपने समाज में वैसे व्यवहारो के अभ्यास के कारण उन्हें विदेश में भी वही व्यवहार करने में किसी आतरिक कठिनाई का कभी अनुभव नहीं हुआ।

जहां तक भारतीय समाज की तत्कालीन व्यवस्था का प्रश्न है कुछ तथ्यों का स्मरण उपयोगी होगा। सबसे पहले तत्कालीन भारत के राजनीति तत्र (पालिटी) के शीर्षस्थ लोगों का आचरण स्मरणीय है। मुगल दरबारों की शाही शानो शौकत की विपुल

गाथा गाई गई है। यूरोपीय यात्रियों ने ऐसे बहुत से किस्से लिखे हैं। किन्तु ब्रिटिश अभिलेख देखने पर अलग ही चित्र उभरता है। उससे भारत के शीर्षस्थ लोगों के जीवन में भी विशेषकर हिन्दू राज्यों में सादगी और सयम की ही झलक मिलती है। मुस्लिम शासित हैदराबाद तक में १७८० ई में एक निरीक्षण निपुण ब्रिटिश अधिकारी ने अनुभव किया कि वहा के अभिजनों और उनके सेवकों के बीच देख कर भेद कर पाना बहुत कठिन है। ध्यान से देखने पर ही यह अतर कर पाना सभव था और वह अतर यह था कि अभिजनों के वस्त्र सेवकों की तुलना में अधिक साफ होते थे। उसे इस स्थिति पर गहरा क्षोभ हुआ कि ये लोग ऐसा अतर बनाये रखना ठीक से नहीं जानते।

एक सशक्त प्रारभिक ब्रिटिश गवर्नर जनरल का कहना था कि हिन्दू राजा अपने ऊपर निजी खर्च बहुत कम करते हैं। इसी बात की सन् १८०० से पहले और उसके १८ २० वर्षो बाद तक अनेक लोगों ने पुष्टि की या प्रतिध्वनि की। उस गवर्नर जनरल के अनुसार इन राजाओं में दो बडी कमिया हैं जिनकी क्षति उन्हें उठानी पडती है। एक तो ये ब्राह्मणों को बहुत दान देते हैं दूसरे मदिरो को।

सभवत यहा ब्राह्मण एव मदिर शब्दों का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में है। ब्राह्मणों से अभिप्राय उन सभी लोगों से है जिन्हें किसी प्रकार के विद्याध्ययन एव विद्याभ्यास (साहित्य कला सगीत शिल्प वैद्यक ज्योतिष आदि) हेतु अनुदान दिया जाता है। इसी प्रकार मदिरों से आशय ऐसी समस्त सस्थाओं से है जो न केवल धार्मिक उपासना आदि की व्यवस्था करती हैं अपितु जो विद्या सस्कृति उत्सव एव सामाजिक विनोद विश्राम आदि की व्यवस्थाए सचालित करती हैं। उदाहरणार्थ भारत में चेचक का स्वदेशी टीका लगाने वालों के बारे में ब्रिटिश अभिलेखों में कहा गया है कि ब्राह्मण लोग ये टीके लगाते थे। स्पष्ट है कि जानकार यूरोपीयों द्वारा उस अवधि में उन सभी लोगों को ब्राह्मण मान लिया जाता था जो बौद्धिक चिकित्सा सम्बन्धी या अन्य ऐसी ही क्रियाशीलताओं में सलग्न होते थे।

केदारनाथ से तजावुर एव रामेश्वरम् तक देश भर में धार्मिक स्थानों में तीर्थयात्रियों के ठहरने आदि के लिए छत्रम् होते थे। सन् १८००-१८०१ ई के तजावुर राजा और अग्रेज सरकार के पत्रव्यवहार से ज्ञात होता है कि तजावुर से रामेश्वरम् तक की अनेक बन्दरगाहों का राजस्व भी तजावुर से रामेश्वरम् तक बने छत्रमों के रखरखाव पर सीधे खर्च कर दिया जाता था। इन छत्रमों की कार्यप्रणाली और देश के चारो कोनों से आकर इनमें ठहरने वाले तीर्थयात्रियों को दी जाने वाली सुविधाओं के बारे में तजावुर के राजा ने लिखा था

की एक बहुमान्य अवधारणा रही है। राबर्ट क्लाइव और उसके साथियो को जो बड़े बड़े उपहार आदि दिए गए और डाली का जो व्यापक प्रचलन ब्रिटिश राज में बढ़ाया गया, वह इस लूट के अतिरिक्त है। अग्रेजों द्वारा भारत में मुनाफा कमाने का एक यही तरीका था कि अपने राज्य में भी किसी इलाके में नमक बनाने का एकाधिकार प्राप्त कर लो या बुनकरों पर पूर्ण नियत्रण के अधिकार प्राप्त कर लो अथवा किसी व्यापार में जुटो और सरकार से कर वगैरह में रियायत या माफी प्राप्त कर लो। इन सबसे भी अधिक महत्वपूर्ण तरीका यह था कि पहले किसी देसी रियासत के राजा को ब्रिटिश सरक्षण स्वीकार करने को तैयार किया जाय। फिर उसे अपने राज्य में तैनात ब्रिटिश फौज का खर्च वहन करने को मजबूर किया जाए। इस खर्च को पूरा करने के लिए उस राजा को ब्रिटिश अफसर सौदागर कौंसिल सदस्य और गवर्नर तक ३६ से ६० प्रतिशत तक वार्षिक ब्याज पर ऋण दें। इसके एवज में विस्तृत क्षेत्र या पूरा क्षेत्र ब्रिटिश अफसरों के पास रेहन रख लिया जाए। कई बार स्वय ऋणदाता अपने नाम से ये इलाके रेहन रखता था कभी अपने एजेण्ट के नाम से या किसी 'डमी के नाम से। इस प्रकार उस क्षेत्र पर अधिकार भी हो जाता था और धन भी वसूल किया जाता रहता था। अतत यह सारा धन ब्रिटेन जाता था। १७५० से १८३० तक यह सब व्यापक रूप मे चलता रहा।

किन्तु इसका यह अभिप्राय भी नहीं कि मात्र निजी लोभ या सग्रह-लालसा ही ऐसे व्यवहारों का मूल थी। जान लॉक एडम स्मिथ जैसे ब्रिटिश विचारकों ने इस व्यवहार के पक्ष में वैचारिक आधार निर्धारित एव निरूपित किये। इसमें अधिक कठिनाई इसलिए भी नहीं आई क्यों कि ये व्यवहार ब्रिटेन में ऐसे क्षेत्रों में प्रचलित प्रतिमानों के अनुरूप ही थे। ब्रिटिश समाज अपने ऊर्जस्वी और उद्यमी बेटों से यही अपेक्षा करता था कि वे विश्व को ब्रिटिश प्रयोजनो का एक नियत्रित अधीनस्थ औजार बनाए। जैसी कि चर्चा की जा चुकी है यही ग्रीक सभ्यता काल से परपरागत यूरोपीय दृष्टि है।

इसी प्रकार भारत में अंग्रेज अफसर जहा ब्रिटिश समाज द्वारा उन्हें सौंपे गए दायित्वों को चुस्ती से निभा रहे थे वहीं वे उन व्यवहार प्रतिमानों का भी निष्ठा एवं दृढ़तापूर्वक निर्वाह कर रहे थे जो कि स्वय ब्रिटिश समाज में बनाये गये थे और प्रचलित थे। अपने समाज में वैसे व्यवहारों के अभ्यास के कारण उन्हें विदेश में भी वही व्यवहार करने में किसी आतरिक कठिनाई का कभी अनुभव नहीं हुआ।

जहा तक भारतीय समाज की तत्कालीन व्यवस्था का प्रश्न है कुछ तथ्यों का स्मरण उपयोगी होगा। सबसे पहले तत्कालीन भारत के राजनीति तंत्र (पालिटी) के शीर्षस्थ लोगों का आचरण स्मरणीय है। मुगल दरबारों की शाही शानो शौकत की विपुल

गाथा गाई गई है। यूरोपीय यात्रियों ने ऐसे बहुत से किस्से लिखे हैं। किन्तु ब्रिटिश अभिलेख देखने पर अलग ही चित्र उभरता है। उससे भारत के शीर्षस्थ लोगों के जीवन में भी विशेषकर हिन्दू राज्यों में सादगी और सयम की ही झलक मिलती है। मुस्लिम शासित हैदराबाद तक में १७८० ई में एक निरीक्षण निपुण ब्रिटिश अधिकारी ने अनुभव किया कि वहा के अभिजनों और उनके सेवकों के बीच देख कर भेद कर पाना बहुत कठिन है। ध्यान से देखने पर ही यह अतर कर पाना सभव था और यह अतर यह था कि अभिजनों के वस्त्र सेवकों की तुलना में अधिक साफ होते थे। उसे इस स्थिति पर गहरा क्षोभ हुआ कि ये लोग ऐसा अतर बनाये रखना ठीक से नहीं जानते।

एक सशक्त प्रारभिक ब्रिटिश गवर्नर जनरल का कहना था कि हिन्दू राजा अपने ऊपर निजी खर्च बहुत कम करते हैं। इसी बात की सन् १८०० से पहले और उसके १८ २० वर्षों बाद तक अनेक लोगों ने पुष्टि की या प्रतिध्वनि की। उस गवर्नर जनरल के अनुसार इन राजाओं में दो बडी कमिया हैं जिनकी क्षति उन्हें उठानी पड़ती है। एक तो वे ब्राह्मणों को बहुत दान देते हैं दूसरे मदिरों को।

सभवत यहा ब्राह्मण एव मदिर शब्दों का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में है। ब्राह्मणों से अभिप्राय उन सभी लोगों से है जिन्हें किसी प्रकार के विद्याध्ययन एव विद्याभ्यास (साहित्य कला सगीत शिल्प वैद्यक ज्योतिष आदि) हेतु अनुदान दिया जाता है। इसी प्रकार मदिरों से आशय ऐसी समस्त सस्थाओं से है जो न केवल धार्मिक उपासना आदि की व्यवस्था करती हैं अपितु जो विद्या सस्कृति उत्सव एव सामाजिक विनोद विश्राम आदि की व्यवस्थाए सचालित करती हैं। उदाहरणार्थ भारत में चेचक का स्वदेशी टीका लगाने वालों के बारे में ब्रिटिश अभिलेखों में कहा गया है कि ब्राह्मण लोग ये टीके लगाते थे। स्पष्ट है कि जानकार यूरोपीयों द्वारा उस अवधि में उन सभी लोगों को ब्राह्मण मान लिया जाता था जो बौद्धिक चिकित्सा सम्बन्धी या अन्य ऐसी ही क्रियाशीलताओं में सलग्न होते थे।

केदारनाथ से तजावुर एव रामेश्वरम् तक देश भर में धार्मिक स्थानों में तीर्थयात्रियों के ठहरने आदि के लिए छत्रम् होते थे। सन् १८००-१८०१ ई के तजावुर राजा और अग्रेज सरकार के पत्रव्यवहार से ज्ञात होता है कि तजावुर से रामेश्वरम् तक की अनेक बन्दरगाहों का राजस्व भी तजावुर से रामेश्वरम् तक बने छत्रमों के रखरखाव पर सीधे खर्च कर दिया जाता था। इन छत्रमों की कार्यप्रणाली और देश के चारों कोनों से आकर इनमें ठहरने वाले तीर्थयात्रियों को दी जाने वाली सुविधाओं के बारे में तजावुर के राजा ने लिखा था

समुद्र के किनारे किनारे बने इन छत्रमों में प्रतिवर्ष रामेश्वरम् जाने वाले ४० हजार तीर्थयात्रियों को ठहराने का पूरा प्रबंध है। हर छत्रम् के साथ मदिर और पाठशालाए हैं। यहा हर जाति के यात्री को भोजन दिया जाता है। जो खुद पकाना चाहें उन्हें उचित सामग्री दी जाती है। भोजन आधी रात तक बँटता है। फिर एक घटी बजा दी जाती है। भोजन से कोई छूट गया हो तो वह भी आ जाए। जो तीर्थयात्री किसी कारण तीर्थ यात्रा पर आगे बढ न पाए उन्हें यहा रुकने की सुविधा भी दी जाती है। हर छत्रम् में चार वेदों के ज्ञाता एक शिक्षक व एक चिकित्सक रहते हैं। अनाथ बच्चों को शिक्षक सभालता है। उन्हें तीन समय भोजन मिलता है और कपडे भी। वे जो विद्या या उद्योग सीखना चाहे वह उन्हें सिखाने की व्यवस्था की जाती है। छत्रम् में यदि किसी की असमय मृत्यु हो जाए तो उसका अतिम सस्कार भी किया जाता है। बच्चो को दूध गर्भवती स्त्री की देखभाल प्रसव होने पर तीन महिने तक उसकी देखभाल की पूरी व्यवस्था होती है।

छत्रमों के साथ सलग्न भूमि जिसका परपरागत भूमि कर उन्हें ही मिलता था अच्छी नहीं है। फसल अच्छी नहीं हो पाती। किन्तु इन छत्रमों का मैं बहुत आदर करता हू। इसलिए जो घाटा होता है उसे राज्य की ओर से अन्न व धन भेजकर पूरा किया जाता है। ऐसे ही कागजात केदारनाथ बद्रीनाथ से लेकर पजाब बगाल राजस्थान और दक्षिण के भी सभी भागों के बारे में मिलते हैं।

केदारनाथ के छत्रमों के बारे में यह भी व्यवस्था थी कि कुछ वर्षो तक उनके लिए प्रतिवर्ष निर्धारित धनराशि पूरी न खर्च होने के कारण जो कुछ धनराशि बच जाए कुभ पर्व के अवसर पर वह बची सपूर्ण धनराशि व्यय कर दी जाए और फिर नये सिरे से उनके कोष प्रारभ किये जाए। अनेक श्रोता मित्रों को यहा शायद सम्राट हर्षवर्धन की ऐसी ही प्रवृत्ति या प्रसग याद आए।

१८ वीं शती ई के ब्रिटिश अभिलेखों से यह भलीभाति अनुमान हो जाता है कि भारतीय समाज विशेषत यहा के ग्राम समाज कैसे चलते थे। १७७० ई के आसपास का चिंगलपेट जिले के गावो का विवरण मिलता है जो इसकी पर्याप्त जानकारी दे देता है। १८०० ई के पहले के बगाल से सबधित तथ्य भी इसी से मिलतेजुलते हैं।

चिंगलपेट जिले से सबधित विवरण १७६० १७७० ई के आसपास २ ००० गावो के एक सर्वे से एकत्र किये गये थे। इसमें प्रत्येक गाव की कुल भूमि विविध प्रयोजनों के लिए इस भूमि का उपयोग हर गाव की कुल कृषिभूमि (सिंचित और असिंचित) तथा मान्यम के विवरण हैं। मान्यम उस भूमि को कहते हैं जिसका भूमि

कर विविध ग्राम सस्थाओं एव गतिविधियों के लिए सौंपा जाता है। ऐसी भूमि का कर विधिविहित राज्याधिकारी व व्यवस्था को देय होता था फिर वह ग्राम स्तरीय अधिकारी हो क्षेत्रीय हो या राष्ट्रीय स्तर का हो।

ऐसे भूमि कर के प्रदान से किसी सबद्ध व्यक्ति का उस भूमि पर स्वामित्व यथावत् रहता था। बस सबधित भूमिस्वामी या किसान को उस भूमि का कर उस व्यक्ति या सस्था को देना होता था जिसके लिए मान्यम प्रदान किया गया हो। स्थानीय व क्षेत्रीय राज्य के स्थान पर यह कर मान्यम के प्राप्तकर्ता को दिया जाता था।

इस सर्वे का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग यह है जो १८०० ई से पहले दक्षिणी भारत के अभिलेखों में उल्लिखित गावो से सबधित है। गावो मे से प्रत्येक की कुल कृषि उपज में से गाव की विविध सस्थाओ तथा व्यवस्थाओं के लिए एक निश्चित अश निकाला जाता था और अन्य सबद्ध ग्रामों क्षेत्रों से सबधित अतर्ग्रामीण सस्थाओ और पदो के लिए निर्धारित अश निकाला जाता था। इस व्यवस्था को सामान्यत 'स्वतत्रम्' कहा जाता था। स्वतत्रम् का विवरण इन आकड़ों में है। स्पष्ट है कि उत्पादन का अश विभिन्न कार्यो एव विभिन्न सस्थाओं को पुरातन काल से चली आ रही प्रथाओं एव व्यवहारों के अनुरूप ही निर्धारित किया जाता रहा है। स्पष्टत यह मात्र आर्थिक प्रबध नहीं था। अपितु ग्राम्य या क्षेत्रीय राजनीतितत्र (पोलिटी)में ये अश प्राप्त करने वाले विविध घटकों की भूमिका और महत्त्व का निर्धारण भी इसी प्रक्रिया मे होता रहा होगा ऐसा दिखता है।

हर गाव से कुल कृषिउपज का लगभग २५ से ४० प्रतिशत (एक चौथाई से दो पचमाश) तक अश स्वतत्रम् के रूप में निर्धारित था। यहा प्रसगवश यह भी स्मरणीय है कि प्रमुख ब्रिटिश सेनापति और बाद में मुबई प्रेसीडेन्सी के १८२७-३० ई में गवर्नर रहे जान माल्कम का ऐसा अनुमान रहा कि मालवा के गावो में भी ऐसे प्रयोजनों (ग्राम खर्च) के लिए कुल कृषि उत्पादन का एक चौथाई के लगभग अश निकाला जाता था।

चिंगलपेट के दूसरे कई गावो में ऊपर चर्चित कार्यों के अतिरिक्त अन्य कई उत्सवों या कार्यो के लिए भी भिन्न भिन्न तौर पर अश निकाला जाता था। जैसे कि वर्नाकुलर स्कूल शिक्षक मठम्, सिद्धम्, उद्घोषक बनिया फकीर तेल बेचने वाले वेट्टियान मस्जिद इत्यादि के लिए। इस हिसाब के अनुसार चिंगलपेट जिले की कुल जोती हुई भूमि का लगभग छठा हिस्सा मान्य भूमि था। बगाल के कई जिलों में (१७७० ई के करीब) तथा मद्रास प्रेसीडेन्सी के कुडप्पा बेल्लारी अनतपुर आदि जिलों में (जहा थामस मुनरो ने १८००-१८०७ के मध्य ब्रिटिश सत्ता व अधिकार को सुदृढ किया)

तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में ऐतिहासिक एव पारपरिक रूप में मान्यम के नाम से वर्गीकृत भूमि उस क्षेत्र की कुल भूमि की आधी तक होती रही है। समवत भारत के अनेक हिस्सो में पूरे के पूरे जिले भी मान्यम निर्धारित कर दिये जाते थे। प्राय सास्कृतिक एवं धार्मिक सस्थाओं की सहायतार्थ ये मान्यम निश्चित किये जाते थे। किन्तु कुछेक मान्यम स्थानीय एव क्षेत्रीय सैन्य व्यवस्था के लिए भी निश्चित होते थे। १८३० के आसपास की एक सरकारी ब्रिटिश टिप्पणी में कहा गया है कि बगाल प्रेसीडेन्सी जिसमें बगाल बिहार, व अन्य क्षेत्र आते थे के जिलों में ऐसे हजारों व्यक्ति एव सस्थाए थीं जिनके लिए परपरा से मान्यम की व्यवस्था थी। १७७० ई के दशक में बगाल के एक जिले में मान्यम के दावेदारों की सख्या सत्तर हजार कही गयी है।

विविध व्यक्तियों एव सस्थाओं को दिये जाने वाले अश अलग अलग स्थानों व प्रदेशों में भिन्न भिन्न हैं। किन्तु मोटे तौर पर जहा भी सिंचाई थी वहा कुल कृषिउपज का चार प्रतिशत सिंचाईव्यवस्था के रखरखाव के लिए निर्धारित होता था। आप सब को यह जानकर शायद आश्चर्य होगा कि देवी मदिर धर्मराज मदिर एव ग्राम देवता मदिर जिनमें साधारणतया ब्राह्मण या अन्य द्विज नहीं जाते थे तथा जिनके पुजारी ब्राह्मण नहीं होते थे उनको जो कुछ स्वतत्रम् मिलते थे वे शिव विष्णु एव गणेश मदिर (जिनकी व्यवस्था मुख्यत द्विज नागरिक करते थे) को मिलने वाले स्वतत्रम् से अधिक थे। *प्रस्तुत आठ गावों में ग्राम देवता मदिर का उदाहरण नहीं है।*

यहा यह उल्लेख करना उचित होगा कि १८१८ ई के एक ब्रिटिश सर्वे के अनुसार दक्षिणी अर्काट जिले में बडे मझोले और छोटे मिलाकर कुल सात हजार से अधिक मदिर थे तथा कई सौ मठम एव छत्रम् थे। मद्रास के जिन अन्य जिलो में यह सर्वेक्षण किया गया वहा किसी में ३ हजार मदिर थे किसी में ४ हजार। एक मोटे अनुमान से १८०० में मद्रास प्रेसीडेन्सी में लगभग एक लाख मदिर रहे होंगे। उसी अवधि में पूरे देश में ऐसे स्थानों व सस्थाओं की सख्या ३ लाख के लगभग रही होगी। इनमें से लगभग ५ प्रतिशत सस्थाए इस्लामी उपासना एव अध्ययन के स्थल रही होंगी तथा लगभग एक हजार ईसाई उपासना सस्थाएं रही होंगी जिन में से अधिकांश दक्षिण भारत के समुद्रतटीय क्षेत्रों में थीं।

कर्णम् या कनक पिल्लई वस्तुत कोई व्यक्ति नहीं अपितु गाव के रजिस्ट्रार का कार्यालय होता था जो एक ग्रामीण सचिवालय जैसा समझना चाहिए। कर्णम् के कार्य के लिए सामान्यत कुल कृषि उपज का तीन से चार प्रतिशत अश दिया
तलियार यानी ग्रामपुलिस (जिसमें अनेक व्यक्ति होते रहे होंगे) के लिए

प्रतिशत अश निश्चित होता था। यहा प्रसगवश यह जानना भी उपयोगी होगा की तलियार अन्न मापने वाला भूमि सीमाविवाद निपटाने वाला तथा कुछ अन्य ग्रामीण पद सामान्यत अन्त्यज (परिहा) तथा अन्य वैसी ही जातियों के लोगों को मिलता था। महाराष्ट्र में ग्राम पुलिस (रक्षक दल) में महार लोग होते थे। सैन्य व्यवस्था का प्रमुख पालेगर कहलाता था। पालेगर समवत अपने क्षेत्र का आज के फौजी कर्नल या इन्सपेक्टर जनरल पुलिस जैसा पद होता था। यदि कहीं चोरी हो जाती थी और पुलिस या पालेगर चोरी गई सपत्ति ढूढ निकालने में विफल रहते थे तो उनसे यह अपेक्षा की जाती थी की वे अपने पद के लिए निर्धारित आय में से चोरी गई सपत्ति की क्षतिपूर्ति पीड़ित पक्ष को करें।

इन तथा ऐसे अन्य आँकड़ों तथ्यों के अधिक गहरे विश्लेषण की आवश्यकता है पर इनमें यह तो अर्थ स्पष्ट है कि इस समाज के प्रत्येक सदस्य की एक निश्चित प्रतिष्ठा थी तथा उसकी सामाजिक एव आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति की समुचित व्यवस्था की जाती थी। भारत के सास्कृतिक प्रतिमानों को देखते हुए तथा भारतीय भूमि की उर्वरता के कारण इन प्रतिमानों का निर्वाह सुगम होने के कारण भी प्रत्येक व्यक्ति का यह नैसर्गिक अधिकार मान्य प्रतीत होता है कि उसे भोजन और आश्रयस्थान प्राप्त हो। मध्यकालीन भारत के एक इतिहासकार के अनुसार दिल्ली के शासकों के जिस एकमात्र व्यय का विवरण प्राप्त है वह उन लोगों को मुफ्त भोजन कराने का व्यय है जिनके लिए ऐसे भोजन की आवश्यकता पड़ती थी। समवत दिल्ली के मुसलमान राज्य में भी यह राज्य का सबसे बड़ा व्यय मद रहा होगा। राज्य का यह व्यवहार भारतीय समाज के पुरातन प्रतिमानों की परपरा के आधार व मान्यताओं के अनुसार ही होगा।

ये अंशनिर्धारण मात्र आतरिक ग्रामव्यवस्था के लिए नहीं थे। यद्यपि ग्रामव्यवस्था का यह आतरिक तत्र भी वैविध्यपूर्ण एव सश्लिष्ट था तथा उसी के अनुरूप अश निर्धारित थे। पर साथ ही अतरग्रामीण धार्मिक सास्कृतिक राजनैतिक लेखा सम्बन्धी एव सैन्य प्रयोजनों की व्यवस्था के लिए भी ये अश निर्धारित थे। यह मानना चाहिए की अन्य तरह के उत्पादनों एव आय स्रोतों पर आधारित किन्तु सरचनामें कुछ ऐसी ही व्यवस्थाए कस्बों-शहरों के लिए भी रही होंगी। इस प्रकार ग्रामसमाज या कोई स्थानीय समाज जहा अपने आतरिक प्रयोजनों एव व्यवस्थाओं का प्रबध करता था और इस रूप में एक स्वायत्त गणतत्र या निगम का प्रतीक था वहीं वह अन्य गावो या स्थानों से भी सबद्ध होता था। वस्तुत वह अत क्षेत्रीय व्यवस्थाए एक बड़े क्षेत्र से भी सबधित रहती थीं जिसे हम राष्ट्रीय क्षेत्र कह सकते हैं। इस प्रकार इन आकड़ों एव

विवरणों से एक ऐसे राजनीतितंत्र (पालिटी) का रूप उभरता है जो महात्मा गांधी द्वारा व्याख्यायित उस 'सागरीय वृत्त' वाले बोध से मिलता-जुलता दिखता है जिसमें गांधीजी के विचार से सबसे भीतरी वृत्त सर्वाधिक आंतरिक स्वायत्तता प्राप्त किये रहता है तथा बाहरी वृत्तों को वैसे वित्तीय नैतिक तथा अन्य सहायता व समर्थन प्रदान करता रहता है जो कि उन अन्य बचे हुए कामों की पूर्ति हेतु इन बाहरी वृत्तो के लिए आवश्यक हैं जो काम स्थानीय स्तर पर सपन्न नहीं किये जा सकते।

इस प्रकार स्थानीय सामाजिक तंत्र के सम्यक् संचालन एवं देखरेख के लिए तथा उसकी छोटी बडी सभी संस्थाओं एवं कार्यों के लिए जहा उत्पादन का अच्छा खासा अंश निर्धारित होता था वहीं ऊपर की क्षेत्रीय व राष्ट्रीय संस्थाओ का हिस्सा कम होता था। प्रारंभिक ब्रिटिश अधिकारियों के अनुसार मालाबार में १७४० ई तक भूमि पर कर बिलकुल नहीं था। १५ वीं शती ई तक कन्नड प्रांत में ऐसा कोई कर नहीं था। रामनद (जिसमे रामेश्वर है) जैसे क्षेत्रो में १७९० के दशक में भी नाममात्र को भूमिकर था। त्रावणकोर में १९ वीं शती के आरंभ में भी भूमिकर कुल उत्पादन का ५ से १० प्रतिशत से अधिक नहीं था। ऊपर की संस्थाओं एवं व्यवस्थाओं के लिए भूमि पर लगने वाला कोई भी कर परंपरागत बहुत कम होता था यह १८०० ई तक मान्यम की भूमि पर खेती करने वालों द्वारा मान्यम पाने वालों को दिये जाने वाले कर या कृषिउपज के अंश की मात्रा से भी स्पष्ट होता है। मुसलमानों के समय जहा तहां कर शायद बढ़ा लेकिन इतना नहीं जितना अंग्रेजो के आने के बाद। थामस मुनरो के अनुसार अंग्रेजों द्वारा थोपी गयी राजस्व दरो से यह परंपरागत अंश या कर एक चौथाई से अधिक नहीं होता था। मुनरो के अनुसार कई बार तो किसान अपनी इच्छानुसार जितना चाहते थे उतना ही मान्यम प्राप्तकर्ता को दे देते थे। बंगाल के कलेक्टरों ने १७७० के दशक में ऐसी ही स्थिति होने की सूचना दी है और कहा है कि ब्रिटिश भू राजस्व बहुत भारी पड़ता है (परंपरागत दर से लगभग चार गुना) और जहां मान्यम भूमि कुल जोती गई भूमि का आधे के लगभग है ऐसे जिलों में बड़ी सख्या में किसान वह भूमि छोड़ देते थे जिसका राजस्व ब्रिटिश अधिकारियों को देना होता था। उसके स्थान पर वे मान्यम भूमि पर जाकर खेती करने लगते थे। यह शायद इसलिये भी संभव हुआ की १७६९ ७० के बड़े अकाल के बाद जिससे बंगाल की एक तिहाई जनसख्या घट गई काफी सारी खेती की जमीन बगैर जोत के पड़ी थी। जिस भूमि का राजस्व अंग्रेजों को देना पड़े उसे त्यागकर किसान मान्यम भूमि में खेती करने लगे। यह प्रवृत्ति १८२० में भी मद्रास प्रेसीडेन्सी मे विद्यमान थी। तब गवर्नर के रूप में थामस मुनरो ने धमकी दी थी कि

मान्यम के ऐसे स्वामियों का मान्यम रद्द कर दिया जायेगा जो अपनी भूमि पर ब्रिटिश राजस्व वाली भूमि छोड़कर खेती करने आने वाले किसानों को खेती करने देंगे।

ऊपर वर्णित ऑकड़ों के सदर्भ में यह जानने योग्य है कि मुगल शासकों (१५५६-१७०७ ई) के खजाने में धन की आमद उनके राज्य के माने जाने वाले कुल ...स्व के २० प्रतिशत से अधिक की कमी नहीं हुई। जहागीर के शासन में तो यह ... कुल राजस्व का ५ प्रतिशत से भी अधिक नहीं होती थी। यह भी उल्लेखनीय है ... ऐतिहासिक रूप से चीन में भूमि कर कुल कृषि उपज का लगभग सोलहवा हिस्सा बताया जाता है। ऐसा मानना स्वाभाविक ही होगा कि पूर्वी एव दक्षिणपूर्वी एशिया के ... स्थानों में भी यही राजस्व कर रहा होगा। भारत में मनु सहिता में अधिकतम कर ... का छठा अश लिये जा सकने की व्यवस्था है किन्तु वहा भी सामान्यत कुल उपज का बारहवा अश लिये जाने का ही आग्रह है। यहा यह भी स्मरणीय है कि ... १७८० से आगे अग्रेजों ने अनेक कारणो से मनु सहिता को विशेष महत्त्व दिया। ई के लगभग लदन में विविध भारतीय ग्रथो एव पाठो के अनुवाद और प्रकाशन ... को हतोत्साह किया जाने लगा। उस समय जिस एकमात्र पुस्तक के पुनर्मुद्रण ... दिया गया वह कुल्लूक भट्ट की टीका सहित मनुस्मृति का प्रकाशित था।

... ओर यह भी सत्य है कि पश्चिमी यूरोप में १८ वीं शती ई मे वहा के 'लैंड ... जो कर लगान वसूलते थे वह कुल कृषि उपज का ५० से ८० प्रतिशत ... लगता है कि भारतीय इतिहासकारों और बौद्धिकों ने अपने पश्चिमी स्वामियों से ... बिना गवेषणा के अगीकार कर ली हैं उनमें से एक यह है कि भारत में वही थी जो १८ वीं शती ई के पश्चिमी यूरोप में थी।

अपनी स्थानीय सास्कृतिक-धार्मिक सस्थाओं एव प्रवृत्तियों लेखा व्यवस्था ... एव सैन्य व्यवस्था या रक्षाव्यवस्था (कानूनगो देशमुख पालेगर आदि) का प्रबध करने वाला गाव या क्षेत्र सभवत शीर्षस्थ तत्र के लिए भी लगभग ५ ... अश देता था। लाखों गावो एव इकाइयों से मिलने वाली यह ५ प्रतिशत की ... भी कुल मिलाकर पर्याप्त से अधिक हो जाती रही होगी। यह गाव द्वारा अपनी सत्ता को या कि महात्मा गाधीजी द्वारा निरूपित बाहरी वृत्त को देय अश था। यह सत्य हो कि ऐसी व्यवस्था से क्षेत्रीय या राष्ट्रीय स्तर पर सैनिक दृष्टि से पर्याप्त हमारी सैन्य दुर्बलता अथवा अन्य सस्थागत निर्बलताओं के कारण कुछ और ही ... भारतीय राजनीति-तत्र (पोलिटी) की विकेन्द्रित सामाजिक एव वित्तीय व्यवस्था

शायद इसका कारण नहीं रही हो।

देश के विभिन्न भागों एव क्षेत्रों में भूमि स्वामित्व एव अधिकारों सम्बन्धी भिन्न भिन्न पद्धतिया रही हैं। एक ही क्षेत्र में भी कई व्यवस्थाए आसपास चलती रहती हैं। किन्तु प्राय इन सभी व्यवस्थाओं में भूमि पर ग्राम समुदाय को सर्वोच्च अधिकार प्राप्त थे। भूमि के क्रय-विक्रय की अनुमति एव उसके प्रबध सम्बन्धी सर्वोच्च अधिकारी ग्राम समाज का ही होता था।

ऐसे भी गाव थे जहा ग्राम समाज समुदायम के रूप में सगठित था। सभवत समुदायम में गाव के सब परिवार नहीं होते थे अपितु मात्र किसान परिवार और मान्यम पाने वाले परिवार होते थे। समुदायम के सदस्यों का गाव की भूमि में विशिष्ट हिस्सा होता था। जिस भूमि पर वे खेती करते थे वह भूमि आपस में समय समय पर बदल भी ली जाती थी। तजावुर में १८०५ ई में इस प्रथा का विवरण मिलता है। वहा उस समय लगभग तीस प्रतिशत गाव समुदायम के रूप में सगठित थे। यह परिवर्तन इस आधार पर किया जाता था कि समय समय पर सभी खेतों की उर्वरा शक्ति में कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। जिससे समुदायम सदस्यों में आपस में विषमता की स्थिति हो जाती है। इसीलिए भूमि का नये सिरे से पुनर्वितरण आवश्यक हो जाता है।

१८०५ ई तजावुर में मिरासदारों की कुल सख्या ६२ ०४८ थी। मिरासदार उन्हें कहते हैं जिनका भूमि पर स्थायी अधिकार हो। इन मिरासदारों में ४२ हजार से अधिक तथाकथित शूद्र एवं तथाकथित शूद्र से भी निचली जातियों के थे। बड़ामहल (वर्तमान सेलम जिला) में परिहा (अन्त्यज) कहे जाने वाले किसानों की सख्या १८०० ई में कुल ६ लाख की जनसख्या में ३२ ४७४ की थी। चिगलपेट के कलेक्टर द्वारा १७९९ ई में तैयार सूची में मिरासदारों की सख्या ८३०० दर्ज थी। पर कलेक्टर का मत था कि वास्तविक मिरासदारों की सख्या दस गुनी है। यानी ८० हजार के लगभग। सन् १८१७ में तिरुनेलवेल्ली जिले के १०८० गावो में मिरासदारों की सख्या ३७ ४९४ अनुमानित थी। यह कहना सभवत यहां आवश्यक नहीं थी सपूर्ण भारत में वास्तविक भूमि जोतने वाले के अधिकार स्थायी वशानुगत रहते हैं। १७९० ई के बाद अंग्रेजों ने ये अधिकार समाप्त करने का क्रम चलाया। एक तो इसलिए ताकि बहुत बढी हुई मात्रा में वे राजस्व वसूल कर सकें तथा दूसरे इसलिए क्योंकि स्वामित्व की ब्रिटिश अवधारणा में जोतने वालों के ऐसे किसी अधिकार का स्थान स्वय ब्रिटेन में नहीं था।

भारतीय अर्थव्यवस्था एव उपभोग या खपत के ढाचे का एक अनुमान बेल्लारी जिले के १८०६ ई के कुछ तथ्यों से भी होता है जिसमें जिले भर के हर परिवार की

औसत खपत का कुल आकलन है। पूरी जनसख्या ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा तीन वर्गो में वर्गीकृत है और उसका खपत ब्यौरा है। ये तीन वर्ग हैं-पहला अधिक समृद्ध लोगों का (कुल जनसख्या २ ५९ ५६८) दूसरा मध्यम साधनों वाले परिवार (कुल जनसख्या ३ ७२ ८८७) तथा तीसरा निम्न वर्ग (कुल जनसख्या २ १८ ६८४)। इस आकलन के अनुसार इन तीन वर्गो में खपत का यह रूप था-खपत की पहली श्रेणी वालों से दूसरी व तीसरी श्रेणी वालों द्वारा उपभोग्य खाद्यान्न की गुणवत्ता एव मूल्य में अतर था। मात्रा तीनों वर्गो में एक ही थी। वह थी प्रति व्यक्ति प्रतिदिन आधा सेर अनाज। खपत के इस विवरण में २३ अन्य वस्तुए भी थीं जिनमें दाल सुपारी घी तेल सूखा व कच्चा नारियल दवाए वस्त्र ईंधन सब्जी आदि हैं। पान भी है। पहली श्रेणी के लोगों में पान की खपत छ व्यक्तियों के एक परिवार में प्रतिवर्ष ९ ६०० पान की है। दूसरी श्रेणी में यह सख्या ४ ८०० पान प्रतिवर्ष है और तीसरी में इतने ही बड़े परिवार में प्रतिवर्ष ३ ६०० पान की खपत दर्ज है। घी और तेल की खपत का अनुपात तीनों वर्गो में लगभग ३ १ १ का है और दालो का ८ ४ ३ का। प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष कुल खपत प्रथम श्रेणी में १७ रु ३ आने ४ पाई है दूसरी श्रेणी में ६ रु २ आने ४ पाई तीसरी श्रेणी में ७ रूपये ७ आने है।

निश्चय ही ये व्यापक वर्ग हैं। यथार्थ में अनेक लोगों की खपत प्रथम श्रेणी की औसत से पर्याप्त अधिक रही होगी। वास्तविक उच्च और निम्न लोगों के बीच अतर की मात्रा का ज्ञान १७९९ ई के एक विवरण से होता है। यह कर्नाटक क्षेत्र का है। पर्याप्त छानबीन के बाद ब्रिटिश अधिकारी इस निष्कर्ष पर पहुचे की टीपू सुलतान का सबसे बड़ा अधिकारी चित्रदुर्ग के किले का गवर्नर टीपू के शासन में १०० रूपये प्रतिमाह पाता था। उस क्षेत्र में उन दिनों साधारण श्रमिक की मजदूरी की दर ४ रूपये प्रति माह थी। बाद में ब्रिटिश अधिकारियों ने नये अतर पैदा किये। उस समय भी ब्रिटिश जिला कलेक्टर को लगभग १५०० रु प्रतिमाह मिलते थे ब्रिटिश गवर्नर कौंसिल के सदस्य को ६ से ८ हजार रूपये प्रति माह। जबकि भारतीय मजदूरों का वेतन सन् १७६० से १८५० ई के बीच लगातार घटाया ही जाता रहा। १७६० में भारतीय श्रमिकों शिल्पियों आदि को मजदूरी के रूप में जो मिलता था सन् १८५० के आसपास उसका एक तिहाई ही शायद मिलता था अधिक से अधिक आधे तक।

नयी विषमताए मात्र ब्रिटिश अफसरों के वेतन तक सीमित नहीं थी। जहा राजकीय नीति में आवश्यक लगा वहा भारतीय अधिकारियों राजाओं आदि के भी वेतन भत्ते बहुत बढाये गये। मेवाड़ के महाराणा का निजी भत्ता बढाया जाना इसका एक

उदाहरण है। मेवाड़ १८१८ ई में ब्रिटिश सरक्षण में लिया गया। उससे पूर्व तक महाराणा का भत्ता एक हजार रूपया मासिक था ऐसा टॉड ने लिखा है। सरक्षण में लेने के कुछ ही महिनों में अंग्रेजों ने महाराणा का भत्ता एक हजार रूपये रोज कर दिया। पर राज्य के अन्य अनेक खर्च या तो समाप्त कर दिये या बहुत घटा दिये। कुछ ही वर्षों में महाराणा राजकाज व अपने लोगों से अलग होकर भोगविलास में पड़ गये।

साधारण लोगों की आमदनी घटायी जाती रही उनके शिल्प कौशल अधिकारों एव आत्मगौरव को नष्ट किया गया उन्हें लूटा-पीटा मारा निचोड़ा और चूसा गया अत्याचार और अपमान से जर्जर किया गया। अंग्रेजों ने ही भारत में बंधुआ मजदूरी की शुरूआत की। १८५५ ई में लार्ड ऐलनबरो के लार्ड केनिंग को लिखे एक पत्र में याद किया कि १५ वर्ष पहले ऐलनबरो ने स्वय देखा था कि किस प्रकार शिमला के पहाड़ी क्षेत्र में लोगों से जबर्दस्ती सरकारी काम बेगार पर कराया गया। ऐलनबरो के इस पत्र के साथ शिमला मे रहे भूतपूर्व पालिटिकल एजेंट लेफ्टिनेंट कर्नल केनेडी का एक स्मरण पत्र था। उसमें ऐलनबरो का ध्यान इस ओर खींचा गया था कि शिमला क्षेत्र में ब्रिटिश अधिकार जमने के बाद जबर्दस्ती बेगार करायी जाती थी और ३००-४०० मील लबी चार गज चौड़ी एक पहाड़ी सड़क सन् १८१८ से १८३२ ई के बीच वहा बेगार द्वारा बनवायी गयी थी। उसने यह भी लिखा था कि कुमाऊँ गढ़वाल में यह प्रथा इतनी प्रसिद्ध हो गई थी कि कुमाऊँ गढ़वाल के तत्कालीन कमिश्नर टी एच बैटन ने सोचा कि इसे समाप्त करना बेतुका तो होगा ही साथ ही शिमला के शीर्षस्थ अधिकारियों द्वारा अपनायी गयी नीतियों के अनुरूप भी नहीं होगा। यूरोप में बेगार प्रथा परपरागत प्रचलित थी। उसे ही भारत में शुरु किया गया। यह बेगार पूरे देश भर में कराई गई। १७७० ई से अंग्रेजो द्वारा इसे भारत में फैलाने के आंकड़े मिलते हैं। पहले पहल के आकड़े अर्काट के नवाब के क्षेत्र से सबधित हैं। नवाब ने इस पर शिकायत की थी। बाद में हैदराबाद मद्रास बगाल उत्तर प्रदेश मध्यप्रांत समेत सर्वत्र बड़े पैमाने पर बेगार कराई जाती रही।

ब्रिटिश सेना एक स्थान से दूसरे स्थान को निरतर कूच करती रहती थी। हर टुकड़ी के साथ आटा दाल विक्रेता मिठाई वाला पँसारी मून्दीवाला सराफ तमाकू बेचने वाला समोली सूघी बनाने वाला नान बाई भटियारा पुँजड़ा मधुवाला बिसाती बारी ततरा कसाई मास विक्रेता मोची तैली घी वाला जुलाहा भड़भूँजा ऊँटवाला खोजी खनदोज प्यादोज लोहार बढ़ई मुर्गेवाला तोड़ी वाला कमरे हुक्का बनाने वाला कुली आदि ३४-३५ पेशों के लोग बेगार करते चलते थे। इसके

अलावा ३०० ४०० बैलगाड़ियाँ व घोड़े खच्चर इत्यादि बेगार में लिये जाते थे। यह आवश्यक था। नहीं तो पूरा क्षेत्र लूटकर विनष्ट कर दिया जाता और दडित किया जाता।

यहा विज्ञान के एक प्रसिद्ध इतिहासकार जार्ज सार्टन के शब्द स्मरणीय है - पश्चिमी राज्यों ने अपने पूर्वी भाईयों को न केवल लूटा शोषण किया और दास बनाया अपितु इससे भी बहुत बुरा व्यवहार किया। वे उनकी आध्यात्मिक विरासत तक को समझ पाने में अक्षम रहे उन्हें उससे भी रहित करने का प्रयास किया। मात्र उनकी भौतिक सपदा एव वस्तुओं की लूट ही नहीं की वे उनकी आत्मा पर भी विजय पाना चाहते थे। आज हम अपने पूर्वजों के लोभ और धृष्टता का मूल्य चुका रहे हैं।

इस प्रकार अग्रेजों द्वारा भारतीय व्यक्तित्व भारतीय मानस भारतीय गौरव एव भारतीय आत्मा को अधीनस्थ कर पूरी तरह रूपातरित कर डालने की सुनियोजित रणनीति की कुछ झलकियों का स्मरण किया। यह अलग बात है कि इस पर भी वे भारत में व्यक्तियों पशुओं और वनस्पतियों का वैसा व्यापक सहार नहीं कर पाये जैसा उन्होंने तथा अन्य यूरोपीयों ने अमेरिका व आस्ट्रेलिया इत्यादि में किया। उत्तरी मध्य व दक्षिण अमरीका में तो यूरोप की इस विनाश लीला की शक्ति के टकराव से वहा की ९९ प्रतिशत जनसख्या समाप्त हो गई। सन् १५०० ई में यह जनसख्या ९ से १२ करोड तक थी ऐसा माना जाता है। आज कुल अमेरिका के पुराने निवासियों की जनसख्या २ से ३ करोड तक है। सन् १५०० ई में पूरे युरोप की जनसख्या ९ करोड से कम ही थी। आज वह जनसख्या १२० से १५० करोड तक पहुच गई है और यूरोप अमरीका आस्ट्रेलिया दक्षिण आफ्रिका व विश्व के अन्य स्थानों तक फैली हुई है। भारत में १५०-२०० वर्षो के ब्रिटिश आधिपत्य के काल में शासन की नीतियों से उत्पन्न व प्रभावित दुर्भिक्षों महामारियों इत्यादि में ५-१० करोड लोग अवश्य अकाल मृत्यु का ग्रास बने तथा गाय बैल भैंस एव अन्य पशु कई करोडों की सख्या में नष्ट किये गये। अच्छी नस्ल के गाय बैल व अन्य पशु तभी से बहुत घट गये। वनों का क्षेत्रफल भी घटा तथा भारतीय वृक्षो का स्थान उल्लेखनीय मात्रा में यूरोपीय वृक्षों-वनस्पतियों को दिया गया। तब भी हमारा उस सीमा तक तथा उस रूप में विनाश नहीं हो पाया जैसा कि अमरीका इत्यादि में हुआ। सपूर्ण विनाश एव विश्व विजय की अपनी अपार क्षमता में यूरोपीयों का अडिग विश्वास पिछले कुछ दशकों में हिलने को विवश हुआ तथा किसी न किसी रूप में दूसरों के साथ सवाद का सम्बन्ध रखते हुए उन्हें अपने अनुकूल बनाने का विचार करने को वे बाध्य हुए। यह भारत समेत विश्व के उन सभी समाजों का यूरोपीय बुद्धि एव आत्मा को विशिष्ट योगदान है जिन्होंने पराजित एव हतबुद्ध होने पर भी किसी

उदाहरण है। मेवाड १८१८ ई में ब्रिटिश सरक्षण में लिया गया। उससे पूर्व तक महाराणा का भत्ता एक हजार रूपया मासिक था ऐसा टॉड ने लिखा है। सरक्षण में लेने के कुछ ही महिनों में अंग्रेजों ने महाराणा का भत्ता एक हजार रूपये रोज कर दिया। पर राज्य के अन्य अनेक खर्च या तो समाप्त कर दिये या बहुत घटा दिये। कुछ ही वर्षों में महाराणा राजकाज व अपने लोगो से अलग होकर भोगविलास मे पड गये।

साधारण लोगों की आमदनी घटायी जाती रही उनके शिल्प कौशल अधिकारों एव आत्मगौरव को नष्ट किया गया उन्हें लूटा पीटा मारा-निचोड़ा और चूसा गया अत्याचार और अपमान से जर्जर किया गया। अंग्रेजों ने ही भारत में बधुआ मजदूरी की शुरूआत की। १८५५ ई में लार्ड ऐलनबरो के लार्ड केनिंग को लिखे एक पत्र में याद किया कि १५ वर्ष पहले ऐलनबरो ने स्वय देखा था कि किस प्रकार शिमला के पहाडी क्षेत्र में लोगों से जबर्दस्ती सरकारी काम बेगार पर कराया गया। ऐलनबरो के इस पत्र के साथ शिमला में रहे भूतपूर्व पालिटिकल एजेंट लेफ्टिनेंट कर्नल केनेडी का एक स्मरण पत्र था। उसमें ऐलनबरो का ध्यान इस ओर खींचा गया था कि शिमला क्षेत्र में ब्रिटिश अधिकार जमने के बाद जबर्दस्ती बेगार करायी जाती थी और ३००-४०० मील लबी चार गज चौडी एक पहाडी सडक सन् १८१८ से १८३२ ई के बीच यहा बेगार द्वारा बनवायी गयी थी। उसने यह भी लिखा था कि कुमाऊँ गढवाल में यह प्रथा इतनी प्रसिद्ध हो गई थी कि कुमाऊँ गढवाल के तत्कालीन कमिशनर टी एच बैटन ने सोचा कि इसे समाप्त करना बेतुका तो होगा ही साथ ही शिमला के शीर्षस्थ अधिकारियों द्वारा अपनायी गयी नीतियों के अनुरूप भी नहीं होगा। यूरोप में बेगार प्रथा परपरागत प्रचलित थी। उसे ही भारत में शुरु किया गया। यह बेगार पूरे देश भर में कराई गई। १७७० ई से अंग्रेजो द्वारा इसे भारत में फैलाने के आकडे मिलते हैं। पहले पहल के आकडे अर्काट के नवाब के क्षेत्र से सबधित हैं। नवाब ने इस पर शिकायत की थी। बाद में हैदराबाद मद्रास बगाल उत्तर प्रदेश मध्यप्रात समेत सर्वत्र बडे पैमाने पर बेगार कराई जाती रही।

ब्रिटिश सेना एक स्थान से दूसरे स्थान को निरतर कूच करती रहती थी। हर टुकडी के साथ आटा दाल विक्रेता मिठाई वाला पँसारी मून्दीवाला सराफ तमाकू बेचने वाला तमोली सूची बनाने वाला नान बाई भटियारा कुँजडा मधुवाला बिसाती बारी ततरा कसाई मास विक्रेता मोची तैली घी वाला जुलाहा भडभूँजा ऊँटवाला खोजी खनदोज प्यादोज लोहार बढई मुर्गेवाला ताडी वाला कम्बरे हुक्का बनाने वाला कुली आदि ३४-३५ पेशों के लोग बेगार करते चलते थे। इसके

अलावा ३०० ४०० बैलगाड़ियाँ व घोडे खच्चर इत्यादि बेगार में लिये जाते थे। यह आवश्यक था। नहीं तो पूरा क्षेत्र लूटकर विनष्ट कर दिया जाता और दण्डित किया जाता।

यहा विज्ञान के एक प्रसिद्ध इतिहासकार जार्ज सार्टन के शब्द स्मरणीय है - पश्चिमी राज्यों ने अपने पूर्वी भाईयों को न केवल लूटा शोषण किया और दास बनाया अपितु इससे भी बहुत बुरा व्यवहार किया। वे उनकी आध्यात्मिक विरासत तक को समझ पाने में अक्षम रहे उन्हें उससे भी रहित करने का प्रयास किया। मात्र उनकी भौतिक सपदा एव वस्तुओं की लूट ही नहीं की वे उनकी आत्मा पर भी विजय पाना चाहते थे। आज हम अपने पूर्वजों के लोभ और धृष्टता का मूल्य चुका रहे हैं।

इस प्रकार अंग्रेजों द्वारा भारतीय व्यक्तित्व भारतीय मानस भारतीय गौरव एव भारतीय आत्मा को अधीनस्थ कर पूरी तरह रूपातरित कर डालने की सुनियोजित रणनीति की कुछ झलकियों का स्मरण किया। यह अलग बात है कि इस पर भी ये भारत में व्यक्तियों पशुओं और वनस्पतियों का वैसा व्यापक सहार नहीं कर पाये जैसा उन्होंने तथा अन्य यूरोपीयों ने अमेरिका व आस्ट्रेलिया इत्यादि में किया। उत्तरी मध्य व दक्षिण अमरीका मे तो यूरोप की इस विनाश लीला की शक्ति के टकराव से वहा की ९९ प्रतिशत जनसख्या समाप्त हो गई। सन् १५०० ई में यह जनसख्या ९ से १२ करोड तक थी ऐसा माना जाता है। आज कुल अमेरिका के पुराने निवासियों की जनसख्या २ से ३ करोड तक है। सन् १५०० ई में पूरे युरोप की जनसख्या ९ करोड से कम ही थी। आज वह जनसख्या १२० से १५० करोड तक पहुच गई है और यूरोप अमरीका आस्ट्रेलिया दक्षिण आफ्रिका व विश्व के अन्य स्थानों तक फैली हुई है। भारत में १५०-२०० वर्षो के ब्रिटिश आधिपत्य के काल में शासन की नीतियों से उत्पन्न व प्रभावित दुर्भिक्षों महामारियों इत्यादि में ५-१० करोड लोग अवश्य अकाल मृत्यु का ग्रास बने तथा गाय बैल भैंस एव अन्य पशु कई करोडों की सख्या में नष्ट किये गये। अच्छी नस्ल के गाय बैल व अन्य पशु तभी से बहुत घट गये। वनों का क्षेत्रफल भी घटा तथा भारतीय वृक्षों का स्थान उल्लेखनीय मात्रा में यूरोपीय वृक्षों वनस्पतियों को दिया गया। तब भी हमारा उस सीमा तक तथा उस रूप में विनाश नहीं हो पाया जैसा कि अमरीका इत्यादि में हुआ। सपूर्ण विनाश एव विश्व विजय की अपनी अपार क्षमता में यूरोपीयों का अडिग विश्वास पिछले कुछ दशकों में हिलने को विवश हुआ तथा किसी न किसी रूप में दूसरों के साथ सवाद का सम्बन्ध रखते हुए उन्हें अपने अनुकूल बनाने का विचार करने को ये बाध्य हुए। यह भारत समेत विश्व के उन सभी समाजों का यूरोपीय बुद्धि एव आत्मा को विशिष्ट योगदान है जिन्होंने पराजित एव हतबुद्ध होने पर भी किसी

न किसी रूप में संघर्ष जारी रखा। महात्मा गांधी ने इस संघर्ष को अधिक व्यापक अर्थ और संदर्भ फिर से देने का प्रयास किया तथा भारतीय आत्मा मानस एवं व्यक्तित्व को फिर से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। इस बीच इन तथा अनेक अन्य अनुभवों के कारण अंग्रेजों ने भी यही उचित समझा कि भारत को अधमरा अधपिटा ही छोड़कर सत्ता का हस्तांतरण कर दिया जाय और आवश्यकतानुसार दूर से ही प्रभावित-नियंत्रित करने के तरीके खोजे जाते रहें तथा उन्हें व्यवहार में उतारा जाता रहे। गांधीजी के नेतृत्व में किये गये भारतीय पुरुषार्थ से आज हम एक राजनैतिक रूप से स्वाधीन समाज हैं और आगे की संभावनाओं तथा मार्गों के बारे में सोचने का कर्तव्य और चुनौती हमारे सामने है।

३ भविष्य और सुपथ की गवेषणा

एक स्वाधीन समाज के रूप में हमें अब भी भविष्य की अपनी सभाव्यताओ का विचार करना होगा। इसके लिए अपने इतिहास समाज और परपरा का गहरा बोध एव प्रशान्त विश्लेषण आवश्यक है। साथ ही विश्व के बारे में भी अधिकाधिक और गहरी जानकारी प्राप्त करनी होगी।

सर्वप्रथम तो हमें अपनी पराजय के त्रास से अब मुक्त होना होगा। पराजय के बार बार स्मरण से मन की हीनता बढती है और बुद्धि तथा चित्त स्वस्थ नहीं रहते। इस हीनता के प्रभाव से भरपूर पराजय का स्मरण करते रहने के कारण ही विगत डेढ-दो सौ वर्षो में हममें इतनी अधिक स्मृतिभ्रशता आ गई कि विदेशियों द्वारा हमारे बारे में जो अवधारणाए और गाथा गढी गई उन्हें ही हमने अपना ऐतिहासिक यथार्थ मान लिया। जैसा कि हम स्मरण कर चुके हैं विज्ञान प्रौद्योगिकी शिक्षा कृषि जीवनस्तर समाजव्यवस्था मानवीय सम्बन्ध एव मानवीय सद्गुणों में दूसरों से कम न होने पर भी हार के बाद हमारे नवप्रबुद्ध वर्ग को अपने समाज के परपरागत जीवन में सभी प्रकार की कमिया ही कमिया दिखने लगीं। स्मृतिभ्रशता का यह दारुण रूप है।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हमें अपनी पराजय के तथ्य को विस्मृत कर देना है। एक श्रेयस्कर समाजव्यवस्था कैसे क्रमश छिन्नभिन्न होती गई और अभी तक सम्हल नहीं पा रही है इस पर विवेकपूर्ण चिंतन एव विमर्श तो हमारे लिए आवश्यक है।

इस्लाम के अनुयायियों के आक्रमण का हमने सतत प्रतिरोध किया। उस प्रतिरोध की शक्ति क्या थी और कमिया क्या रहीं इस पर पर्याप्त विचार आवश्यक है। उस आक्रमण के बाद हम पुन स्वस्थ क्यों नहीं हो पाये यह विचार करना हमारे राष्ट्रीय मानसिक-बौद्धिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। हमारे साहस तितिक्षा त्याग सयम और वीरता में कमी नहीं रही। तब भी अपने सपूर्ण भारतीय समाज को आक्रमण की चुनौती के विरुद्ध सगठित कर पाने में हम विफल रहे। इस विफलता के कारणों की गहरी परख की आवश्यकता है। इसके लिए अपने सपूर्ण इतिहास की प्रशान्त भाव से जाच-परख करनी होगी। ऐसा लगता है कि हमारे राजनीति तत्र (पोलिटी) के शीर्ष स्थानीय

लोगों का अपने व्यापक समाज से कुछ कटाव-विलगाव सात आठ सौ या और अधिक वर्षों पहले से आरम हो गया। यह सही है कि भारतीय समाज अपने राज्यकर्तावर्ग को सदा ही अपने नियत्रण मे और मर्यादा में रखता रहा है। इसका मुख्य आधार भारतीय जीवनदृष्टि मे और उससे प्रेरित हमारी व्यवस्थाओं में ही विद्यमान रहा है। किसी एक तरह के काम को या सस्थाओं प्रवृत्तियों को प्रमुख मानकर अन्यों को उनके ही अनुरूप तथा अधीन बनाने के योग्य मान पाना भारतीय जीवनदृष्टि में मान्य नहीं रहा है। अत राज्यकर्तावर्ग को अपने स्थान पर अपनी मर्यादा में ही प्रतिष्ठा देने का भारतीय समाज अभ्यस्त रहा है।

किन्तु दूसरी ओर सैन्य-आक्रमण की स्थिति में प्रतिकार का सीधा भार जिस सेना पर आ पड़ता है उस सैन्यशक्ति के बारे में शायद भारतीय समाज एक विशेष काल-खड में पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाया। इसका भी प्रमुख कारण यही दिखता है कि विश्व में ऐसे समूहों समाजों और सस्थाओं तथा आदर्शों के उदय और विस्तार के बारे में भारतीय मनीषा बहुत कुछ अनजान रही जो दूसरे मनुष्यों और समाजों का विध्वस या उन्हें पूर्णत अधीन बनाकर उनका अपने अनुरूप रूपातरण करना अपना परम पुरुषार्थ या परम कर्तव्य मानते हैं और इसी में जीवन का वैभव देखते हैं। भारतीय दृष्टि ऐसे लक्ष्यों एवं दृष्टियों में जीवन का तिरस्कार मानती है और उसे अनुचित समझती है।

भारतीय मनीषा में अपनी विश्वदृष्टि के कारण स्वय को ही परिष्कृत सुसस्कृत बनाये रखने की साधना करते रहने का स्वधर्मभाव प्रबल रहा। किन्तु किसी कारणवश परधर्म का बाहरी विश्व का पर्याप्त ज्ञान शायद आवश्यक नहीं समझा गया। ऐसी जानकारी के विस्तार को शायद व्यर्थ या उपेक्षणीय माना गया। सभवत इसी कारण अपने सैन्यबल से विश्वविजय एव विश्वविध्वस के लिए तत्पर और सक्रिय समाजों या समुदायों का सामना करने योग्य आवश्यक सैन्यशक्ति का सग्रह और सगठन करने की ओर भारतीय समाज ध्यान नहीं दे पाया। मूलत यह भारतीय मनीषा की एक विफलता है। उस विफलता के लिए ग्लानिभाव या हीनभाव की आवश्यकता नहीं। किन्तु उसे जान समझ लेना आवश्यक है।

ऐसा लगता है कि अपनी इसी स्थिति के कारण भारतीय समाज आक्रमणकारियों को परास्त कर उन्हें लौटने को विवश कर देना अथवा समाज के एक अंग के रूप में घुलमिलकर रहने देना तो जानता रहा है। किन्तु यदि स्थायी आक्रमणभाव से सम्पन्न शत्रु लबे समय तक देश के भीतर जमा टिका रहे और युद्धरत रहे तथा अधिकाश भारतीय समाज को विनष्ट करने और अवशिष्ट समाज को अपने

अनुरूप रूपातरित करने की दीर्घकालीन वैरनीति पर चल रहा हो तो ऐसे आक्रमणकारी का सामना करने की क्या-क्या नीतिया उपाय और व्यवस्थाए हो सकती हैं इस पर शायद भारतीय मनीषा ने अभी तक पर्याप्त विमर्श नहीं किया है।

सभवत इसी कारण हम देखते हैं कि चाहे विजयनगर राज्य हो या मराठा राज्य या राजस्थान के राज्य किसी ने भी इस्लाम के अनुयायियों के आक्रमण के निहितार्थो पर विस्तार और गहराई से समीक्षा की हो विश्लेषण किया हो उसके सदर्भ मे दीर्घकालीन नीति निश्चित की हो ऐसा नहीं लगता। इसी प्रकार पुर्तगाली डच फ्रैंच अग्रेजों के आने पर और भारतभूमि पर स्वय को स्थापित करने पर इसके निहितार्थों का विचार भारतीय हिन्दू या मुस्लिम राज्यों ने किया हो ऐसा नहीं दिखता। जहागीर ने तो पुर्तगालियों के विरुद्ध अग्रेजो की मदद भी स्वीकार की और विजयनगर के राजाओं और मराठों ने यूरोपीयों से तरह-तरह की सैनिक सहायता अपने लड़ाई झगड़ों के समय प्राप्त की यह तो हम सब जानते हैं। यह नहीं की हमारे समाज को धर्म और स्वधर्म का बोध नहीं था या कि अपने पुन उत्कर्ष आत्मगौरव और सफलता की इच्छा नहीं थी। पर शायद यह कह सकते हैं कि परधर्म का ठीकठीक ज्ञान नहीं था उसके रूपों और अभिव्यक्तियों की पर्याप्त जानकारी नहीं थी। आगे कभी फिर वैसी ही नई नई चुनौतिया आ जाएँ और नये आक्रमण होते रहें तो क्या करना है इसकी कोई राष्ट्रीय तैयारी कभी नहीं हुई। उसका प्रयास भी हुआ नहीं दिखता।

ऐसा न होने के कारण हमारे अभिजनों और राज्यकर्त्ताओं का विदेशी आक्रामकों से रिश्ता प्रगाढ होता गया। समय समय पर वे उन पर निर्भर ही रहने लगे और इस प्रक्रिया में स्वय अपने समाज के प्रति उनका आत्मभाव समाप्त होता गया परभाव आता गया। इस स्थिति की ओर शायद सचेत रूप में कभी ध्यान ही नहीं जा पाया।

ऐसी विखडन की स्थिति में अग्रेज भारतीय समाज को विशेषत उत्तर भारत में पूरी तरह अपने नियत्रण में लेने में सफल हो गये। जैसा कि हमने विचार किया है हमारी इस विफलता का कारण आक्रामकों की तुलना में अपने समाज में विषमता की अधिकता या शिक्षा की कमी या विज्ञान-प्रौद्योगिकी का अभाव या सामाजिकता का अभाव अथवा मानवीय गुणों की विशेष कमी नहीं थी अपितु एक विशिष्ट राजनैतिक बुद्धि का और आवश्यक बौद्धिक-राजनैतिक निर्णयों का अभाव था।

अग्रेजी आक्रमण के बाद भारतीय अभिजनों के एक बड़े वर्ग में अपने समाज से और अधिक विलगाव आता गया तथा आक्रामकों के प्रति और अधिक दास्यभाव आता गया। अग्रेजों को सामाजिक विध्वस तथा बलात् सामाजिक रूपातरण का जन गण को

दास बनाने का बहुत लबा अनुभव था। और इसमें दक्षता थी। अत उन्होंने भारतीय विद्या विज्ञान सस्कृति धर्म शिल्प कला साहित्य कृषि समेत समस्त साधनों एव जैव द्रव्यों (बायोमास) तथा बौद्धिक आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को अपने नियत्रण में लेकर उन्हें अपने अनुरूप ढाला। जितना विध्वस और जैसा रूपातरण आवश्यक समझा किया। उस हेतु हर क्षेत्र में नई व्यवस्थाए बनायीं ताकि एक सीमित राज्यकर्ता समूह को बौद्धिक-राजनैतिक-सास्कृतिक क्रियाशीलताओं का अधिकार रहे और शेष समाज दासों या भेडों या द्रव्य-राशि (मैस) की तरह रहे। इसमें शायद यह विचार भी निहित रहा होगा कि बृहत् समाज की जनसख्या इतनी नियत्रित रखी जाय ताकि उसे आगे चलकर कभी अच्छी तरह पाला पोसा जा सके पशुओं की तरह उनका ठीक से पालन पोषण हो और अपने प्रयोजनों के लिए उनका उत्तम औजार के रूप में समुचित प्रयोग किया जाता रहे तथा वे सब इसी में अपनी धन्यता अपनी सार्थकता अनुभव करें। जैसी कि पहले चर्चा हो चुकी है यूरोप में शताब्दियों से ऐसा ही होता रहा था। भारतीय सस्कृति की भी एक ऐसी व्याख्या और छवि प्रस्तुत की जाय कि आधुनिक यूरोपीय सस्कृतिका एक 'टूल' एक औजार बनने में ही उसकी प्रासगिकता और सार्थकता दिखने लगे यह प्रयास एव विचार रहा दिखता है। इस प्रकार भारतीय सस्कृति आधुनिक यूरोपीय सस्कृति का एक सक्षम सेवक या परिष्कृत औजार के रूप में रूपातरित और व्याख्यायित कर दी जाय तथा इसी में उस सस्कृति का गौरव और धन्यता मानी जाय यह योजना रही है। इसके लिए रची गई सस्थाओं और व्यवस्थाओं का पर्याप्त प्रभाव हुआ। हमारे समर्थ सपूतों और सुपुत्रियों तक में उसके प्रभाव देखे जा सकते हैं।

लेकिन यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि यह कोई भारत की ही अनूठी स्थिति नहीं है। पराजय की दशा में हर समाज में तरह-तरह से बिखराव आता है टूटन आती है विकृतिया आती हैं। फिर साधना और तप से समझ और पुरुषार्थ से समाज पुन स्वस्थ हो सकता है तथा उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है। पराजय विकृति या रोगों का ही स्मरण करते रहना स्वास्थ्य लाभ में बाधक बनता है। उसका निदान कर लेना पर्याप्त है। फिर उसके प्रभावों को दूर करने में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। विगत का शोक और हीनता का भाव समाज को स्वस्थ होने देने के मार्ग में बडी बाधा है।

विश्व के सभी समाज पराजित भी होते रहे हैं। स्वय ब्रिटेन इतिहास में ग्यारहवीं शताब्दी तक बार बार पराजित हुआ। ग्यारहवीं शती ई में नोर्मनों ने ब्रिटेन के तत्कालीन समाज को परास्त कर ध्वस्त कर दिया और उस विध्वस में से ही अपना सशक्त राज्य रचना शुरू किया। मुख्यत उसी आधार पर ब्रिटेन तब से अब तक टिका हुआ है। सत

भी बार बार पराजित होता रहा। आज वह विश्व की एक महाशक्ति है। मध्य एशिया के लोगों का तथा नार्मनों का आक्रमण रूस को शताब्दियों तक झेलना पडा लेकिन उसमें से वह उभर आया। चीन पर भी मध्य एशिया के विविध समुदायों के आक्रमण हुए और सन् १८०० ई के बाद तो यूरोप ने चीन को घेर ही लिया और सौ - सवा सौ वर्ष तक अपने आधिपत्य में रखा। आज चीन अपनी सभ्यता का पुन सगठन कर एक बडी शक्ति के रूप में उठा है। दक्षिण यूरोप के अनेक देशों पर एक समय इस्लाम का आधिपत्य रहा और वे उसके द्वारा अधीन रखे गये। बाद में बहुत कुछ इस्लाम की ही तरह वे स्वय विश्व में अपना साम्राज्यवादी विस्तार करने लगे। इस अर्थ में शायद ब्रिटेन व यूरोप का उदाहरण भारतीय समाज के स्वास्थ्य लाभ के सदर्भ में अप्रासगिक है। किन्तु इस तथ्य का तो स्मरण कर ही सकते हैं कि १६ वीं शती ई के बाद अन्य समाजों को पराजित करने वाले यूरोपीय राज्यकर्ता समुदाय उससे पहले स्वय शताब्दियों तक पराजित होते रहे थे।

सभवत जापान का उदाहरण भारत के लिए और अधिक उपयोगी हो। लगभग १५५० ई से वहा पुर्तगाल और हालैंड के व्यापारी तथा जेसुइट मिशनरी जाने लगे। ऐसा कहा जाता है कि ५० वर्षो के भीतर जापान मे पाच लाख लोगों को ईसाई बना डाला गया। तब जापान सजग हुआ। उसने पुर्तगाल से सम्बन्ध तोड लिये। मिशनरियों को बाहर निकाला और आने से रोका। मात्र डचों को १८६० ई तक कुछ बदरगाहों वगैरह में आने-जाने दिया। अपने मतलब का सपर्क रखा। ऐसा कहा जाता है कि इस इतने सपर्क के द्वारा ही जापान ने अपने ढग से यूरोप को यूरोपीय बुद्धि को समझ लिया। माना जाता है कि जैसे कैमरे का एपरचर' पूरी तरह तस्वीर ग्रहण कर लेता है वैसे ही जापानियों ने इस सीमित सपर्क से यूरोपीय व्यक्तित्व को जान लिया और उसमें से उन्हें जो ग्रहण करने योग्य लगा वह ग्रहण कर लिया तथा आत्मसात् कर लिया। इस प्रकार बिखरता व सिकुडता जापान फिर से एक सपन्न सबल देश बनने लगा।

फिर सन् १८८४ ई में जापान में तीस खडों वाली एक दसवर्षीय योजना बनी। इस योजना का नाम था 'कोग्यो आइकेन'। इसमें कहा गया -

'जापान के उद्योगो के निर्माण में किस बात को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। वह न तो पूँजी हो सकती है न ही नियम-व्यवस्थाए, क्योंकि ये दोनों मृत वस्तुए हैं इनमें स्वय प्राण नहीं है और ये स्वत प्रभावशाली नहीं हैं। आत्मशक्ति एव इच्छा इन दोनों को गतिवान बनाती हैं। .. यदि इनके प्रभाव के सामर्थ्य के अनुरूप हम तीनों को महत्त्व दें तो आत्मबल और इच्छा को पाच भाग प्राप्त होगा विधान एव नियम

व्यवस्थाओं को चार भाग तथा पूँजी को केवल एक भाग।

हम आज देखते हैं कि आत्मबल एवं इच्छा तथा तदनुरूप खड़ी की गई व्यवस्था के बल पर जापान सशक्त बनकर उभरा। वस्तुत ये नियम सार्वभौम ही हैं। भारत में भी यही मान्यता रही है। 'क्रियासिद्धि सत्त्व से होती है उपकरण से नहीं' जैसी अनेक सूक्तियां प्रसिद्ध हैं। 'रघुवंश' और 'मुद्राराक्षस' में भी ऐसे कथन हैं। यूरोप भी जब खड़ा हुआ होगा और फैला होगा तो इन्हीं नियमों से। उन नियमों की अभिव्यक्ति उसने अपनी दृष्टि के अनुरूप की। जब यूरोपीय समाजों ने फैलना शुरु किया तो उनके पास साधन विशेष नहीं थे। न शिक्षा न विज्ञान न प्रौद्योगिकी न कृषि न शिल्प। दूसरों की तुलना में उनके पास ये कोई विशेष अधिक नहीं थे। उत्पादन और पूंजी भी अन्य समाजों से अधिक नहीं थी। किन्तु उन्होंने संकल्पबल (स्पिरिट) और इच्छाशक्ति के साथ संगठित ढंग से फैलना शुरू किया। वैसी व्यवस्था बनाते गये तथा फिर साधन भी जुटते गये। विश्व के सभी समाजों तथा व्यक्तियों के लिये ये नियम सामान्य हैं।

भारत में गांधीजी ने जब समाज का पुनस्संगठन शुरू किया तब भी यही प्रक्रिया अपनायी। उन दिनों हम में हीनता गहरी आ गयी थी साधन छीने जा चुके थे समाज को दरिद्र-कंगाल बनाया जा चुका था। गांधीजी ने आत्मबल एवं इच्छाशक्ति से समाज को संगठित करना प्रारंभ किया तथा समाज के आत्मबल और इच्छा को जगाया। उसके लिए आवश्यक वैसे संगठन खड़े किये जैसे कि उन दिनों संभव थे। तब साधन भी जुटने लगे और स्वतंत्रता के लक्ष्य की ओर बढ़ना भी संभव हुआ।

इसीलिए अपनी पराजय को लेकर क्रन्दन या विलाप या शोक करते रहना बंद करना होगा। विश्व के सभी समाज जय पराजय के अलग अलग क्रमों से उतार चढ़ाव से गुजरते रहे हैं। हम अपने को बहुत अलग अनोखा या बहुत विशेष हीन न मानें।

हमारी सभ्यता की स्थिति तो कई तरह से बेहतर है। हमारी अपनी विशेषताएं भी हैं। पिछले पांच हजार और उससे भी अधिक समय से हमारा समाज अधिकांशत उन्हीं जनसमूहों का रहा है जो तब से अब तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसी भूमि पर रहते आये हैं। अनेक देशों में तो आक्रान्ता समुदाय ही शासक बन बैठे और पुरातन समाज को आत्मसात् कर लिया। हमारे यहां वैसी स्थिति नहीं आई। आक्रामकों का प्रभाव तो पड़ा पर इतना नहीं कि हम पूर्णत रूपांतरित हो उनके औजार हो जाएं। हां हमारे अभिजातवर्ग या राज्यकर्ता एवं शक्तिशाली वर्ग में अवश्य पिछले ८००-१००० बरस में गठबंधन की प्रवृत्ति प्रबल रही। समाज से वे अधिकाधिक कटते गये। पर अभी भी भारतीय समाज की अपनी परम्परा प्रवाहित है। वह समाज अपनी अभिव्यक्ति विविध

रूपों में करने का प्रयास भी करता रहता है। यह सही है कि अंग्रेजी राज्य के समय हमारे अभिजनों में हीनता बहुत गहरी होती गई और अपने इतिहास तथा वर्तमान तक को ये अभिजन अंग्रेजों की ही दृष्टि से देखने मे धन्यता का अनुभव करने लगे। तब भी इनमें से जो सपूत-सुपुत्रिया आगे आये उनमें देशभक्ति भरपूर थी और अपनी बुद्धि के अनुरूप उन्होंने देश को सुदृढ बनाने की इच्छा रखी और प्रयास किये।

ब्रह्म समाज प्रार्थना समाज जैसे ईसाइयत से अभिभूत प्रयासों के पीछे भी शायद दृष्टि यही रही कि एक सुदृढ भारत का निर्माण करना है। यह अवश्य रहा कि देश की यह कल्पना इन लोगो के भीतर यूरोपीय ही रही। देश के लोगों के प्रति उनमें आत्मभाव नहीं रहा। तरस या दया का अथवा दु ख-क्षोभ का तथा करुणा का भाव प्रमुख रहा और देशवासियों के कल्याण के लिए उनका रूपातरण आवश्यक लगता रहा। यह दृष्टि रही कि वे हमारी योजना में सहभागी हों उसके अश बने तभी उनका कल्याण है। देशवासी स्वय जो सोचते हों योजना बनाते हों उसका महत्व इन लोगों की दृष्टि में नगण्य ही रहा।

विवेकानन्द जैसी प्रतिभा इनसे भिन्न थी। उनमें भारतीय लोगों के प्रति गहरा ममत्व था आत्मीयता थी। उनकी दुर्दशा पर गहरी यत्रणा थी वेदना थी विक्षोभ था पीडा थी। वे इस दुर्दशा का अत चाहते थे। इस हेतु व्यग्र थे। किन्तु अपने बगाली परिवेश और बगाल के नवप्रबुद्ध वर्ग की सस्कृति से भी वे स्वाभाविक ही प्रभावित रहे। राजेन्द्र लाल मित्र जैसे आधुनिक बगाली विद्वानों की इतिहासदृष्टि को उन्होंने इतिहास तथ्य मान लिया। इस प्रकार इतिहास का भ्रान्त ज्ञान उन्हें व्याप्त किये रहा। भारत को शताब्दियों से दरिद्र विषमताग्रस्त विज्ञानविहीन प्रौद्योगिकी रहित तथा भारत के वृहत् समाज को शिक्षा रहित असस्कृत पिछडे मानने वाली इतिहासदृष्टि का प्रभाव उन्हें बाधे रहा। निश्चय ही आयु भी इसमें एक कारण थी। विवेकानद में प्रबल प्रतिभा थी और यदि वे तीस-चालीस वर्ष और जीवित रहते तो शायद बहुत कुछ समझ लेते तथा सम्हाल लेते। यूरोपीय इतिहासदृष्टि का ऐसा ही प्रभाव बकिम इत्यादि पर भी दिखता है। बकिम के समय से लेकर अब तक शिक्षित वर्ग में यह प्रभाव बढा ही है यह तो हम आज देखते ही हैं।

स्वामी दयानन्द जैसे लोगों की अलग पृष्ठभूमि रही। दयानन्द अपने सीमित परिवेश के प्रभाव से बहुत दिनों बँधे रहे। भारतीय किसानों एव ग्रामीणों की जीवनदृष्टि और समाजदृष्टि से उनका अपरिचय रहा। पूजापाठ करने व शास्त्र वगैरह पढने-पढाने वाले समुदाय से ही अधिक परिचय रहा। फलत प्रगाढ देशप्रेम एवं सस्कृतिप्रेम होने पर

भी ये यूरोपीय मनीषा और भारतीय मनीषा के आधारभूत अन्तरों को पहचान नहीं पाए। किन्तु वे एक परिश्रमी और कुशल सगठक थे। सयम और तप से सम्पन्न इनके जीवन ने अनगिनत लोगों के सस्कृतिप्रेम एव आत्मगौरव के भाव को प्रेरणा दी। लेकिन उनके जाने के बाद उनके मानने वाले प्रमुख व्यक्ति अधिकाशत पश्चिमीकृत बने।

इसके पहले जो भक्त सन्त हुए उन्होंने समाज की कमियों और शक्ति को अपने ढग से समझा था। समाज को सगठित करने के उन्होंने अनेक प्रयास किये और उन प्रयासो का परिणाम भी हुआ। बसवेश्वर कबीर रविदास दादू, मीरा तुलसी सूर नामदेव तुकाराम ज्ञानदेव जैसे सन्तो-सिद्धों ने भारतीय समाज को पुनस्सगठित करने के अनेक उपाय किये। उनका कुछ प्रभाव भी हुआ। परन्तु सामाजिक दृष्टि से उत्तरी भारत मे किसी भी सन्त का प्रभाव यहा के शक्तिशाली स्वदेशी अभिजनों में पर्याप्त रहा नहीं दिखता। उत्तरी भारत के अभिजन विदेशी आक्रामकों के प्रति दास्यभाव में अधिक बँध गये दिखते हैं।

अग्रेजी राज में तो ऐसा अभिजन-समूह अधिकाधिक शक्तिशाली बना और अपने समाज से अधिकाधिक कटा हुआ भी। इसकी परिणति जवाहरलाल नेहरू जैसे व्यक्ति में हुई। ये पश्चिमीकृत अभिजन यूरोप के अधिकाधिक सम्पर्क में आते गए। विशेषकर इग्लैंड के। वहीं पढने व सीखने जाने लगे। इससे पश्चिम के प्रति लगाव और पश्चिम के अनुकरण की प्रवृत्ति बढी। इन लोगों में राष्ट्रवाद था वे राष्ट्रको सुदृढ देखना चाहते थे। ये अग्रेजों से भारत को छुटकारा भी दिलाना चाहते थे। यह छुटकारा कैसे मिले यह प्रश्न था। साथ ही उनके जाने के बाद यहा की जीवनव्यवस्थाएं कैसी हों यह 'मॉडल' निश्चित करने का प्रश्न था।

अग्रेजी शिक्षा और यूरोपीय सभ्यता से प्रभावित समूह इन प्रश्नों का कोई वास्तविक उत्तर नहीं ढूढ पाये। अग्रेजों के अधिक सम्पर्क से इन्हें लगा कि हम भी भारत में इनकी जगह ले सकते हैं। अत अंग्रेज जाए इसके लिए तो इनमें व्यग्रता बढी। किन्तु साथ ही उनकी जगह स्वय लेकर भारतीय समाज को वैसे ही चलाने की ललक भी बढी जैसे कि इनकी समझ से अग्रेज चला रहे थे। जीवन या सभ्यता और समाज व्यवस्था का वही मॉडल्स' इन्हें सार्वभौम लगता था। उससे छुटकारे की वे कल्पना तक नहीं कर पाते थे।

उस 'मॉडल्स' से छुटकारा पाने की आवश्यकता गाधीजी को लगी। इसीलिए वे एक ऐसी व्यवस्था की भी रूपरेखा प्रस्तुत कर पाए जो अग्रेजों के जाने के बाद भारतीय समाज एव राज्य के सचालन का आधार बनती। गाधीजी पश्चिम को भी ठीक से समझ

पाए और अपनी चिन्तन-परम्परा जीवन-दृष्टि परम्परा से भी कटे नहीं। यह कैसे हुआ इसका ठीक ठीक कारण तो ज्ञात नहीं। शायद काठियावाड रियासत के परिवेश के कारण और साथ ही किसानो के सस्कार बुद्धि आदर्शो आकाक्षाओं से परिचय के कारण वे ऐसा कर पाए या अन्य कई कारण रहे होंगे। शायद वे अवतारी प्रतिभा थे। जो भी हो आधुनिक यूरोप की ठीक ठीक पहचान के साथ ही वे अपनी भारतीय बुद्धि खो देने से भी बचे रह पाये यह बडी बात है और इसी कारण उन्होंने जो भी सस्थायें और व्यवस्था बनाई जैसे अखिल भारतीय काग्रेस का विधान उसमें वही पम्परागत भारतीय बुद्धि और व्यवस्था ले आये।

गाधीजी के पहले कुछेक सौ वर्षो से भारत में मानो क्षेत्र या अश विशेष के ही प्रतिनिधि नेता उभरते रहे। गाधीजी सम्पूर्ण समाज के नेता बने। उनमें कई सौ वर्ष बाद पहली बार सम्पूर्ण समाज ने अपनी अभिव्यक्ति पाई। इसी को शायद हमारे यहा अवतार कहा जाता है। गाधीजी ने भारतीय परम्परा की पुनर्प्रतिष्ठा की। ऐसा नहीं है कि उन्हें समाज की कमिया नहीं दिखती थीं या पुरुषार्थ और सृजनशक्ति में आ गई कमी नहीं दिखती थी। वह सब दिखता था। पर साथ ही उन्हें इस समाज की शक्ति इसका शील इसकी सृजनात्मकता भी दिखती थी। इसकी अपनी जो बोध परम्परा पुरुषार्थ परम्परा जीवन परम्परा थी उसका महत्त्व भी उन्होंने समझा। गाधीजी ने उसे ही वापस लाने का प्रयास किया। परम्परा को नयी अभिव्यक्ति दी। इससे समाज का भय मिटा हीनता घटी आत्मबल जगा और रचना की इच्छा जगी। यही गाधीजी का मुख्य सामाजिक योगदान है कि उन्होंने भारतीय समाज के विश्वास को फिर से प्रतिष्ठा दी शक्ति दी प्रत्यावर्तन किया। भारतीय जीवन-दृष्टि भारतीय सभ्यता के अनुरूप क्या समाज व्यवस्था राज्य व्यवस्था एव अन्य व्यवस्थाए हो सकती हैं इस पर सोचने के आत्मविश्वास और इच्छा को गाधीजी ने जागृत किया और इससे भारतीय समाज में शक्ति की अनुभूति होना आरम्भ हुआ। गाधीजी ने परम्परागत 'मॉडल' की पुनर्रचना की कोशिश की। उससे पूरे देश में प्राण का आत्मगौरव का और सृजनशीलता का पुन सचार हुआ। यूरोपीय सभ्यता और भारतीय सभ्यता के आधार लक्ष्यों कार्यपद्धति के अन्तर को समझकर उसे व्यापक बोध का आधार बनाने का प्रयास गाधीजी ने किया। सभ्यता के इन आधारभूत अन्तरों को समझे बिना हम कुछ भी रच नहीं पायेंगे।

मानव जाति की विविध सभ्यताए रही हैं और हैं। इनके इतिहास और स्वरूप पर अनुसन्धान का कार्य लगातार चलता रहता है। मुख्यत तो हर समाज अपनी सभ्यता की स्मृति अपने ढग से जीवन्त रखता है और यह स्मृति ही सस्कार सकल्प प्रेय तथा

श्रेय रूपों में आकाक्षा और सर्जना के विविध पुरुषार्थ का आधार बनती है। इस स्मृति का बने रहना ही किसी विचार और व्यवहार को अधिप्रमाणित करता है। स्मृतिरहित कथन या चिन्तन अधिप्रमाण्यरहित कथन या चिन्तन हो जाता है। उसका वास्तविक बल नहीं रह जाता।

प्रत्येक समाज में स्मृतिरक्षा या स्मृतिप्रवाह की परम्परा भिन्न भिन्न होती है। स्मृति सकल्प बोध और लक्ष्य के विशिष्ट लक्षणों द्वारा ही किसी सभ्यता की विशेष पहचान होती है। मनुष्य मात्र में कतिपय मूलभूत प्रेरणाए होती हैं। ये प्रेरणाए सार्वभौम हैं। इस स्तर पर सार्वभौमिकता या युनिवर्सेलिटी' आधारभूत तथ्य है। साथ ही प्रत्येक सभ्यता में ऐसी प्रेरणाए विशिष्ट पुरुषार्थरूपों का आधार बनती रही हैं। समाज का जीवन समाज के आदर्श समाज के परस्पर व्यवहार विद्या सम्बन्धी बोध और विभाग विद्या की विविध शाखाओं अध्यात्म भाषा व्याकरण दर्शन शिल्प समुदाय कृषि आहार विहार भूषा भवन भोजन सज्जा शिष्टता आदि सम्बन्धी विचार और व्यवस्थाए कला सगीत नृत्य साहित्य काव्य इतिहास या स्मृतिपरम्परा गणित चिकित्सा जीवनविधि सयमविधि स्वास्थ्यविद्या या आयुर्विद्या विविध संस्कार अनुष्ठान घर घर की सुरक्षा घर का वैभव घर का परिवेश अपने पालतू प्राणियों तथा परिवेश के प्राणियों पशुपक्षियों आदि जीवों एव वनस्पतियों के प्रति दृष्टि भाव तथा व्यवहार उपासना शिष्टाचार तथा अन्य पर्वों के अगभूत कर्मकाड राज्य राज व्यवस्था राजनीति तंत्र समाज के विविध समुदायों की स्थिति का निरूपण और उनके परस्पर सम्बन्धों के आधारों का निरूपण सैन्यविद्या एव सैन्यआदर्श सैन्य-बल-सगठन व्यापारवाणिज्य परिचर्याकर्म जन्म विवाह परिवार नरनारी में परस्पर आदर या अनादर और समाज में ऐसी मान्यताओं का स्थान सतति आदि से सम्बन्धित श्रद्धा परम्पराएँ वीरता विनय और साहस तथा शिष्टता समझौता और सहनशीलता सम्बन्धी विचार और व्यवहार सौन्दर्य और कुरूपता सुरुचि और कुरुचि तथा शील और स्वैराचार सम्बन्धी विशिष्ट बोध एवं मान्यताए मृत्यु तथा श्राद्ध परम्पराए दड और क्षमा सम्बन्धी विचार और व्यवहार आदि प्रत्येक सभ्यता के विशिष्ट लक्षणों के क्या क्या कारण हुआ करते हैं यह निरन्तर अध्ययन अनुसंधान अवधान और जिज्ञासा के विषय हैं। स्वय इन लक्षणों की समझ का स्वरूप भी किसी सभ्यता के ही विशिष्ट लक्षण समुच्चय का अग होता है। अत ये विशिष्ट लक्षण अधिक से अधिक जानना ही किसी सभ्यता को जानना है। उसके बिना मात्र सार्वभौमता को जानना वस्तुत लगभग न जानने जैसा है। मात्र सार्वभौमता को जानना बौद्धिक तमस में प्रसुप्त

रहता है। जगत् गति का ज्ञान उससे नहीं होता। परागति के लिए जो तेजस चाहिए वह भी इस मूढता की चित्त दशा में सम्भव नहीं होता। इस प्रकार विशिष्ट लक्षण प्रमाण-सयुक्त वस्तुतत्त्वों का विवेक ही धर्म के बोध का माध्यम होता है।

सभ्यताओं के ये वैशिष्ट्य मात्र देश काल के भेद से नहीं होते। उन्हें मात्र भिन्नभिन्न देश-काल के प्रति एक ही सार्वभौम और एकरूप मानवीय चेतना की भिन्नभिन्न प्रतिक्रियाए या रेस्पासेज' मानना जीव की शक्तियों की अवहेलना करना है। रेस्पासेज स्मृति और सस्कार के आधार पर होते हैं। लेकिन स्मृति विशेष और सस्कार विशेष का एक दीर्घ विस्तृत एव गहरा व्यापक प्रवाह होता है जो भिन्नभिन्न समाजों में भिन्नभिन्न होता है। स्वय भाषा इन्हीं विशिष्ट प्रवाहों की वाहक होती है। अत मात्र सार्वभौमता का स्तर भाषा के परे का स्तर है। भाषा जिस स्तर से आरम्भ हो जाती है वहीं से सभ्यता का वैशिष्ट्य भी प्रमुख हो जाता है। घट रही घटना और देख रही बुद्धि-दोनों जीव के स्तर पर साथ साथ हैं। इसीलिए किसी भी घटना क्रिया या वस्तु का बोध मात्र बाहरी वस्तुतत्र का परिणाम नहीं होता वह आन्तरिक चित्ततत्र का भी परिणाम होता है। हमारे यहा तो बाहर भी चित्त सत्ता मानी गई है। महाकवि तुलसीदास के शब्दों में अतरजामिहु ते बडा बाहिरजामी हैं राम। अत उस दृष्टि से वस्तु और चित्त का आब्जेक्टिव-सब्जेक्टिव वाले अर्थ में विभेद सम्भव नहीं। कह सकते हैं बाह्य वस्तुतत्र एव आन्तरिक वस्तुतत्र दोनों ही प्रत्येक घटना क्रिया या भाव रूप के सन्दर्भ में साथ साथ हैं साथ साथ सक्रिय होते हैं। एक अर्थ में दोनों स्वायत्त व स्वप्रतिष्ठ हैं पर अधिक गहरे अर्थ में दोनों परस्पर आश्रित हैं एव अभिन्न भी हैं। अत इसे ही यों भी कह सकते हैं कि बाह्य चित्तप्रवाह और आतरिक चित्तप्रवाह साथसाथ हैं प्रत्येक घटना क्रिया या भाव रूप के सन्दर्भ में दोनों का समान महत्त्व है।

इसीलिए मात्र देश काल का महत्त्व नहीं चित्त परम्परा का भी महत्त्व है यानी सभ्यता विशेष का। प्रत्येक सभ्यता की अपनी ज्ञान परम्परा चित्त परम्परा होती है। विश्व में विविध सभ्यताए हैं और ये आपस में एक दूसरे को ऊचा-नीचा श्रेष्ठ-निष्कृष्ट देखती हैं या समान स्वतत्र अभिव्यक्तियों के रूप में देखती हैं या कि सागरीय वृत्तों की तरह देखती हैं-आदि भेद भी सम्बन्धित सभ्यता की ही विशेषता होती है। निश्चित ही इस चित्त परम्परा में बहुत सी बातें सामान्य होती हैं। लेकिन बहुतसी विशिष्ट भी होती हैं। और ये विशिष्टताए ही किसी सभ्यता का विशिष्ट लक्षण या गुणधर्म होती हैं। अत भारत और यूरोप को जानना दो भिन्न भिन्न सभ्यताओं को जानना है। इन्हें किसी सार्वभौमता पर आग्रह के साथ जानने की चेष्टा पर बल देने से जान पाना असम्भव हो जायेगा।

यहां यह स्मरण स्वाभाविक है कि हजारों साल से दुनिया में विविध मानव जातिया विविध सभ्यताए सक्रिय हैं। उनमे परस्पर आदान प्रदान भी होता रहा है प्रभाव ग्रहण करना और सम्प्रेषित करना निरन्तर चलता रहता है। पुरानी सभ्यताओं में से चीन और भारत का उल्लेख किया जा सकता है जो अभी भी सक्रिय हैं। ये भी परस्पर प्रभावित होती रही हैं। यूरोप से भी इनका सम्बन्ध रहा है। आदान प्रदान का रिश्ता भी रहा है। किन्तु साथ ही यूरोप की कुछ अपनी विशेषताए हैं। वे विशेषताए विगत ४००-५०० वर्षों में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचीं और उनसे इस पृथ्वी की सभी मानव जातियाँ प्रभावित हुईं। अनेक सभ्यताए तो इस यूरोपीय प्रभाव से नष्ट हो गई हैं। अनेक में अन्य तरह के परिणाम उभरे। इसीलिए उन विशेषताओं का स्मरण आवश्यक है। हम इन विशेषताओं को अपने सन्दर्भ के साथ स्मरण करें तो अधिक सुगमता होगी।

सर्वप्रथम हम अपनी सभ्यता की आधारभूत विशेषताओं का स्मरण कर लें क्योंकि उन्हें सामान्यत हम जानते हैं और वे हमारी प्रतिमाए हैं हमारी माप हैं। उनके प्रमाण से ही हमें अन्य विषयों की वास्तविक प्रमा यानी बोध सम्भव है। इनका स्मरण इसलिए आवश्यक है क्योंकि जैसा हम देखेंगे हमारी सभ्यता के इतिहास के उत्कर्ष और अपकर्ष स्वावलम्बन और अधीनता वैभव और अभाव सभी में इन प्रतिमानों और प्रतिमाओं की निर्णायक भूमिका है। सक्षेप में इन्हें सात मुख्य आधारों के रूप में समझा जा सकता है। इनमें से प्रत्येक आधार के कम से कम तीन पक्षों की स्मृति भी साथ साथ होती है। वैसे तो प्रत्येक आधार के अनेक पक्ष हैं -

(१) सत्य ऋत सनातन धर्म।
(२) अनन्तता वैविध्य विविध धर्म।
(३) अनन्त पथ अनन्त यज्ञ अनन्त लीला या माया।
(४) त्रिविध श्रद्धा (सात्त्विक राजसिक तामसिक)
(५) विवेक तर्कणा आप्तवचन।
(६) कर्मफल कर्तव्य कर्म स्वधर्म।
(७) अधिभूत के तीन पक्ष।

इनका विस्तार यूरोपीय चित्त परम्परा के ये मुख्य आधार दिखते हैं

(१) सत्ग्न्त्र माध्यम

(२)

(३) स्पिरिचुअलिटी जो सत्यदूत की शरण में जाने पर ही प्राप्त होना सम्भव है।

(४) फेथ जो स्पिरिचुअलिटी का सच्चा लक्षण है।

(५) लॉजिक और रेशनेलिटी। (भारतीय दृष्टि के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में विवेक शक्ति होती है जबकि लॉजिक और रेशनेलिटी विशेष प्रशिक्षण से ही सम्भव माने जाते हैं।)

(६) फेट या डेस्टिनी। (भारत में इससे विपरीत भाग्य और कर्मफल की बात है जो व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ का परिणाम है। फेट या डेस्टिनी पूर्व निर्धारित होते हैं।)

(७) मेटाफिजिक्स जो इन सबका नियामक है।

ग्रीक काल से ही यूरोपीय सभ्यता इन्हीं आधारों पर टिकी रही है। हर धारा में असहमतिया एव विद्रोह उभरते हैं। अत यूरोप में भी उभरते रहे। पर कोई भिन्न प्रवाह वहा ज्ञात इतिहास में उभरा नहीं दिखता। अनन्तता का बोध जहा अनन्त सागरीय वृत्तों के बोध की ओर ले जाता है वहीं सत्यदूत द्वारा अनुशासित 'मैटाफिजिक्स' एक विशिष्ट उच्चावचक्रम युक्त समाजपद्धति को जन्म देती है। इसीलिए ग्रीक सभ्यता के काल से ही वहा दास प्रथा पर आधारित समाज रहा। यहा समता-विषमता वाली बात नहीं की जा रही है। कुछ न कुछ विषमता अधिकारों और स्रोतों सम्बन्धी विषम आचार-व्यवहार सम्पूर्ण विश्व में रहे हैं अत भारत में भी रहे हैं। ऐसा नहीं है कि भारत में सम्पन्नों ने विपन्नों के प्रति मात्र करुणा ही की। निश्चय ही मारा-पीटा लूटा तभी विपन्नता सम्भव हुई। अपने अधिकार अधिक रखना सत्तारूढ लोगों की प्रकृति है और वह भारत् में रही। अपने ही लोगों के दमन-उत्पीडन अधीनता में रखने परभाव से देखने और व्यवहार करने के भारतीय इतिहास में भी साक्ष्य मिल जायेंगे। अधर्म और अनौचित्य से पूर्णत रहित कोई समाज शायद ही रहा हो।

अपनी अनुचित और अधर्ममय अभिव्यक्तियों को धर्मानुकूल बताने की प्रवृत्तिया भारत में भी मिलेंगी। किन्तु बहुत बडे पैमाने पर विशाल जनगण को दास बना रखना और इसी में परम श्रेष्ठता मानना मुख्यत यूरोपीय परम्परा है। दास बनाने को इतना गरिमामडित और कहीं नहीं किया गया।

थोडे से लोग मुख्यत एक व्यक्ति चिन्तक उद्धारक पैगम्बर या मसीहा और उसके अनुरूप सधे सेवक उन्हें मिलाकर बनी सस्था या निकाय ये ही सत्य और सस्कृति के वाहक होते हैं। उन्हें सत्य की सेवा में विशाल जनगण को नियोजित रखना

चाहिए। इन जनगण को जहा तक सम्भव हो सुप्रबन्ध में रखना चाहिए ताकि उनसे निश्चित प्रयोजन के लिए सक्षम ढग से काम लिया जा सके। ये एक चुस्त औजार का काम कर सकें। इसी में उन सबका उद्धार है मुक्ति है सार्थकता है। इसी उद्धार के लिए विशिष्ट सभ्यजनों को पृथ्वी पर काम करना है । यही उनका स्वाभाविक अधिकार और कर्तव्य है। यह सुनिश्चित एव प्रतिष्ठित यूरोपीय दृष्टि है। आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी इसी लक्ष्य को अपने ढग से पाने का प्रयास करती है। विश्व का समस्त जैव द्रव्य (बायोमास) अपने नियत्रण में रखने का दायित्व यूरोपीय विज्ञान और प्रौद्योगिकी का है। विश्व के समस्त विचार अपने व्यवस्था क्रम के अन्तर्गत रखने का दायित्व यूरोपीय दर्शन और मानविकी विद्याओं का है।

इस प्रकार ये दो भिन्न भिन्न सभ्यतादृष्टियाँ सभ्यताबोध सभ्यतानीति तथा सभ्यतालक्ष्य हैं। भारत में दोनों का प्रभाव है। एक सीमित शक्तिशाली वर्ग यूरोपीय दृष्टि को मानता है। बृहत् समाज भारतीय सस्कारों वाला है। इनकी परस्पर टकराहट है और एक दूसरे की अवहेलना की प्रवृत्ति भी बन गई है।

अवेहलना और टकराहट की यह स्थिति दूर करनी होगी। हमारे समाज की एकता और अखण्डता के लिए उसके जीवित व प्राणवान रहने के लिए तथा विश्व में अपना स्वधर्म निभाने के लिए यह आवश्यक है कि टकराहट और आत्मविरोध की यह स्थिति समाप्त की जाय। अभी की स्थिति चलने वाली नहीं।

भारतीय समाज आज दो भागों में विभक्त है यह यथार्थ स्थिति है। इसे अस्वीकार करने से लाभ नहीं। अत इनमें परस्पर सम्बन्ध क्या हो यह निश्चित करने की आवश्यकता है। यहा रहना तो दोनों को है। क्योकि दोनों यहीं के हैं। यह देश दोनों का है। बृहत् भारतीय समाज का तो है ही पश्चिमीकृत भारतीयों का भी है।

पश्चिमीकृत भारतीयों में हमारी आज की सभी सगठित पार्टियाँ हैं विशेषत इनके शीर्षस्थ नेता हैं। उन्होंने पश्चिम का ही मॉडल' अपना रखा है कि देश के बारे में सोचने का सामर्थ्य हम थोड़े ही लोगो में है। हम राजनीति-वैज्ञानिक हैं। यह समाज हमारे वैज्ञानिक प्रयोगों और वैज्ञानिक प्रबन्ध के लिए है। इस समाज को रूपान्तरित करना है तभी यह वैज्ञानिक प्रबन्ध के योग्य बनेगा। पार्टी का कैडर रूपातंरण की इस वैज्ञानिक प्रक्रिया का उत्प्रेरक है कैटलिटिक एजेंट' है। मासिज' (masses) का रूपान्तरण होना है।

इस दृष्टि केपोषण हेतु आधुनिक विद्यासंस्थाए हैं जो यूरोपीय 'मॉडल' पर रची गई हैं। विविध अकादमियाँ परिषदें विद्यासगठन मिलाकर एक पूरा तन्त्र रचते हैं जो

रूपान्तरण का बौद्धिक सास्कृतिक परिवेश रचने एव प्रशिक्षण देने का दायित्व निभाते हैं। हमारे अधिकाश आधुनिक शिक्षाविद्, अकादमीशियन आधुनिक विद्वान लेखक आदि इस पश्चिमीकृत हिस्से का विद्या अग है। आधुनिक अशासकीय सस्थाए भी इसी अग में आती हैं।

पर्यावरण के लिए आधुनिक ढग से काम करने वाले उन्नत कृषि सामाजिक वानिकी बजर भूमि विकास आदि के लिए कार्यरत अनेक सगठन भी पश्चिमीकृत वर्ग की नैतिक शाखाए बनते जा रहे हैं।

आधुनिक राज्य तत्र के दो-ढाई लाख व्यक्ति पश्चिमीकृत वर्ग की प्रशासनिक शाखा है जिन्हें यूरोप की भाषा में भारत का आफिसर क्लास' कहा जा सकता है।

सन् १७५० से १८५० ईस्वी तक तो भारत में व्यवस्थाओं खेती व शिल्प उद्योग आदि के तत्र और सामाजिक शैक्षणिक व सास्कृतिक सस्थाओ के बिगडने का समय ही रहा। अग्रेजों ने इन सौ वर्षो में जो स्थापित भी किया उसका ध्येय केवल भारत पर विजय प्राप्त करना भारत के जनमानस को दासता में बाधना और भारत से हर तरह से जितना भी धन व पैदावार ले जायी जा सके उसको सीधे व भिन्न भिन्न रास्तों से यूरोप पहुचाना था। सन् १८५० ई तक भारत की व्यवस्थाए तत्र व सस्थाए उजड ही गयी थीं। जहा कहीं कुछ बची थीं तो यह बचना या तो सिसकने जैसा था या वह एक तरह के अदृश्य (अण्डरग्राउण्ड) स्तर पर ही रहा।

सन् १८५० के बाद भारत की स्थिति अधिक बिगडी। जिसका परिणाम यह भी होने लगा कि खेती की पैदावार घटने लगी लोगों की खपत की शक्ति नहीं के बराबर रह गयी और हर जगह भुखमरी दारिद्र्य व कगाली दिखने लगी जिससे लोगों में ब्रिटिश राज्य के प्रति अरुचि और क्रोध बढता ही गया। ऐसी ही स्थिति में अग्रेजी राज्य ने भारत में यूरोपीय तरीकों के माध्यम से यातायात उद्योग व खेती में भी नयी व्यवस्थाए व तत्र खडे करने के प्रयास प्रारम्भ किये। इन प्रयत्नों में से रेलें निकलीं डाक-तार व्यवस्था बनने लगी कुछ पक्की सडकें बनीं और कुछ यूरोपीय ढग से कपडे व शक्कर इत्यादि बनाने के कारखाने बनने शुरू हुए। यूरोप में १९०० ईस्वी के करीब या उसके बाद से बिजली व पेट्रोल से चलने वाली मोटर लारी ट्रक इत्यादि आरम्भ होने पर इनका भी भारत में प्रसार हुआ। इसी समय कुछ लोहे व इस्पात के यूरोपीय ढग के कारखाने भी स्थापित हुए १९४७ ईस्वी तक कपडे व शक्कर बनाने के कारखाने तो भारत में काफी बनाये जा चुके थे। सन् १९३९-१९४५ के यूरोपीय युद्ध के समय कुछ बन्दूक बारूद इत्यादि के कारखाने भी बने। इने-गिने ट्रैक्टर व कुछ रासायनिक

उर्वरक भी १९४७ ईस्वी तक भारत मे आने शुरु हो गये थे।

१८५० ई के बाद अग्रेजी राज्य ने भारत मे जो नये दिखने वाले काम किये उनका उद्देश्य पहिले से बहुत भिन्न नहीं था। उद्देश्य तो यही था कि कैसे भारत की पैदावार का एक बडा हिस्सा भारत में अग्रेजी साम्राज्य चलाने के लिये बराबर मिलता रहे कैसे उनका कुछ भाग ब्रिटेन जा सके और कैसे ब्रिटेन के बढते वस्त्रोद्योग व दूसरे उद्योगों के सामान भारत में बेचे जा सकें। सन् १८५० के बाद नहरों इत्यादि के बनने व मरम्मत का जो काम शुरु हुआ या दक्षिण के एक लाख से ऊपर सिंचाई के तालाबों पर सौ वर्ष के बाद जो कुछ थोडा बहुत खर्च हुआ उसका ध्येय ब्रिटिश सामान बेचना व भारत का धान व पैदावार ब्रिटेन में जाते रहने के प्रबन्ध को पक्का करना ही था। भारत में आधे से अधिक फसल को सरकारी भूमिकर में नेने के खिलाफ सन् १८५०-७० के करीब ब्रिटेन में जो चर्चा चली वह इसी तथ्य को लेकर थी कि अगर भारतीय किसान व नागरिक इतना भारी कर ब्रिटिश सरकार को देता है तो ब्रिटेन के कारखानों का कपडा इत्यादि भारत में कैसे बिकेगा।

सन् १९४७ ई से अब तक स्वतत्र भारत में जो हुआ वह बडी सीमा तक सन् १८५० ई के करीब अग्रेजों ने जो यहा आरम्भ किया था उसी का विस्तार है। सन् १९४७ ई तक भी यूरोपीय ढग के उद्योगों या खेती में जो जो परिवर्तन इत्यादि भारत में किये गये वे यूरोप में हो रहे कार्यो से २० से ५० वर्ष पीछे ही थे। यहां तक कि भारत के विश्वविद्यालय भी आक्सफर्ड व कैम्ब्रिज के 'मॉडल' पर न बनकर ईस्वी सन् १८२५-३० में लन्दन युनिवर्सिटी का जो मॉडल' बना था उस पर बनाये गये। लन्दन युनिवर्सिटी का मॉडल' तो ५०-६० वर्ष बाद बदल दिया गया। लेकिन भारत में अभी तक वही पुराना १८२५ ३० ई का 'मॉडल' ही मुख्यत चलता है। इस 'मॉडल' के होने से ही भारत के लगभग सभी १००-१५० विश्वविद्यालयों में आधे के करीब विद्यार्थी बी ए व बी एस सी की परीक्षाओं में हर वर्ष असफल बना दिये जाते हैं। जिस तरह का उत्पादन विश्वविद्यालयों में होता है वैसा ही अधिकाशत भारतीय वैज्ञानिक एव औद्योगिक प्रयोगशालाओं में उद्योगों में चिकित्सा में व खेती इत्यादि में होता है। एक विद्वान मित्र की मान्यता है कि बाहर से सकर बीज व उर्वरकों से हम आज जो गेहूँ आदि पैदा करते हैं वह यूरोप व अमेरिका में तो पशु ही खाते हैं। हमें अगर गेहूँ का विदेशों में निर्यात करना होगा तो उसके लिये तो दूसरे बीज व तरीके बरतने पडेंगे। सन् १९४७ ई से अब तक पश्चिमी व अन्य देशों से हमारे यहा जो भी सामान आता है वह बहुत कर के कचरा ही है - ये चाहे लडाकू विमान हों पनडुब्बियाँ हों बन्दूकें और

बारूद हो दवाई व उनके पेटेण्ट हों बिजलीघरों की मशीनें हों कम्प्यूटर हों व अनाज दूध पावडर बटर ऑयल उर्वरक जो भी हों। हमारे बडे नेताओं का जो कांग्रेस की सन् १९३८ ई में बनायी हुई राष्ट्रीय योजना समिति के कर्णधार थे सोचना भी आज जो सब हुआ है या हो रहा है उससे भिन्न नहीं था। उनका मॉडल सन् १९१० व १९२० ई का यूरोप व अमेरिका व रूस था वे पश्चिम की चकाचौंध से मोहित थे और पश्चिम का कबाड भी उनकी दृष्टि में मोती और जवाहिरात जैसा था। आज के अनेक युवा वैज्ञानिकों का मानना है कि आज तो हम अमरीका यूरोप रूस इत्यादि से सरकारी तत्र व बडे औद्योगिक तत्र की मार्फत पैसा देकर व उधार खरीदते हैं उसमें से अधिकाश अमरीका के बाजारों में हमें चौथाई दाम पर मिल सकता है। केवल कुछ मेहनत की और खरीदे जाने वाले समान की पहचान की जरूरत है।

अपनी इस बरबादी के रास्ते पर जो हम चलते रहे हैं वह किसी एक व्यक्ति विशेष के कारण नहीं। अधिकाशत तो ऐसा चलना हमे ऐतिहासिक विरासत में अंग्रेजी साम्राज्य से व्यवस्था तत्र शिक्षा और मान्यताओं के रास्ते मिला है। भारत में जो दो लाख के करीब परिवार देश की व्यवस्था औद्योगिक-वाणिज्य और वित्तीय तत्र देश के विज्ञान प्रौद्योगिकी व शिक्षा सस्थाओं देश की रक्षाव्यवस्था देश की ससदीय व्यवस्था व न्याय व्यवस्थाओं इत्यादि को सभाले हुए हैं वे सब इस बरबादी के काम में भागीदार हैं। इनमें से अधिक तो मानसिक दृष्टि से देश के आधे ही नागरिक हैं उनका चित्त तो विदेशों में ही भटकता है और वहीं कुछ रस पाता है। उनमें से अधिकाश के परिवारों में से कोई न कोई अधिकाशत विदेश ही रहता है और इन दो लाख में से अधिकाश हर वर्ष नहीं तो दो चार बरस में एक बार विदेशों में अपने दिल व दिमाग की ताजगी के लिये जाते ही हैं।

भारत में १२-१५ करोड परिवारों में से केवल दो लाख परिवार ही भारत की हर तरह की व्यवस्था की देखभाल करते हैं यह कोई निराली बात नहीं है। पश्चिम के सभी देशों में ऑफिसर क्लास' और साधारण प्रजा का ऐसा ही अनुपात शायद प्लेटो के समय से ही मिलेगा। लेकिन फर्क इतना है कि पश्चिम की ऑफिसर क्लास' में स्वय पहल करने का सामर्थ्य है उसमें शक्ति की समझ है और उसके प्रयोग करने में कोई दुविधा नहीं। शक्ति के इस्तेमाल में स्वय को भी परेशानी होती है यह पश्चिमी सभ्यता अर्से से जानती है। इसी समझ में से प्लेटो के फिलासफर किंग' की व बीसवीं सदी में बर्नार्ड शॉ के 'सुपरमेन' की बात निकली। किन्तु हमारे इन दो लाख परिवारों का ध्येय तो आलस व तमस ही है और कहीं भी खतरा दिखने पर या तो विदेश भागने की

सोचना व विदेशी सरक्षण में जाना। पश्चिम से दूसरा बडा भेद भारत में यह है कि हमारी 'ओफिसर क्लास' की जीवन शैली व जीवन का मुहावरा विचार और व्यवहार के रूप एव अभिव्यक्ति-विधिया अभारतीय हो गये हैं। उत्तर भारत में तो यह कई सौ बरसों से होने लगा था। लेकिन पिछले दो सौ वर्षों में और विशेषकर पिछले ४० वर्षों में इन दो लाख परिवारों और बृहद् भारतीय समाज के १२-१५ करोड परिवारों के मध्य परस्पर सवाद के माध्यम और मार्ग ही समाप्त होते जा रहे हैं। क्योंकि आज के समय में यह सम्भव नहीं है कि ये दो लाख इन १२-१५ करोड को फिर दासता की बेडियों से जकड दें और इसके बाद भारत में समृद्धि व शक्ति ला पायें इसलिये यह अब आवश्यक हो गया है कि 'ऑफिसर क्लास' और भारत के बृहद् समाज को या तो किसी तरह एक सूत्र में बाँध दिया जाये या फिर इनके बीच में आवश्यक दूरी स्थापित कर दी जाय।

पिछले चालीस बरसों में भारत में वनों और जल का अकाल बढता जा रहा है। भारत की कृषि भूमि की उर्वरता भी बहुत घटती जा रही है। बरसात की बाढों का रूप भी तीव्रतर हुआ है। अन्न की पैदावार नये बीज कृत्रिम खाद व बढती सिचाई के कारण अवश्य बढी है लेकिन भारत के आधे के करीब लोग आज भी कैलोरी के हिसाब से भी पूरा खाना शायद वर्ष में कभी ही खाते हों। पौष्टिक विटामिन इत्यादि के हिसाब से तो शायद ८० ९० प्रतिशत लोगों का दैनिक भोजन पोषण की किसी भी तरह की तराजू पर नहीं बैठता इस तराजू पर भी नहीं कि शरीर स्वयं ही किसी भी तरह के भोजन को यानी केवल कार्बोहाईड्रेट वाले भोजन को आवश्यकता के अनुसार प्रोटीन इत्यादि में बदल लेता है। *अगर यह 'थियोरी' और खोज ठीक होती तो कोई आवश्यकता नहीं थी* की भारत का सब दूध फल सब्जी भारत के गावों और दूसरे पैदावार वाले स्थलों से खिचकर भारत के महानगरों व दूसरे बडे नगरो में इकट्ठी हो जाती जैसा की पिछले २०-३० वर्षो में बडी व्यापकता से होता जा रहा है। आज के भारत के कोई ही ग्राम ऐसे होंगे जिनमें वहा पैदा होने वाला ५ प्रतिशत दूध भी (या उस दूध का बना दही मक्खन घी व छाछ) वहा के अपने इस्तेमाल के लिये ग्राम में रह जाता है। ग्राम में पैदा हुए फल व सब्जी भी ग्राम में तो शायद खाने को नहीं मिलते। कहीं ये फल व सब्जी ग्राम में ही न रह जायें इसी की सम्भावना को दूर रखने की दृष्टि से (जरूरी नहीं कि यह सब सुनियोजित प्रयासों का परिणाम हो यह आज के केन्द्रीय विचार स्रोत का परिणाम ही शायद हो) इन फलों सब्जियों की किस्में ही बदल डाली गयी हैं। देसी आम का स्थान कलमी आम ने लिया है अमरूद का स्थान सेब ने। और इस तरह से दूसरे फलों व

सब्जियों को इस तरह से बदला गया है कि वे ज्यादा दिन टिक सके और उनका यातायात आसान बने। यह कहने में शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आधा प्रतिशत भारतीय परिवारों ने आज के तर्क में बंधकर एक राक्षसी रूप धारण कर लिया और ९९ ५ प्रतिशत भारतीय जनता मानो इस राक्षसी वृत्ति का आहार ही रह गयी है। अगर आज की स्थिति ही चलती रही तो जल और वृक्षों के क्षेत्र में भी शायद वैसा ही हो जाये जो दूध फल और सब्जियों के क्षेत्र में हुआ है।

भारत के साहित्य कला सगीत नृत्य खेलकूद नटकरतब व नटविद्या वाले कौशल (एक्रोबेटिक्स) इत्यादि के क्षेत्रों में भी ऐसा ही हुआ दिखता है। हो सकता है भारत के सैकड़ों व हजारों गावों में जो आग पर चलने की प्रथा आज भी प्रचलित है- आज से सौ वर्ष पहले तो यह उत्सव कम से कम दक्षिण व मध्य भारत के हर क्षेत्र में मनाया जाता था-वह भी दस बीस वर्ष के बाद भारत के अभिजनों के लिये ही रह जाये। तब ऐसा तो शायद अवश्य हो सकता है कि भारत के इस फायर वॉकिंग का सार्वभौमीकरण हो जाये और वह विश्व के औलम्पिक्स का एक बड़ा खेल बन जाये। ऐसा होने पर साधारण भारतीयों का जीवन इससे भी वचित रह जायेगा जैसा कि वह सगीत नृत्य कला साहित्य से वचित रह गया है। टेलीविजन की बदौलत दर्शक होने की अनुमति उसे अवश्य है शायद समय बीतते बीतते दर्शक होना उसका कर्तव्य ही माना जाने लगें। लेकिन साझेदारी से उसका रिश्ता टूट ही गया है और यह टूटना पक्का हो जाये इसका प्रयत्न हर तरह से जारी है। कला सगीत नृत्य इत्यादि से वचित होने से पहले ये ९९ ५ प्रतिशत परिवार अपनी खुली शरीर चिकित्सा शिक्षा-दीक्षा जल प्रबन्ध ग्राम और नगर नियोजन और रूपाकृति-रचना से अधिकाशत वचित हो ही चुके थे। जहा कानूनन उनके इन कार्यो की मनाही नहीं हुई वहा उनके इन क्षेत्रों में कार्यो को अन्धविश्वास माना गया उनकी बात बात पर खिल्ली उड़ाई गयी उन्हें लज्जित किया गया और सबसे अधिक उनकेपास ऐसे साधन नहीं रहने दिये गये कि वे ऐसे किसी भी काम को कर सकें।

वैसे यह सब जो हुआ ससार में नया नहीं है। जिसे प्रजातत्र का गढ माना जाता है उस ब्रिटेन में तो आक्सफोर्ड व कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों का यह प्रयत्न रहता ही है कि हर क्षेत्र का श्रेष्ठ व्यक्ति (खिलाडी तैराक नाविक गायक इत्यादि सब उसमें शामिल हैं) जहा तक हो सके उन विश्वविद्यालयों में से ही निकले और ऐसे निपुण लोग कहीं और से निकल भी आयें तो उनको ये विश्वविद्यालय या इनका सहायक तत्र समायोजित करता चला जाये। यूरोप और अमरीका के देशों में स्थिति इससे मिलती-जुलती ही

होगी। प्राचीन ग्रीस में तो ऐसा होता ही था।

इस पश्चिम के दिये हुए लक्ष्यों के अनुकरण में हमने भारत की सब तरह की स्वदेशी व्यवस्थाओं और प्रतिभाओं को या तो बेकार बना दिया या उन्हें समेटकर सग्रहालयों व अभिलेखागारों में रख दिया या उन्हें भारत के आधा प्रतिशत लोगों के सुपुर्द कर दिया। इसका नतीजा है कि भारत ने एक स्लम' का रूप ले लिया है। और हमारे जैसे बुद्धिजीवी इसको कह देते हैं कि यह तो भारत का परम्परागत रूप है। अपनी बात को साबित करने के लिये जहा तहा से विदेशियों के (किन्हीं खोज निकाले गये अथवा प्रसिद्ध प्राचीन भारतीयों के भी) बयान जोड दिये जाते हैं कि भारत में तो हमेशा दुःख ही दुःख रहा है। हम सब जानते हैं कि और तो और कार्ल मार्क्स ने भी भारतीय जीवन व सभ्यता को गयी बीती दिखलाने की दृष्टि से इसी तरह की बातें लिखीं।

इतने सब धक्कों के बावजूद भी भारत के लोग अपने जीवन में एक सन्तुलन कायम करने के लिये अपने निरन्तर दुःख दर्द और दारिद्र्य को भूलने के लिये उनसे जो कुछ बन पड़ता है और जो कानून व उसके एजेण्ट उन्हें करने देते हैं या जो उनसे छिपा करके किया जा सकता है करते ही हैं। लोग सब कठिनाइयों और रुकावटों के रहते हुए भी कुछ इधर उधर की यात्रा करते ही हैं मदिरो के छोटे-मोटे उत्सव मनाते ही हैं जहा-तहा जब तब यह सुनकर कि कहीं कोई देवी या सन्त प्रकट हुए हैं उस तरफ *भागते ही हैं कहीं कहीं समय पर नगे होकर उत्सवों में आनन्दोल्लासमग्न नृत्य करते ही* हैं। एक तरह से ये सब जहा भी हो सकता है पहल अपने हाथों में लौटाने के उनके तरीके हैं और अगर उन्हें एक क्षेत्र में पहल का अवसर मिलता है तो वह दूसरे क्षेत्रों में भी मिल ही जायेगा ऐसी उनकी सोच है। लेकिन हमें तो यह सब अच्छा नहीं लगता। प्लेटो यूरोपीय ईसाईयत पश्चिमी रैशनलिज्म मार्क्सीय समीक्षात्मक विश्लेषण पद्धति सबके बोझ से हम लदे हैं। हमारे प्राचीनतम धर्मग्रन्थों के बोझ से भी हममें से काफी दबे हैं।

ऐसा हम कैसे होने दें। जो भी राजनैतिक सत्ता हमारे पास है जो भी पुलिस व अस्त्रशस्त्र हमारे अधीन हैं वह सब हम इन बातों को रोकने के लिए प्रयोग करते हैं। लेकिन बहुत कुछ सफलता कम से कम इन क्षेत्रों में तो नहीं मिलती। नैतिक सत्ता या किसी तरह की अध्यात्मशक्ति तो हमारे पास है नहीं। हमारे सन्यासियों व धर्मगुरुओं के पास तक ऐसी नैतिक व आध्यात्मिक शक्तियों का ह्रास हुआ है। परिणाम यह है कि भारत दो भागों में बँट गया है। एक भाग है उन आधे प्रतिशत लोगों का जो भारत के तंत्र और साधनस्रोतों को नियत्रित करते हैं और दूसरा है उन ९९ ५ प्रतिशत का (इनमें

से १५-२० प्रतिशत शायद आधे फीसदी के सहायक व नौकर माने जा सकते है और सुरक्षा व अधिकाधिक आमदनी का लोभ इन्हें काफी समय तक बाकी ८०-८५ प्रतिशत से अलग रख सकता है) जो केवल अपने सीमित व अवशिष्ट बल पर जी रहे हैं और जिनका किसी भी तरह का बौद्धिक व सामाजिक सम्पर्क भारत के शासक वर्ग व आफिसर क्लास' से नहीं है।

यह स्थिति तो अधिक नहीं चल सकती। दो ढाई हजार वर्ष से पश्चिम में अपनाये जा रहे हल भी (जिनके मार्फत ९९ ५ प्रतिशत को पूरी दासता मे बाध दिया जाता उन्हें मशीन की तरह माना जाता जैसे अरस्तू ने दासों को माना ही था) हमारे यहा आज तो नहीं चल सकते। ऐसी शक्ति व मानसिकता भी हमारे ऑफिसर क्लास' की नहीं है।

अगर आज ससार में और देशों के सम्पर्क में रहने की बात नहीं होती तो हमारी यह दुविधा कुछ आसानी से हल हो सकती थी। बाहर का इतना घनिष्ट सम्बन्ध और आना जाना नहीं होता तो हमारे समाज के इन दोनों भागों का एक दूसरे से आदान-प्रदान क्रिया-प्रतिक्रिया आवश्यक हो जाती। उनमें टकराहटें झगड़े होते शायद कुछ खूनखराबा भी हो जाता लेकिन इस सबसे या विवेक के जगने से ये दो भाग करीब ही आते। इन दोनों की अभिव्यक्ति-पद्धति एक बनती जीवन की शैली एक आधार पर खड़ी होती और ये एक दूसरे कि लिये अजनबी न रहते।

लेकिन आज के ससार से सम्पर्क टूटना तो सम्भव नहीं। परन्तु इस ससार की थियेरीज अवधारणाओ और सरक्षण से तो हम निकल ही सकते हैं। इसी सदी में महात्मा गाधी ने स्वतन्त्रता सग्राम के समय हमारे में से अधिकाश को इन थियेरीज' अवधारणाओं और सरक्षण से निकाल लिया था। कम से कम इतना करना तो अभी भी असम्भव नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि हम गाधीजी के विचारों पर आधारित राज्य समाज और अर्थव्यवस्था ही मानें। हम आज भारत के लिये एक नया अवधारणात्मक आधार व रूपरेखा जो भारत के मानस व प्रकृति से मेल खाती हो बना सकते है। भारत के लिये एक नयी 'युनीफाइड थियरी' एक नया एकीकृत सिद्धान्त' निकाल सकते हैं जिसके सहारे भारत भारतीयता न खोते हुए आज के ससार से बराबर का रिश्ता रख सके और पश्चिमी (यूरोपीय अमरीकी और रूसी) सैन्यवाद के इस काल में अपनी सुरक्षा के लिये आवश्यक राजनीतिक व भौतिक ढग से तैयार रह सके। जापान ने यह सब किया है और एक तरह से चीन भी इस तरह के प्रयत्न में काफी सफल ही रहा।

पिछले चालीस वर्षों में भारत में इतने सब विरोधाभासों के बावजूद इतना तो हुआ ही है कि हजारों भारतीय युवक युवतियों ने न केवल अपने बृहद् समाज के जुड़ने व एकरूप होने के प्रयत्न किये हैं किन्तु पश्चिमी सभ्यता के उपकरणों को भी काफी हद तक समझ लिया है। ऐसे व्यक्ति अब पाश्चात्य सभ्यता से ऐसे चकाचौंध नहीं हैं जैसे कि ४०-५० बरस पहले तक के भारतीय शिक्षित होते थे। इनमें से बहुतों ने अपने पुरातन को भी समझने की कोशिश की है और ऐसा लगता है कि काफी बड़ी संख्या में हमारे यहां ऐसे युवक और युवती तैयार हो रहे हैं जो भारतीयता को छोड़े बिना उसमें पश्चिम के जिन उपकरणों को और उनकी विद्या को आज की स्थिति में आत्मसात् करने की आवश्यकता है उतना शीघ्र ही कर पायेंगे। ऐसे युवक और युवती भारत के भिन्न भिन्न क्षेत्रों और विशेषज्ञताओं में फैले हैं और इनमें देश प्रेम बृहद् समाज से मानसिक आत्मीयता भरपूर है। पाश्चात्य विद्या पर भी इनका अधिकार आज कम नहीं है।

आज की स्थिति मे यह विचारणीय है कि भारत में बृहद् समाज को साधन व स्वातंत्र्य मिले जिससे बृहद् समाज की इकाइयाँ अपनी मान्यताओं व्यवस्था की अपनी प्रणालियों और तकनीकी ज्ञान के आधार पर चल सकें। भारत में कृषि व प्रौद्योगिकी या ऐसे अन्य क्षेत्रों में ८० प्रतिशत उत्पादन तो आज भी परम्परागत भारतीय प्रतिभा के बल पर ही होता है। साधन व स्वातंत्र्य रहेगा तो यह प्रतिभा परिष्कृत ही होगी और इनके परिष्कृत होने पर यह भी सम्भव हो पायेगा कि पश्चिम के ज्ञान और भारतीय बृहद् समाज के ज्ञान में कुछ संवाद और लेनदेन कायम हो सके। बृहद् समाज के पास आवश्यक साधन व स्वातंत्र्य आना आज के भारत के पश्चिमीकृत अंग के लिये भी शुभ होगा इस अंग को भी स्वातंत्र्य मिलेगा इसका मानसिक व भौतिक बोझ घटेगा और इस बोझ के घटने से इसकी अपनी सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति तथा पश्चिमीकृत ज्ञान की समझ व पहचान और इसमें भारत के लिये उपयोगी और आवश्यक है ऐसे ज्ञान को आत्मसात् करने का एक बड़ा अवसर मिलेगा। अत यह आवश्यक है कि पश्चिमीकृत वर्ग अपने ऊपर लाद लिये गये बोझ से स्वयं भी मुक्ति पाये और बृहद् समाज के प्रति अवहेलना भाव को भी त्यागे उससे सद्भाव स्थापित करे। प्रत्येक स्थानीय क्षेत्र ग्राम या ग्राम समूह को तथा शहरों के मुहल्ले या वार्ड को आवश्यक स्थानीय स्वायत्तता दी जा सकती है। शिक्षा आवास उत्सव मनोरंजन आहारविहार के प्रबंध सुरक्षा स्वास्थ्य स्वच्छता चिकित्सा कृषि सिंचाई शिल्प हुनर स्थानीय एवं लघु उद्योग सांस्कृतिक व्यवस्थाएं धार्मिक क्रियाशीलताएं संवाद एवं संचार माध्यम स्थानीय परिवहन यातायात आदि मामलों में भिन्न भिन्न स्तर पर स्वतंत्रता दी जाए। इसमें

पक्षपात आदि होने का भय त्याग देना चाहिए। वह पक्षपात अभी केन्द्र व प्रदेशों के स्तर पर कम नहीं चलता। स्थानीय इकाइयों में इससे अच्छा ही चलेगा परस्पर का नैतिक दबाव रहेगा।

भारत के सुरक्षा के सयत्र व महानगरीय क्षेत्रों की पश्चिमीकृत आवश्यकताए (जिनकी इन क्षेत्रों की जण्ट्री' को आदत पड गई है।) पश्चिमीकृत ढग से भारत के महानगरों व इनसे मिलते जुलते ५०-१०० क्षेत्रों में बनायी जा सकती है। बाकी सब वृहद् समाज के क्षेत्र में बनेगा वृहद् समाज के अपने तरीकों व रूपाकारों के अनुसार। लेकिन जहा जहा वृहद् समाज को पश्चिमीकृत ज्ञान व ससाधनों की आवश्यकता होगी (जैसे कि ऊर्जा के क्षेत्र में इधन गैस और प्रकाश विश्लेषण के द्वारा बनी बिजली की) वहा पश्चिमीकृत क्षेत्रों का यह कर्तव्य होगा कि इस तरह के आत्मसातीकरण में वृहद् समाज के कहने पर उसका हाथ बटाएँ।

इस तरह के बँटवारे में यह आवश्यक है कि आज तक पिछले ४० वर्षों में भारत में सरकारी व गैरसरकारी स्तर पर जो नयी योजनाए कलकारखाने सिचाई व बिजली बनाने के कार्यक्रम यातायात इन्तजाम मकान बनाने के रूपाकार आदि के तरीके चले हैं उनकी पूरी तरह से समीक्षा हो। हो सकता है कि समीक्षा होने पर यह पाया जाये कि इनमें से काफी काम मुख्यत आवश्यक ही रहे हैं और इनकी व्यवस्था व रूपाकारों में कोई बडी त्रुटिया नहीं रही हैं। लेकिन जब तक ऐसी समीक्षा पूरी नहीं हो जाय तब तक लगभग सभी क्षेत्रों में नये काम उठाना या पुरानों को बढाना बन्द किया जाय। यह भी मान लिया जाय कि भारत की जल व्यवस्था वन व्यवस्था कृषि और पशुपालन कपडे शक्कर और भवननिर्माण सामग्री से सम्बन्धित कार्य वृहद् समाज की जिम्मेदारी रहेंगे और पश्चिमीकृत क्षेत्रों को इन बातों में अपनी आवश्यकताओं व प्राथमिकताओं को वृहद् समाज की इस जिम्मेदारी के अन्तर्गत ही रखना होगा।

लेकिन भारत में दो सौ वर्ष के विनाश और उपेक्षा के कारण बहुत से क्षेत्रों में बडे बडे प्रश्न खडे हो गये हैं। भारत को न केवल अपनी जल वन कृषि लघु उद्योग की व्यवस्था का पुनरुद्धार करना है न केवल नदियों की गहराई बढानी और उनका प्रदूषण घटाना है किन्तु भारत के विद्या व सास्कृतिक केन्द्रों की पुर्नस्थापना करनी है। दो सौ वर्ष तक भारत की हर विद्या व हुनर का ह्रास हुआ है। इस पुनर्स्थापना के लिये यह तो आवश्यक है ही कि शिक्षा की विषयवस्तु और व्यवस्था का विश्लेषण होकर एक नयी विषयवस्तु की शिक्षा (शिशु शिक्षा से विश्वविद्यालयों और उच्चस्तरीय शोध सस्थाओं तक) पुन स्थापित हो। इसमें सबसे पहला काम जो एक दो वर्ष के अन्दर ही देश भर

में स्थापित किया जा सकता है यह है पडोसी स्कूलों' की स्थापना। बीस पच्चीस वर्ष से ऐसा करने की बात चलती रही है। हर क्षेत्र में व शहरों के हर वर्ग किलोमीटर में उस क्षेत्र के सभी घरों के बच्चे एक ही स्कूलों में जाए। अगर किन्हीं बच्चों को विशेष शिक्षा देनी है तो वे सब आवासीय स्कूलों में ही रहें जैसा कि अभी हर जिले में नवोदय स्कूल के मार्फत होने की बात है। इसी तरह हर ग्राम या आवास क्षेत्र व शहरी मुहल्लों में चिकित्सा के लिये एक ही तरह का प्रबन्ध होना चाहिये। धनी व शक्तिशाली जन भी इन स्कूलों व चिकित्सा केन्द्रों का इस्तेमाल करेंगे तो इनका स्तर सुधरेगा ही। भारत की परम्परागत चिकित्सा प्रणाली इत्यादि भी तब जीवित हो जायेगी।

इसी तरह रहने के घरों इत्यादि के विषय में सोचना होगा और स्थानीय सामग्री और रूपाकारों के आधार पर ज्यादा से ज्यादा घर बनें इस पर ध्यान देना होगा। हर घर में पानी शौच इत्यादि की उचित व्यवस्था हो यह भी सोचना होगा। नहीं तो भारत के धनी क्षेत्र भी 'स्लम' ही बनेंगे। सरकारी तन्त्र के मार्फत जितने कम मकान भारत में बनें उतना ही देश के लिये शुभ है। दस बीस बरस में तो सब सरकारी घर (चाहे उसमें मत्री रहते हों या सरकारी अधिकारी) समाप्त होने ही चाहिये।

भारतीय आफिसर क्लास' द्वारा वृहद् भारतीय समाज की बुद्धि प्रतिभा विद्या ज्ञान और सौंदर्य बोध एव सुरुचि बोध से अपने को काट रखने के कारण उनमें एक आन्तरिक हीनता और दैन्य आया है तथा उनके जीवन में एक आन्तरिक प्रयोजनहीनता आई है। इस प्रयोजनहीनता का सबसे प्रकट रूप है अर्थशास्त्र को प्रधानता दिया जाना। अर्थशास्त्र सदा से राजनीति शास्त्र की एक अधीनस्थ विद्या है। वह सास्कृतिक-राजनैतिक लक्ष्यों की सिद्धि का एक माध्यम है। राजनीति सस्कृति का अग है सस्कृति की सेवा के लिए है। सस्कृति का बोध इतिहास परम्परा दर्शन-परम्परा समेत समाज जीवन की समग्र परम्परा से होता है समाज शास्त्र और राजनीति शास्त्र राजनीतितत्र (पोलिटी) के अग है। इस प्रकार अर्थशास्त्र का स्थान सस्कृति में बहुत बाद में है। यह नहीं की वह महत्त्वपूर्ण नहीं। पर वह लक्ष्य नहीं है अनेक साधनों में से एक है। पूँजी और धन स्वय में किसी के भी लक्ष्य नहीं होते। वे तो साधन ही होते हैं। प्राकृतिक साधन-स्रोत उनके उपयोग और व्यवहार का कौशल तथा मानवीय बुद्धि के अन्य कौशल हुनर और परिश्रम ही मूलभूत पूँजी हैं। उस पूजी को क्या रूप दिया जाना है यह किसी सभ्यता और समाज के बोध एव लक्ष्यों पर निर्भर है। उन लक्ष्यों का सहायक साधन है धन की वृद्धि व धन के व्यवहार और उनका विचार करने वाला अर्थशास्त्र।

कार्ल मार्क्स ने अर्थशास्त्र को प्रमुखता दी क्योंकि कार्ल मार्क्स में बहुत गहरा और प्रबल यूरोपीय तथा ईसाई सस्कार सवेग और बोध था। उस बोध और सस्कार के कारण कार्ल मार्क्स का मानना था कि सम्पूर्ण विश्व के लिए राजनैतिक लक्ष्य तो एक ही है और वह यूरोप के शासक वर्ग का राजनैतिक लक्ष्य ही है। शेष विश्व उन्हीं राजनैतिक लक्ष्यों की पूर्ति का औजार है साधन सम्पत्ति है। इसीलिए इस विश्व को औजार या सम्पत्ति के रूप में रहना है और सम्पत्तिशास्त्र अर्थात् अर्थशास्त्र के नियमों से शासित होना है। यह एक तरह से ससाधनशास्त्र है। यूरोपीय दृष्टि में समस्त मनुष्य तथा अन्य समस्त जीव एव वनस्पति वन भूमि जल खनिज इत्यादि साधनस्रोत शासकों के विचार और व्यवहार रूपी सभ्यता के ससाधन हैं। अर्थशास्त्र की प्रमुखता का यही अभिप्राय है। स्वय मार्क्स के अपने जीवन में या कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं के जीवन में अर्थशास्त्र प्रमुख नहीं होता राजनीति ही प्रमुख होती है।

परन्तु भारत में यूरोप को बिना समझे अनुसरण करने वाले तथाकथित बुद्धि जीवियों का एक बड़ा ढेर तैयार हो गया है जो अर्थशास्त्र को ही देश की प्रमुख विद्या मानता है। समस्त देश को अर्थशास्त्र से नियन्त्रित रखना चाहता है इसमें वह दास्य - भाव से भरी बुद्धि ही प्रमुख कारण है। यदि किसी व्यक्तिविशेष की इसमें मुख्य भूमिका है तो वह जवाहरलाल नेहरू की है। जवाहरलाल नेहरू जैसे आदमी इस प्रकार के विचारों में पड़ गये यह इसी तथ्य की निशानी है कि हम किस दशा में पहुच गए थे हमारी कितनी मानसिक-बौद्धिक गिरावट हुई होगी।

भारत को अब अपनी पुनर्योजना सास्कृतिक राजनीति को आगे रखकर करनी होगी। इस पुनर्योजना में अर्थशास्त्र नियामक सिद्धान्त कदापि नहीं हो सकता। प्रत्येक सभ्यता में विविध अवधारणाओंकी एक क्रमव्यवस्था रहती है। किन्तु अर्थशास्त्र किसी भी सभ्यता में प्रमुख नहीं होता। अपनी सभ्यता से कटे हुए और यूरोपीय सभ्यता के मर्म से अनजान तथा उसके प्रति दास्यभाव से भरे हुए भारतीय शासकवर्ग को ही अर्थशास्त्र प्रमुख दिखता है। यूरोपीय शासक वर्ग तो हमें अपनी सभ्यता का मानवीय ससाधन मानकर हमारे लिए अर्थशास्त्र को प्रमुख मानता रहा है। अब हमें अवधारणाओं को प्रधान-गौण-क्रम का यह उलट गया बोध फिर से व्यवस्थित करना होगा उसे सही क्रम में समझना और रखना होगा।

इन विपरीतताओं का मुख्य कारण यह रहा कि हमारी विद्या-बुद्धि ही छिन्न-भिन्न हो गई। हमारे अभिजनों और शासक वर्ग को विद्याओं की समझ ही नहीं रही। वृहत् समाज की विद्याए उसे अविद्या दिखने लगीं। अब इस विपरीत मति को फिर से स्वस्थ

सहज बनाना होगा।

भारतीय किसान के पास अत्यन्त सम्पन्न विद्यासम्पदा एव विद्या परम्परा है। मिट्टी के विविध रूप उनकी क्षमताए उनकी आवश्यकताए ऊपरी पपड़ी का स्तर नमी का स्तर उनकी सम्भावनाए भूमि की जुताई की आवश्यकता का स्वरूप व स्तर मौसम की जानकारी वर्षा सम्बन्धी भिन्न भिन्न रूपों और सम्भावनाओं की जानकारी ठड पाला कुहासा धुध ओस शीतलहर आदि के रूपों और प्रभावों तथा उस सन्दर्भ में आवश्यक व्यवस्थाओं की जानकारी घास और गर्मी सम्बन्धी जानकारी हवा के भिन्न भिन्न रूपों रुखों वेग और प्रभावों तथा उपयोग की जानकारी सिचाई सम्बन्धी विविध रूपों और व्यवस्थाओं की जानकारी बीज की किस्मों और सामर्थ्य का ज्ञान फसल के अकुरण विकास वृद्धि और पकने सम्बन्धी विविध दशाओं का ज्ञान कटाई गुड़ाई उड़ावनी बीज और फसल के प्रबन्ध तथा भडारण का ज्ञान अलग अलग अनाजों के गुणों और प्रभावों का ज्ञान कृषि के उपकरणों सम्बन्धी ज्ञान अपने गाय बैल भैंस बकरी की किस्मों गुणों सामर्थ्य जरूरत पोषण रक्षण प्रेम अनुशासन आदि सम्बन्धी ज्ञान कुत्ते बिल्ली बन्दर खरगोश चिड़िया तथा विविध पशुपक्षियों सम्बन्धी ज्ञान शिष्टाचार और व्यवहार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ उनके प्रभावों का ज्ञान आदि विस्तृतगहरा ज्ञान किसान नरनारियों को तथा अन्य ग्रामीण नरनारियों को रहता है। यह हम भी सभी जानते हैं। ये सब विद्या के ही रूप हैं। आज मौसम आदि की जानकारी के लिए आसमान में जाने बादलों का सूक्ष्म एव अत्यत महगे उपकरणों से निरीक्षण आदि करने का विस्तृत तत्र है जिसमें राष्ट्रीय धन का बड़ा व्यय होता है। अत किसानों की इस विद्यासामर्थ्य का समादर किया जाना चाहिए कि वे बिना ऐसे भारी खर्च के ही यह विद्या सुरक्षित व गतिशील रखे हैं। भारतीय किसान नारियों एव ग्रामीण नारियों को इन विद्याओं के अतिरिक्त उन अन्य महत्त्वपूर्ण विद्याओं का भी समृद्ध ज्ञान होता है जो अधिकाश भारतीय नगरों की नारियों को भी होता है यह भी हम सभी जानते हैं। विविध अन्नों फलों शाक कन्द मूल आदि तथा दूध दही घी छाछ आदि के गुणों और प्रभावों का उनके पकाने या बनाने के विविध रूपों और गुणों का ज्ञान तेल घी मसाले आदि सम्बन्धी विस्तृत विद्या घर बर्तन तथा घरेलू सामान घरेलू उद्यान घर का परिवेश घर की सुरक्षा और सज्जा आदि की विद्या परिवार के विविध सदस्यों के साथ विविध प्रकार के व्यवहार की विद्या लेन देन रख रखाव मान उपेक्षा आदि सम्बन्धी विस्तृत और गहरा ज्ञान धर्म उपासना रीतिरिवाज व्रत-अनुष्ठान अल्पना रगोली सिलाई कढ़ाई स्वास्थ्य स्वच्छता घरेलू चिकित्सा सम्बन्धी अनगिनत जानकारिया

बच्चों के पालनपोषण की विद्या समृद्धि मे सयम और गरिमा तथा विपदा में धैर्य और गम्भीरता की विद्या तथा तेज ये सब हमारी नारियों के सम्माननीय विद्यारूप है जिसकी हम सभी को जानकारी है। स्मरणीय है कि प्राय सभी धर्मग्रन्थों में कुलाचार और लोकाचार के बारे में अन्तिम निर्णय की अधिकारी घर की जानकार स्त्रिया ही मानी गई है। इसी प्रकार क्षेत्र के विविध लोकाचारों के बारे में अन्तिम अधिकारी उस क्षेत्र के जानकार शूद्र (साधारण जन) माने गये हैं। ये जानकारिया महत्त्वपूर्ण विद्याए ही हैं। आधुनिक विद्या सस्थाए ऐसी जानकारियों के सग्रह सम्पादन विश्लेषण आदि में पर्याप्त धन व्यय करतीं और व्यक्तियों का श्रम लगातीं तो ये विद्याए उभर आतीं।

ग्रामीण व परम्परागत शिल्पियों को लकडी लोहा चमडा बाँस सोना चाँदी ताँबा काँसा आदि विविध धातु मणिमाणिक्य हीरे जवाहर तथा रत्न लाख रेशम ऊन सूत और मिट्टी से सम्बन्धित भिन्न भिन्न कौशलो का ज्ञान और सामर्थ्य है ही। किसानों और ग्वालों चरवाहों आदि को गाय-बैल भैंस-बकरी ऊँट भेड घोड़े आदि से सम्बन्धित विस्तृत ज्ञान है। सूअर कुत्ते खरगोश आदि के बारे में विशेषज्ञता से सम्पन्न परिवार भी परम्परागत समाजो मे है। तैराकी नौकाचालन तीरन्दाजी खेल व्यायाम नट-कौशल बाजीगरी आदि विद्याओं में समर्थ व निपुण व्यक्तियों की समाज में कमी नहीं यह भी हमें विदित ही है। चूस कर तथा अन्य तरीकों से विष उतारना टूटी हड्डी को हरताल आदि जडी बूटियों से जोड देना तथा जड़ी बूटियों औषधियो के विस्तृत प्रयोग की विद्या हमारे यहा रही है। अब इन विद्याओं की पिछले १०-१२ वर्षों से कुछ चर्चा होने लगी है। आग पर चलने की विद्या के प्रति इधर कुतूहल बढा है। ये सभी विद्याए समादरणीय हैं। इनके लिए बृहत् भारतीय समाज को पर्याप्त साधनस्रोत सुलभ रहने देना चाहिए। ये साधनस्रोत स्थानीय स्वायत्त इकाइयों के नियत्रण में रहने देना चाहिए। राष्ट्रीय या प्रादेशिक केन्द्र के नाम पर ये स्रोत छीनने नहीं चाहिए न इन पर मुट्ठी भर लोगों का नियत्रण होना चाहिए। केन्द्रीकृत नियत्रण से इन विद्याओं का विनाश ही होता है।

विद्या के इन विस्तृत विराट रूपों के प्रति सम्मान का अभाव और अवहेलना का भाव रखने के कारण हमारे अभिजनों और शासकवर्ग में विद्याबुद्धि का ह्रास हुआ है अविद्या और भ्रान्ति बढी है। अब इन विद्या रूपों का महत्त्व समझकर इनका समादर करना चाहिए। तथा इनको पर्याप्त साधनस्रोत उपलब्ध रहने देना चाहिए। इनकी उपेक्षा से राष्ट्रीय विद्या शक्ति का ही ह्रास होता है।

हमारी अध्यात्म (परा) विद्या के ग्रथों तथा धर्मग्रथों का भी गहराई से व्यापक

अध्ययन आवश्यक है। इन पर फिर से विवेक बुद्धि से विचार कर इनकी व्याख्या करनी होगी। इस विषय मे किसी एक या कुछ प्राचीन विद्वानों के मत ही अन्तिम वचन' नहीं हैं। उनकी पुनर्व्याख्या आवश्यक है। पश्चिमी लोग तो इस विषय में मुख्य अधिकारी हो ही कैसे सकते हैं। जिस प्रकार हम पश्चिम के बारे में कितना भी जानें पर पश्चिम के बारे में हमारा मत निर्णायक और अन्तिम कभी नहीं माना जा सकता उसी प्रकार कितना भी बड़ा या प्रसिद्ध विदेशी विद्वान हो वह भारत के बारे में अन्तिम अधिकारी नहीं माना जा सकता।

अपने शास्त्रों धर्मग्रन्थों अध्यात्म-साधना-ग्रन्थों एव पद्धतियों तथा सास्कृतिक आदर्शों और व्यवस्थाओं का हमें विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर उनके बारे में फिर से सोचना होगा और आवश्यक व्यवस्थाए करनी होंगी। विद्या के ये सभी रूप हमारे राष्ट्रीय ज्ञान के विविध अग हैं। ज्ञान विहीन तो सस्कृति हो ही नहीं सकती। इनके ज्ञान को जीवत एव व्यवस्थित तथा गतिवान रखना प्रमुख राजनैतिक लक्ष्य और कर्तव्य है। इनसे भिन्न कोई राजनीति वस्तुत राजनीति नहीं है। सभ्यता के विविध विद्यारूपों तथा कर्म रूपों को व्यवस्थित रखने तथा प्राणवान प्रवाहमय रखने के अतिरिक्त और कुछ राजनैतिक कार्य हो ही क्या सकता है।

स्पष्ट है यह राजनीति किसी एक केन्द्रीय कैडर' या समूह के द्वारा हो पानी असम्भव है और ऐसा प्रयास अपने ही राजनैतिक आदर्शो के विरुद्ध भी होगा। विविध स्वायत्त इकाइयों वाले किन्तु परस्पर गहरी एकात्मता से सबद्ध राष्ट्रीय समाज द्वारा ही ऐसी राजनीति सम्भव है। दल तथा अन्य सस्थाए इस समाज के एक सामान्य अग के रूप में हो ही सकते हैं। उसमें दलों का स्थान रहे या वह भूमिका अन्य रूप वाली प्रतिनिधि सस्थाओं को सौंपी जाय यह निर्णय राष्ट्रीय समाजों द्वारा होता रहेगा। सस्थाओं के रूप तो बदलते ही रहते हैं और फिर अनन्तरूपता तो हमारी जीवनदृष्टि का मान्य तत्त्व है।

अपने राजनीतितत्र (पोलिटी) के पुनर्गठन की प्रक्रिया में हमें समाज की विविध इकाइयों के आज के सम्बन्ध बदलने होंगे तथा अपनी मान्यताए भी विवेक की कसौटी पर कसते रहनी होंगी। जिस प्रकार अभिजनों में बृहत् समाज से अपने सम्बन्ध की मान्यता विकृत हुई है वैसी ही कई अन्य मान्यतायें भी विकृत हुई हैं। परम्परागत मान्यताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्तिया बढी हैं तथा समझ गलत हुई है। भ्रान्ति को मिटाना होगा तथा समझ को सही करना होगा।

भारत में नर-नारी के बीच परस्पर आदर का जो सम्बन्ध रहा है वह भी

पराजय के दौर में बहुत बिगड़ा है। एक तो नर और नारी का ससार अलग होता गया। पुरुष नये सस्कारों नयी सस्कृति के प्रभाव में आते गये। स्त्रियाँ परपरागत सस्कारों को जीवित रखे रहीं। इससे दोनों के मानसिक-बौद्धिक जगत में अन्तर बढ़ता गया। वैसे जब दो भिन्न और बहुत कुछ परस्पर विपरीत सभ्यताओं का मिश्रण होता है तो यह समस्या प्राय आती है। विश्व के अनेक समाजों में यह स्थिति आती रही है। फिर जब दोनों का बोधजगत फिर से एक हो जाता है तो फिर सम्बन्ध स्वस्थ और सामजस्यपूर्ण हो जाते हैं। पश्चिमीकृत वर्ग में जो आधुनिक शिक्षा और सस्कारों को आत्मसात कर चुके परिवार हैं उनमें नरनारी का बोध जगत एक सा होने लगा है और इसीलिए उस तरह की तकलीफें वहा नहीं होतीं। व्यापक समाज में नर-नारी के बोध जगत का यह आपसी अन्तर बढ़ता ही गया है। इससे स्त्रियों के कष्ट तो बढ़े ही हैं पुरुषों के भी कष्ट बढ़े हैं। सर्वाधिक चिन्ता की बात यह है कि घरों में भी नरनारी के मध्य बौद्धिक वैचारिक-भावात्मक सवाद समाप्त हो चला है। बहुत सीमित बातचीत होती है। बौद्धिक-मानसिक साझेदारी जो सम्बन्ध का वास्तविक आधार है समाप्त है।

अपने विद्या सस्कारों से कट जाने के कारण पुरानी अनेक मान्यताए बिलकुल गलत समझी जाने लगी हैं। शास्त्रों में अधिकाशत जहा पुत्र की प्रशसा है वहा सन्तति से ही तात्पर्य है। उसमें पुत्री की प्रशसा आ जाती है। परम्परा से भारत में पुत्रियों के प्रति भावना कम नहीं रही है बराबर ही रही है। समाज के बिखराव के दौर में गलतफहमियाँ बढ़ीं और भ्रान्तिया फैलीं। पुत्र का अर्थ केवल 'पुत्र' समझा जाने लगा। इसी अवधि में दहेज भी एक रोग के रूप में फैलने लगा। दहेज का यह विकृत स्वरूप नई चीज है। अग्रेजी राज के समय में ही फैला है। यह ऐतिहासिक तथ्य है। १७५० के ब्रिटिश कथनों के अनुसार तो भारतवासी अग्रजों को कुछ तिरस्कार से ही देखते थे क्योंकि ब्रिटेन के बड़े परिवारों में दहेज की प्रथा काफी प्रचलित थी।

अब तो पढ़ेलिखे वर्ग में एक नयी प्रवृत्ति उभरी है। गर्भस्थ शिशु लड़का है या लड़की इसका गर्भपरीक्षण होने लगा है। लड़की होने पर उससे छुट्टी पा ली जाती है। इससे अधिक राक्षसी काम कुछ भी नहीं हो सकता। यह राक्षसी वृत्ति स्वय समाज को खा जायेगी। इसका प्रचड प्रतिरोध अत्यावश्यक है।

विविध परम्परा समूहों के मध्य बहुत हीनता आ गई है। उनका आपसी सम्बन्ध बिगड़ा है। विदेशी विद्वानों की व्याख्याए ही हमारे शिक्षातत्र में आप्तवचन मानी जाती हैं जिससे जाति तथा अन्य समुदायों के प्रति बोध विकृत हुआ है।

आधुनिक दास्यभाव वाली मान्यताओं के प्रचार से सामाजिक कलह तीव्रतर

होता जाता है। वास्तविक विद्या और ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञानविस्तार ही इन समस्याओं का समाधान है। जातियों के मध्य आपसी कटुता इतिहास के अज्ञान का फल है। जातिया समाज की स्वाभाविक इकाई रही हैं और यदि अब उस इकाई का स्वरूप भिन्न होता है तो उसका विचारविमर्श और निर्णय सामाजिक बुद्धि सामाजिक विमर्श एव सामाजिक सवाद से ही हो सकता है। नवप्रबुद्ध वर्ग के अज्ञान को बृहद् समाज दिव्य ज्ञान के रूप में ग्रहण कर ले और अपनी बुद्धि तथा विवेक को तज दे यह सम्भव नहीं है।

समाज और राजनीति का रूप और तन्त्र क्या होगा 'मॉडल' क्या होगा यह निर्णय व्यापक भारतीय बुद्धि से ही होगा। पश्चिमीकृत समुदाय इसमें चिन्ता न करे न इससे डरे। बृहत् भारतीय समाज में अधिक आत्मविश्वास आने की आवश्यकता तो है ही। आरम्भ में जो भी बनेगा उसमें कमिया तो होंगी ही। फिर अनुभव और विचार से वह बदलता जायेगा। किन्तु मॉडल' परम्परा का ही होगा। और कोई रास्ता भी नहीं है। न कभी होता ही है।

जब व्यापक समाज अपना अश प्राप्त कर स्वतन्त्र ढग से काम करेगा तब उसमें अपव्यय आदि भी होगा ही। पश्चिमीकृत वर्ग को अपना अपव्यय दिख नहीं पाता। बृहद् समाज से यह बहुत मितव्ययिता की अपेक्षा करता है।

भारतीय दृष्टि के अनुरूप हर क्षेत्र में सयुक्त सघ का समुच्चय का सबके प्रतिनिधित्व का ढाचा ही उभरेगा। मुख्यत स्वायत्त इकाइयों के महासघ या महासागर जैसी स्थिति होगी जिनमें एक अन्तर्निहित एकता का बोध होगा। उसे ही बिखराव या असगठन मान बैठने का डर छोड़ना होगा।

हमारे अभिजनों और शक्तिशाली जनों द्वारा पश्चिम का विमूढ अनुकरण एक पीड़ाप्रद दुर्घटना है। अविवेक और विमूढ़ता की यही स्थिति समाप्त करनी होगी तथा अपने भविष्य के लक्ष्य व दिशा के बारे मे राष्ट्रीय बुद्धि से निर्णय लेना होगा। अनिर्णय अज्ञान और आत्मविरोध की स्थिति किसी भी स्वाधीन समाज को शोभा नहीं देती और इस स्थिति में स्वाधीनता अधिक दिन टिक भी नहीं पाया करती।

अत यह भटकाव त्यागना होगा। प्रमाद एव अविवेक को विदाई देनी होगी। आन्तरिक हीनता दूर करनी होगी। अपने इतिहास का अपनी परम्परा का स्मरण करना होगा बोध प्राप्त करना होगा तथा आत्मबल एव इच्छा को जगाना होगा। वही सार्वभौम और सनातन उत्कर्षपथ है सस्कृतिपथ है ऋजु पथ है। उसी पथ को अपनाना होगा।

विभाग ३

स्वदेशी और भारतीयता

१ स्वदेशी और भारतीयता

१

स्वदेशी की पुनर्प्रतिष्ठा के द्वारा भारत वर्ष फिर से सबल-सशक्त तेजस्वी राष्ट्र बन कर समकालीन विश्व मे स्वधर्म को निभाये यह आकाक्षा देश के अधिकाश लोगों की है ऐसा मैं मानता हूँ। यद्यपि पिछले ५२-५४ बरसों में हम जिस रास्ते पर चले वह तो हमें स्वदेशी से दूर ही ले गया। ऐसी स्थिति मे स्वदेशी शील व्यवहार और स्वधर्म की पुन प्रतिष्ठा कैसे सम्भव होगी यह विचारणीय है।

स्वदेशी और भारतीयता की प्रतिष्ठा के लिये जहाँ प्रबल भावना का महत्त्व है वहीं उसकी प्रतिष्ठा आज कैसे सम्भव है इसकी समझ और उसे प्रतिष्ठित कर सकने की शक्ति की भी साधना आवश्यक है।

२

स्वदेशी अत्यन्त प्राचीन अवधारणा है। शायद जब से धरती पर जीवन है तभी से स्वदेशी का भाव और व्यवहार भी है। शायद स्वदेशी ही जीवों के व्यवहार की सहज प्रवृत्ति है। सभी मनुष्य समाज तथा सभी प्राणी समाज सहज ही स्वदेशी व्यवहार करते हैं। क्योंकि जैसी कि महात्मा गाधी ने १४ फरवरी १९१६ को मद्रास में ईसाई मिशनरियों के एक सम्मेलन में दिए गए अपने भाषण में स्वदेशी की परिभाषा की थी 'स्वदेशी वह भावना है जिससे कि हम आसपास के परिवेश से ही अपनी अधिकतम आवश्यकतायें पूरी करते हैं और उनसे ही अधिकाधिक व्यवहार सम्बन्ध रखते हैं तथा स्वय को उनका सहज अभिन्न अग समझते हैं न कि दूरस्थ लोगों और वस्तुओं से स्वयं को जोड़ने लगते हैं। स्वदेशी की यह भावना जब होगी तब हम अपने पूर्वजों के धर्म को ही आगे बढ़ायेंगे न कि किसी अन्य धर्म को अपनाने लगेंगे। अपने धर्म में जो वास्तविक कमी आ जाएगी उसे सुधारेंगे। राजनीति में हम स्वदेशी सस्थाओं का ही उपयोग करेंगे और उनकी कोई सुस्पष्ट कमिया होंगी तो उन्हें दूर करेंगे। आर्थिक क्षेत्र में हम आसपास

के लोगो तथा स्वदेशी परम्परा और कौशल द्वारा उत्पादित वस्तुओ का ही उपयोग करेंगे और उन्हें ही सक्षम तथा श्रेष्ठ बनायेंगे।

महात्मा गाधी द्वारा की गई स्वदेशी की इस परिभाषा को शायद आज और अधिक स्पष्ट करना पड़े या शायद उसे कुछ परिवर्तित या परिमार्जित और परिष्कृत करना पड़े। जो भी हो इस पर गहरे विचारपूर्वक निश्चय करने की आवश्यकता है।

स्वदेशी की भावना का उपयोग १७ वीं १८ वीं शती ई में इग्लैंड में भी किया गया। तब अग्रेज व्यापारी बड़े व्यापारिक लाभ के लिए भारतीय वस्त्रों को इग्लैंड तथा यूरोप में ले जा रहे थे और वहाँ के बाजारो में भारतीय वस्त्र छा- से गये थे। इग्लैंड के बुनकरों और ऊनी तथा सन से बने वस्त्र उद्योग के अन्य शिल्पियों ने इसका विरोध किया और अपने द्वारा स्वदेशी वस्त्रो का ही धधा किए जाने पर बल दिया और दबाव डाला।

भारत में १९०५ ई में स्वदेशी का एक सशक्त आन्दोलन उभरा जो बगाल के विभाजन के विरोध में उठा था। इस स्वदेशी आन्दोलन की प्रमुख प्रेरणा स्वामी विवेकानन्द थे और इसके सर्वाधिक सक्रिय नेताओं में थे श्री अरविन्द घोष।

फिर कर्मवीर महात्मा गाधी जब जनवरी १९१५ से भारतीय सार्वजनिक जीवन में आये तब से स्वदेशी के भाव और विचार में पुनः वेग आया। लगभग तीस पैंतीस बरस तक स्वदशी भारतीयों का मन्त्र बना रहा और स्वदेशी स्वराज तथा स्वधर्म की प्रतिष्ठा भारत के राष्ट्रीय जीवन का लक्ष्य - सा दिखने लगा।

आज यदि उस स्वदेशी के भाव और विचार को फिर जाग्रत करना सगठित करना और प्रबल बना कर राष्ट्रीय जीवन व्यवहार का उसे स्वभाव बनाना है तो स्वदेशी की परिभाषा और स्वरूप पर फिर से और अधिक विचार विमर्श तथा गहराई से मनन करना होगा। समकालीन विश्व सन्दर्भों को जानते तथा स्मरण रखते हुए उसकी सम्भावनायें देखनी समझनी तथा जाँचनी परखनी होंगी और उन शक्तियों को भी पहचानना होगा जो कि स्वदेशी और भारतीयता की पुनर्प्रतिष्ठा कर सकेंगी या उसका माध्यम और वाहन बनेंगी।

३

बाहर से कहाँ से क्या क्या और कहाँ तक सीखना और लेना है यह विचार भी स्वदेशी का अभिन्न अंग है।

यों तो ससार भर में लोग एक दूसरे से सीखते हैं। ऐसा कहा जाता है कि यूरोप

ने छपाई की कला और प्रयोग विधि नाविकों का कम्पास और उसकी प्रयोगविधि बारूद बनाने का शास्त्र और विधि तथा कागज बनाने की विधि १३ वीं १४ वीं शताब्दी में चीन से सीखी। इसी तरह चेचक का टीका ब्रिटेन में पहली बार १७२० में तुर्की से सीख कर लाया गया। बाद में भारत से उन्होंने चेचक के टीके की अधिक परिष्कृत और उन्नत विधि सीखी। आधुनिक शल्य चिकित्सा का उद्गम भी भारतीय चिकित्सा विज्ञान से जुड़ा है। १७९०-१८१० के बीच विशेषत पुणे क्षेत्र से अग्रेजो व यूरोपीयों ने यह विज्ञान सीखा।

बढ़िया लोहा और इस्पात बनाने की तकनीक भारत में प्रचलित थी। सम्भवत उससे ब्रिटेन के लोहे और इस्पात उद्योग ने १९ वीं शताब्दी में बहुत कुछ सीखा।

जापान ने २० वीं शती ई के आरम्भ में पश्चिमी व्यवस्थाओं तकनीको और उत्पादनों का अपने ढग से गहराई से निरीक्षण किया। ऐसा कहा जाता है कि १९१० के लगभग जापान ने अमेरिका से बीस रेलवे इजन खरीदे। इसमें से शायद एक का ही उपयोग कर जापान ने उसकी विधि को सीख समझ लिया। बताते हैं कि जब ये २० इजन जापान पहुँचे तो जापानियों ने उसमें से एक इजन को पूरी तरह से खोल डाला और उसके सब कलपुर्जे भलीभाति देख-समझ तथा जाँच लिये और फिर उसी रूप में उन्हें जोड़ दिया।

अत एक बार हम यदि किसी तकनीक को जो हमें अपने अनुकूल लगती है आत्मसात् कर लेते हैं और उसे अपने अनुकूल ढाल लेते हैं तो फिर कोई भी बाहरी तकनीक शायद स्वदेशी - सी ही बन जाती है। क्या स्वदेशी की धारणा मे ऐसा कुछ समायोजन करने योग्य है ? जो भी हो इस विषय में बहुत गहराई से और बड़ी सावधानी से छानबीन कर ही किसी निश्चय पर पहुँचना होगा।

परन्तु *हमारी समकालीन प्रवृत्तियाँ तो स्वदेशी और भारतीयताकी दिशा से* विपरीत दिशा में ही चलती दिख रही हैं। यह तो है कि दिल्ली में बाबा खड़कसिंह मार्ग में हमें देश में बनी कलाकृतियों व देसी शिल्प वाली वस्तुयें मिल सकती हैं। बम्बई मद्रास कोलकत्ता जैसे शहरों में भी ऐसी जगहें हैं।

लेकिन भारत के ५ लाख से भी अधिक गावों कस्बों और जिला केन्द्रों के बाजारो में तो सामान्य देसी वस्तुएँ भी दुर्लभ ही हो चली हैं। भारतीय सामग्री से बनीं भारतीय शिल्पियों द्वारा भारतीय शिल्प परम्परा और भारतीय रूपाकृतियों में बनी वस्तुएँ तो हमें प्राय अपने बाजारों में नहीं दिखतीं।

आटे की हाथ चक्की तेल पिराई की घानी गन्ना पिराई की हाथ वाली मशीनें

मिट्टी के घड़े और पत्तल-दोने आदि तो अब हमारे सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठा की चीजें नहीं रहे और उनका धीरे धीरे लोप ही हो चला है। १९२० से चली खादी भी अब कम ही हो रही है। उसके लिए कपास मिलना ही कठिन हो गया है। वैसे ही जैसे कि पिछले १००-१५० वर्षों में लोहा बनाने वालों के लिए लोहा बनाने के पत्थर (आग जलाने वाला कोयला) का मिलना असम्भव कर दिया गया था। गोवंश के प्रति श्रद्धा भाव तो अब भी है परन्तु गोवंश निरन्तर घट रहा है और उस पर हमारे सभ्य समाज में कोई बेचैनी या चिन्ता नहीं दिखाई पड़ती। हमारे भोजन की सामग्री भी आज अधिकतर तो गैर भारतीय विज्ञान प्रौद्योगिकी और उत्पादन प्रक्रिया के द्वारा ही तैयार की जाती है। यहाँ तक कि छाछ तक खातेपीते घरों में भी दुर्लभ हो चली है।

तब ऐसी स्थिति में स्वदेशी की भावना का प्रसार किन शक्तियों के बल पर होगा यह प्रश्न स्वाभाविक है। यह विचार भी अपेक्षित है कि क्या स्वदेशी में यह ह्रास अथवा स्वदेशी की यह उपेक्षा अंग्रेजी काल से शुरु हुई या पहले से ?

दिखता तो यह है कि अंग्रेजों से पराजय से पहले से भी हमारे शासक समूहों और सम्पन्न जनों में स्वदेशी का महत्व स्थान स्थान पर घटने लगा था। दिल्ली और बहमनी के इस्लामी शासकों के आधिपत्य वाले भारतीय क्षेत्रों के असर से सन् १६०० के आसपास मराठा शासकों और मराठा कुलीनतंत्र में फारसी भाषा और वेशभूषा तथा तौर-तरीकों का प्रभाव छा गया सा दिखता है। परन्तु फिर शिवाजी के समय मराठा क्षेत्र में स्वदेशी का उभार आ गया था ऐसा कहा जाता है। उस समय वहाँ फारसी मुहावरों आदि का प्रयोग भी घटा। लगता है कि १५५० से १७५० के बीच देश के विभिन्न हिस्सों में भी इसी तरह स्वदेशी में गिराव व उभार आता रहा।

१८०० तक हम ब्रिटेन से हार चुके थे और ब्रिटेन का कब्जा पूरे भारत पर होता चला गया। इस हार से ब्रिटेन और युरोप के प्रति अधीनता का भाव भी बढ़ा। १८३० में ब्रिटिश गवर्नर जनरल बेंटिक इस पर संतोष व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'सम्पन्न और प्रतिष्ठित भारतीय अब पश्चिमी शिष्टाचार तथा व्यवहार की विधियाँ अपनाने लगे हैं और भिक्षुकों संन्यासियों और ब्राह्मणों को दान देना छोड़ रहे हैं। अब उसकी जगह वह धन यूरोपीयों का आडम्बरपूर्ण ढंग से मनोरंजन करने में लगाया जाने लगा है।

सम्भवतः बेंटिक का निरीक्षण ठीक ही था। सम्पन्न भारतीय जन तब तक स्वदेशी तौर तरीके छोड़ने लगे थे। यह सब क्रमशः बढ़ता गया।

उदाहरण के लिये कुछ वर्ष पहले मैं हरिद्वार के किसी पंडे की पुरानी बही पलट रहा था। मैंने देखा कि उसमें अच्छी सुस्पष्ट अंग्रेजी में चार-पाँच पंक्तियाँ लिखी हैं

और १८९५ की वह प्रविष्टि मेरे ही कस्बे के किसी निवासी की थी। बाकी बही हिन्दी में थी।

१८९१ से १९३१ के बीच के भारतीय जनगणना के अंग्रेजों द्वारा तैयार आँकडे उपलब्ध हैं। उनमें शिक्षा के बारे में चार मुख्य श्रेणियाँ है -

१) कुल निरक्षर २) कुल साक्षर ३) देसी भाषा में साक्षर और ४) अंग्रेजी में साक्षर। जनगणना के ये आँकडे दिखाते हैं कि तब भारत के बहुत से नगरों व क्षेत्रों में देसी भाषाओं में साक्षरता का जो प्रतिशत है वह अंग्रेजी में साक्षरता के प्रतिशत से केवल चार गुना है। बाकी क्षेत्रों में यह प्रतिशत आठ गुना के लगभग है। यह तो होगा कि देसी भाषाओं में किसी को साक्षर इन जनगणनाओं में तभी लिखा गया हो जब वह स्कूली प्रमाणपत्र दिखाए इसीलिए शायद देसी भाषाओं में साक्षरता का प्रतिशत अंग्रेजी साक्षरता से केवल चौगुना या आठ गुना दिखता है। भारतीय भाषाओं की पढाई में कमी का मुख्य कारण पूरे देश मे चलाई जा रही ब्रिटिश नीति ही होगी।

प्रत्येक भाषा एक विशद अर्थपरम्परा दर्शनपरम्परा और विचार परम्परा की अभिव्यक्ति होती है। जब हम विदेशी भाषा को अपनाते हैं तो प्राय स्वय को और विश्व को व्यक्ति समाज सस्थाओं मान्यताओं तथा लक्ष्यों रुचियों आदर्शों आदि को भी हम उसी भाषा परम्परा और सस्कृति परम्परा से देखने लगते हैं।

इसलिए न केवल उत्पादन और वस्तु निर्माण के क्षेत्र में स्वदेशी का ह्रास हमारे यहाँ हुआ है वरन दर्शन समाज चिन्तन विधिविधान राजनीतिशास्त्र आत्मचिन्तन शिक्षा आर्थिकचिन्तन आदि सभी क्षेत्रों में हम यूरोपीय बुद्धि से शासित हो चले हैं। हमारी जो आत्मछवि है वह भी यूरोपीय 'इन्डोलॉजी' के विद्वानों द्वारा गढी गई छवि है जो उन्होंने अपने ही प्रयोजन से रची थी। हमारे जैसे पढे लिखे आज अपने स्वभाव धर्म धर्मशास्त्र शिल्पशास्त्र आदि को भी यूरोप द्वारा सिखाई गई आत्मछवि के माध्यम से ही देखने लगे हैं।

४

तो क्या स्वदेशी के सस्कार बचे ही नहीं हैं? ऐसा नहीं है। निजी जीवन में और अपनों के प्रति व्यवहार मे हमारे साधारण जन की स्वदेशी भावना झलकती है। सम्भवत इसे ही भारतीयता कहा जा सकता है।

भारतीयता हमारे निजी जीवन व्यवहार और हमारी धार्मिक व्यवस्थाओं में अभी भी चाहे कुछ प्राणहीन रूप में ही सही जीवित है। व्रतउपवास आदि में क्या खाएँ क्या

न खाएँ पूजाअर्चना में किन वस्तुओं का किस तरह के पेड़ोंपत्तियों और फूलों का प्रयोग करें किनका न करें विवाह आदि में कैसी व्यवस्था तथा व्यवहार करें इन सबका विचार करते समय हमारे जो सस्कार उभर आते है और व्यवहार में व्यक्त होते हैं वे हमारे भीतर भारतीयता के सस्कारों की गहराई के सूचक हैं। भोजन वस्त्र औषधि आदि में ऐसे भारतीय सस्कार अभी पचास वर्ष पूर्व तक व्यापक और प्रबल दिखते थे। आज वे बहुत कम हो चले हैं। तो इससे शायद यह निष्कर्ष भी निकल सकता है कि सुव्यवस्थित प्रयास से वे सस्कार फिर से प्रबल बनाए जा सकते हैं।

भारतीयता पर अधिक कुछ कहने का अधिकारी तो मैं नहीं हूँ किन्तु दक्षिणपूर्वी एशियाई देशों में कुछ विशेष लक्षण और प्रवृत्तियाँ हैं। उन्हें हम भारतीयता के रूप में पहचान सकते हैं। पश्चिम से उनका स्पष्ट भेद भी हम भलीभाति देख सकते हैं। पश्चिम से मेरा आशय यूरोप रूस और अमरीकी महाद्वीप तथा अरब क्षेत्रों से है।

भारतीयता के तथा भारत से जुड़े क्षेत्रों के मुख्य लक्षण समान हैं। एक तो चराचर की पवित्रता का सिद्धात है। सत्य और ऋत का अग है। इसमें यह दृष्टि है कि जीवमात्र पवित्र है और आदरयोग्य है। इनमें व्यावहारिक स्तर पर कुछ घट-बढ या तारतम्य तो रहता है। पर जीवन का कोई भी रूप जीवन के दूसरे रूपों से इस अर्थ में श्रेष्ठ नहीं है कि एक रूप की रक्षा के लिए दूसरे रूपों को समाप्त कर दिया जाय या पूर्ण अधीनता की दशा में ले आया जाय।

इसके साथ ही हमारे यहाँ जीवन को केवल मनुष्य में या कि कुछ प्राणियों में ही सीमित कर के नहीं देखा गया। बल्कि उसे सर्वत्र देखा गया है। समग्र सत्ता ही जीवन है। नदी पर्वत सागर वृक्षवनस्पति सभी समग्र सत्ता के महत्वपूर्ण अग हैं। मनुष्य की अपनी सत्ता इसी समग्र सत्ता का अभिन्न अश है। मनुष्य अन्य जीवसत्ताओं से कुछ नितान्त भिन्न या विरोधी या श्रेष्ठतम जीव नहीं है।

मनुष्य की श्रेष्ठता का जहाँ कहीं महाभारत आदि मे बखान है भी तो वह इसी अर्थ में कि मनुष्य को इस समग्र सत्ता का सम्मान करना है इसके प्रति अपना कर्तव्य निभाना है उनका सरक्षण नहीं बल्कि उनके प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह उनसे मनुष्य जो लेता है उसे लौटाना ऋणशोधन करना है। यह कहीं नहीं कहा गया है कि मनुष्य श्रेष्ठ है इसलिए शेष सब उसके भोगसाधन हैं और वह उन सबके चाहे जैसे उपयोग का अधिकारी है। मनुष्य का गौरव सबके प्रति मैत्री प्रेम तथा करुणा की अभिव्यक्ति और अनुभूति में ही है हमारी चाक्रवर्त्य की धारणा तक में दूसरों के समक्ष वीरता के प्रदर्शन का भाव ही प्रधान है उनके गौरव को समाप्त करने का नहीं। दूसरों के अपने

सस्कृतिरूपों को समाप्त करना तो चाक्रवर्त्य मे भी निहित नहीं है। हमारी जीवन दृष्टि और हमारी सामाजिक सास्कृतिक राजनैतिक सस्थायें सभी का मुख्य आधार परस्परता स्वभाव में प्रतिष्ठित स्वधर्म स्वाधीनता तथा अभय रहा है। इसलिए हमारे यहाँ पूरे सामाजिक सगठन में ऐसी ही व्यवस्थायें थीं।

भारत में भूमि हो जल हो या वन उस पर वहाँ के निवासियों का ही स्वामित्व रहा है। वनों पर वन के जानवरों घूमन्तू जातियों तथा वनवासियों का अधिकार भारत में परम्परा से मान्य रहा है। हमारे सामाजिक सगठन में यह व्यवस्था रही कि एक कुल-समूह या जाति समूह के एक ही तरह के प्राकृतिक साधन स्रोतों से विशेष सम्बन्ध रहे। किसी का भूमि से किसी का पशुओं से किसी का पक्षियों से किसी का वनों से किसी का जल से। फिर इनमें भी व्यवस्थित वर्गीकरण रहे। व्यापक सामाजिक विधि निषेध थे जो सर्वमान्य थे। हर समूह की सामाजिक उपभोग की मर्यादायें निश्चित थीं। वनों के बारे में भी यह बात लागू होती है। चराई का समय शिकार का समय वनस्पतियों जड़ीबूटियों को तोड़ने या प्राप्त करने का समय सदा प्राकृतिक व्यवस्था ऋतुचक्र और प्रकृति के अपने नियमों की समझ द्वारा निर्धारित मर्यादायें थीं। पवित्र माने जाने वाले पेड़ों और प्राणियों का शिकार भी निषिद्ध था। उनके जलाशय पवित्र घोषित होते थे। उनमें न शिकार सम्भव था न ही उनका कोई निजी उपयोग। हर गाव के पास अपना सार्वजनिक चारागाह और अपना सामुदायिक वनक्षेत्र या वृक्षक्षेत्र होता था। इन सामाजिक विधि निषेधों का उल्लघन राज्यतत्र के लिए असम्भव था। ऐसा राज्यतत्र अधम मानकर बहिष्कृत और समाप्त कर दिया जाता था। मर्यादा का महत्व और व्यापक धर्म से अनुशासित स्वधर्म की प्रतिष्ठा भारतीय जीवन दृष्टि का केन्द्रीय भाव है। राजधर्म लोकधर्म का एक अग है। लोक और लोकधर्म व्यापक है। राज्य लोक से अनुशासित होता है। मनुष्य समेत सभी जीव सत्तायें लोक से ही अनुशासित रहती हैं। लोक का अर्थ मानव समाज मात्र नहीं है। वस्तुत 'मैनकाइन्ड' के अर्थ में मानव समाज भारतीय जीवन दृष्टि की कभी धारणा ही नहीं रहा। क्योंकि प्रत्येक मानव समूह अपने जनपद और अपने परिवेश का ही सहज तथा अभिन्न अग है। इसलिए किसी भी जनपद के मनुष्य का उस जनपद के अन्य जीवों पशुपक्षियों जलचर-थलचर-नभचर सभी जीव जन्तुओं वृक्षवनस्पतियों आकाश नदी पर्वत तालाब-झरने कुए बावड़ी फल फूल अनाज आदि से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध और आत्मीयता है बनिस्बत बहुत दूरवर्ती किसी अन्य मानव समूह से। इस प्रकार मध्य देश के निवासी मनुष्यों के सहज आत्मीय तो मध्य देश के ही जीवजन्तु तथा चराचर जगत हैं न कि सयुक्त राज्य

अमरीका या और किसी अतिदूरवर्ती देश के मनुष्य। कुछ अश तक तो यह रिश्ता आज के ससार के दूसरे देशों में भी व्यावहारिक रूप में चलता ही है। चराचर जीवों और जीवन से आत्मीयता के ये सस्कार अभी भी व्यवहार में प्रकट होते हैं। चीटियों कौवों कुत्तो के लिए अश निकालने बन्दरों को चने आदि खिलाने गायों की सेवा करने साड आदि को मुक्त छोड़ने मछलियों को खिलाने नदियों के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव तालाब कुए बावड़ियाँ बनवाने को पुण्य कर्म मानना चिड़ियों तथा विविध पक्षियो को चुगने के लिए दाने डालना शेर मगर जैसे भयकर माने जाने वाले जीवों के लिए भी गहरी आत्मीयता तथा परस्परता का भाव रखना और उनसे किसी अतिरजित भय को न पालना साप को दूध पिलाना शादीबियाह में नदियों-बावड़ियों कुओ आदि को पूजना और न्यौतना-ये सब इसी भारतीय जीवन दृष्टि के अभिन्न अवयव हैं।

इस भारतीयता में मनुष्य कोई सृष्टि का केन्द्र नहीं है सहज अश है। समस्त जीवनरूप पूज्य हैं पवित्र हैं और जीवन रूपों की विविधता सहज है रक्षणीय है तथा सम्मान योग्य है। मानवीय स्वभाव का वैविध्य जीवों की ही तरह सहज और अनिवार्य है। जनपदों और कुलों के आधार पर मनुष्यों की समाजिक पहचान ही स्वाभाविक है और अपने परिवेश से अभिन्नता की अनुभूति भी उतनी ही स्वाभाविक है। इसी कारण हमारे यहाँ ऐसी कोई परम्परा कभी नहीं रही कि मनुष्य किसी एक मानव जाति के केन्द्रीय सगठन से अनुशासित और सचालित होने योग्य है और मानव का सगठन हमारे यहाँ इस दृष्टि से तो कभी सोचा ही नहीं गया कि प्रकृति और प्राणिमात्र उसके शत्रु हैं और उनसे उसे अपनी रक्षा करनी है।

५

इसके विपरीत यूरोप की ईसाईयत की विश्वदृष्टि में मनुष्य ही केन्द्रीय सत्ता है। इस्लाम की दृष्टि भी ऐसी ही है। वही समस्त सृष्टि का केन्द्र है। यह सम्पूर्ण जगत जीवजन्तु और वृक्ष वनस्पतियाँ उसी के भोग के लिये और उसी की सेवा में हैं। और मनुष्य सम्पूर्ण प्रकृति का तथा समस्त जीवों का स्वामी और नियन्त्रक है तथा वह नियन्त्रक बने यही यहाँ स्वाभाविक माना गया है। यूरोपीय सम्पर्क जब विश्व के भिन्न भिन्न देशों से बढ़ा और जब वह धीरे धीरे स्वय को प्रकृति का स्वामी मानने लगा तब से ही आधुनिक पश्चिमी मनुष्य ने मानव जाति की धारणा रची है। मानव जाति की यह धारणा मनुष्य को प्रकृति के विरुद्ध तथा अन्य सभी जीवों के विरुद्ध रखकर देखती है। इस धारणा को मान लेने के बाद यही स्वाभाविक है कि भिन्न भिन्न कसौटियों के आधार

पर मानवजाति की विविध श्रेणियाँ बनाई जायें और इस श्रेणीक्रम में जो लोग ऊँचे सोपान पर हैं उन्हें शेष सबके जीवन को नियन्त्रित करने का स्वाभाविक अधिकार मान्य किया जाये। इसे ही साकार करने के लिये दर्शन साहित्य विज्ञान और प्रौद्योगिकी की ऐसी दिशाएँ और ऐसे सस्थान विकसित किये गये और उन्हें ऐसी दिशाओं में नियोजित किया गया तथा उनकी ऐसी व्याख्याएँ की गईं जिससे कि इस मानव-केन्द्रित दृष्टि की निर्विवाद प्रतिष्ठा हो और अन्तत विकसित उच्च श्रेणी के यूरोपीय या पश्चिमी मनुष्य के लक्ष्यों की रक्षा और पोषण हो सके।

यूरोपीय सफलता के चकाचौंध के कारण भारतीय शासकसमूहों भारतीय राज्य की सेवा के इच्छुक प्रतिस्पर्धी समूहों तथा सम्पन्न लोगों में भी यूरोपीय मानवकेन्द्रित मान्यताएँ आज एक सीमा तक पैठ चुकी हैं। हम इस रास्ते पर कहाँ तक कितना और कैसे चल पायेंगे यह पूरी तरह सोचने समझने का समय निकाले बिना ये मान्यताएँ अपना ली गई हैं। इसी के प्रभाव से भय की और दूसरे को शत्रुभाव से देखने की मनोवृत्तियाँ भी इन समूहो में बढती जा रही हैं। हमारा पुलिसबल भी समाज को भयभीत रखकर ही व्यवस्था की रक्षा कर पाना सम्भव समझने लगा है। इसलिए अपने सस्कारों के कारण वह अपने समाज का प्रत्यक्ष दमनउत्पीडन शायद उतना अधिक नहीं भी कर पाता हो परन्तु उसके किस्से हवा में फैलें और समाज के सर्वसाधारण लोग उससे आतकित भयभीत रहें उसका यह प्रयास प्राय दिखता है। राज्यसस्था की दडशक्ति का लक्ष्य केवल दुष्टता को त्रास देना होता है जिससे समाज में स्वधर्मपालन के लिए अभय और आत्मीयता का परिवेश सुदृढ बने। समाज में भय का सचार करने वाला या उसमें फूट और भेदभाव बढाने वाला राज्य तो हमारे यहाँ कुराज ही कहा गया है। आततायी राज्य को तो समाज आत्मीय भाव से देख नहीं पायेगा। इसलिए भारतीय राज्य के सेवकों तथा सेवा के इच्छुक प्रतिस्पर्धियो को भी राज्य और समाज के रिश्तों में परस्पर भय अलगाव अविश्वास तथा विरोध भाव को बढावा देना त्यागना चाहिए।

हमे कौन सी दिशा अपनानी है यह निश्चित तो हमें ही करना पड़ेगा। प्रमाद और सवेदनशून्यता की अभी की स्थिति तो हमें आत्मक्षय और आत्मविलोप की ओर ही ले जाएगी।

दुविधाग्रस्त मनोदशा मे रहकर तो हम कहीं भी नहीं पहुच पायेंगे। गहराई से आत्मस्मरण और मनन करना होगा और स्पष्ट निर्णय लेना होगा। अगर स्वय को यूरोपीय साचे में ही ढालने का हमारा मन बन चुका है तो उसी दिशा में सुनियोजत प्रयास करें। हो सकता है हम उसमें सफल होकर सशक्त और उन्नत समाज तथा राष्ट्र

सकें।

लेकिन यह अधिक सम्भव है कि इस दिशा में बढ़ने पर पश्चिम और शेष विश्व हमारी निर्भरता आज जैसी ही बनी रहे या बढ़ती जाये तथा हम पश्चिमी जीवन शैली एक तीसरे दर्जे के अनुयायी ही बने रहें। अपने देश के ८० से ९० प्रतिशत लोगों के । हम अभी की तरह उदासीन बने रहें और उन सब लोगों को घुटघुटकर जीने के ो विवश करने वाली अपनी वर्तमान जीवनशैली जारी रखें। इससे उनकी घुटन और ती चली जायेगी तथा हम अपनी लालसाओं में एवं अपने अपेक्षाकृत छोटे पड़ोसियों ाथ अन्तहीन झगड़ों में और भी अधिक उलझते चले जायेंगे।

परन्तु मुझे तो आशा यही है कि भारत के करोड़ों युवा जन ऐसी हीनता ीनता तथा उस पर निर्भरता को उचित नहीं मानते और यह जीवन शैली उन्हें प्रिय है। और इसलिए मेरा विश्वास है कि वे भारत की पुनर्रचना के बारे में विचार न तथा मनन प्रारम्भ करेंगे जिससे कि भारतीय जीवन की समृद्धि विशेषता और स्त जीवन जगत के प्रति आत्मीयता तथा सामजस्यपूर्ण सम्बन्धों वाली जीवनशैली : से साकार हो सके और नये नये रूपों में अभिव्यक्त हो सके।

६

भारत की प्राचीनता और विविधता भारत के लिये एक बड़ा वरदान ही रही। न के बहाव में यह अवश्य हुआ होगा कि इस विविधता से भारत में कुछ उलझनें भी हुई होंगी। कुछ विविधताएँ तो काल के प्रभाव से मृतप्राय ही रह गयी होंगी अवशेषों ी।

भारतीय साहित्य मात्रा में तो विराट है ही इसकी रचना की कालावधि भी ीर्घ है। विश्व के और साहित्यों की तरह इसमें भी नयी नयी कृतियाँ विचार ास्थाएँ जुड़ती रहीं और समय समय पर पहले कही गयी बातें नये नये ढगों से कही ी रहीं। इस प्रकार के बदलाव सभी क्षेत्रों में मिलेंगे चाहे वह ज्योतिषशास्त्र हो या ायुर्वेद या राज्य और अर्थनीति या रामायण ही। महर्षि वाल्मीकि के रामायण के बाद ार्कों रामायण रचे गये और उन सबमें अलग अलग तरह से पुराना कुछ कुछ बदलता । और नया कुछ कुछ जुड़ता गया। भारत की सनातनता एक तरह से भारतीय प्रवाह ही उसके ग्रन्थों व स्थिरता में नहीं।

इस्लाम के शासकों ने जहाँ जहाँ उनका कुछ प्रभुत्व रहा वहाँ भारतीय ातनता को बांधकर देखने की कोशिश की जैसा कि विदेशियों को अपरिचित

स्थानों विचारों व सामग्रियों के साथ अपनी समझ के लिये करना पड़ता है। उन्होंने भारतीयता को जहा तहा बाधना चाहा उसमें स्थिरता और शिथिलता लानी चाही। लेकिन उनसे यह अधिक नहीं हो सका।

यूरोप और विशेषत अग्रेज इस दिशा मे और कार्य में अधिक तीव्रता से आगे बढे। अग्रेज पूरे भारत को राजनीतिक और आर्थिक तौर पर अपने अधीनस्थ भी कर पाये। अपने राज्य को पक्का करने के लिये उन्होंने भारतीय ग्रन्थों मे से वह सब छाट छाटकर इकट्ठा किया जो उनके काम का था और उसे ही ऊपर उछाला। उसी में से एक तरह का भारतीय इतिहास रचा गया और भारत की व्याख्याए बनाई गई। ऐसे इतिहासों और व्याख्याओ में सब असत्य या काल्पनिक ही हो ऐसी बात नहीं है। लेकिन यह सब जो चित्रण किया गया यह सन्दर्भ रहित हो गया। इसमें भारतीय चित आत्मा और मानसिकता एकदम किनारे रख दी गई। यह चित्रण जो अग्रेजों द्वारा किया गया इससे १८६०-१८७० के बाद भारत में एक बड़ी टूटन हुई। धीरे धीरे सन्दर्भ अदृश्य जैसे हो गया और टूटा एव बिखरा भारत हमारे पास रह गया।

स्वराज आने का लक्ष्य यह था कि हम भारत के अपने सन्दर्भ को फिर से पायें तथा बिखरे और रौंदे हुए भारतीयता के लाखों टुकड़ों को भारत के सन्दर्भ से फिर से जोड़ें। यह काम हम अभी तक नहीं कर पाये हैं। शायद अभी तक हमें यह सूझा भी नहीं है कि इस तरह का सन्दर्भ खोजना और बिखरे टुकड़ों को इससे जोड़ना भी हमारा काम है।

पुराने अवशेषों के अलावा अब हमारे यहाँ बहुत ही अधिक पिछले २००-४०० बरस में बनीं व्यवस्थाओं कानूनों तन्त्रों बीमार मानसिकताओं का ढेर का ढेर कबाड़ इकट्ठा हो गया है। हमें जीवित रहना है तो इन सब को हटाकर कहीं जलाना व दफनाना ही पड़ेगा। तब ही ठीक तरह से सन्दर्भ मिलेगा और जैसा भी जुड़ाव हम आज चाहते हैं वह बन सकेगा।

२ जारी है गाधी पर नेहरू के हमले

क्या अग्रजों ने भारत के बौद्धिक वर्ग के पश्चिमीकरण को अपने सुरक्षा कवच की तरह इस्तेमाल किया और जब सत्ता देने की बारी भी आई तो सत्ता उन हाथों में सौंपी गई जो पश्चिमपरस्त थे और जिनको अपने देश के विकास के लिए स्वदेशी मॉडल बनाने में कोई रुचि नहीं थी ? क्या सत्ता हस्तान्तरण को भी औजार के रूप में इस्तेमाल किया गया और नेहरू इस काम में अंग्रेजों के नजदीकी मददगार बने पर सत्ता और सत्ता को सभाल सकने की जो बुनियादी चतुराई उनमें थी उसने उनको बेनकाब नहीं होने दिया ?

अंग्रेजों ने भारत के बौद्धिक वर्ग का राजनैतिक इस्तेमाल किया। १९२० में 'सेक्रेटरी आफ स्टेट्स'ने वाइसराय को लिखा कि जमींदार वर्ग पर बचाव का भरोसा मत रखो। इस काम में बौद्धिक वर्ग को लगाओ। बौद्धिक वर्ग से यह काम १८ वीं सदी के उत्तरार्ध से ही लिया गया होगा। इस देश की आम जनता का जो रुख था उसे देखते हुए अंग्रेज इस देश में अपने निजाम की सुरक्षा के बारे में कभी आश्वस्त नहीं थे। मेटकाफ भारत में इग्लैंड से अंग्रेजों को बड़ी सख्या में लाने की सिफारिश करते हुए यह कहता है कि 'यह ठीक है कि यहा के लोग स्वामिभक्त हैं। पर भरोसे में मत रहिए। हवा का रुख बदला तो स्वामिभक्ति का चोला उतर जाएगा और हमारी खैर नहीं' । १९२० के बाद तो ऐसा हुआ कि जितने राजनैतिक वर्ग और धाराएं थीं अंग्रेजों की कोशिश उन सबमें अंग्रेजियत माननेवाले लोगों को दाखिल करने और जमाने की रही जिनको जरूरत पड़ने पर पीटा भी जा सके पर जिनके साथ बैठकर चाय भी पी जा सके। आखिर मोतीलाल नेहरू गवर्नर के साथ टेनिस खेलते थे न। कुछ उसी तरह का मामला। जरा १९४२ में भी देख लीजिए। अगस्त १९४२ में ब्रिटेन सराकर के एक मत्री को रुझवेल्ट समझाते हैं कि सत्ता हस्तातरण का वक्त तो ब्रिटेन को ही तय करना है। पर उसे यह भी तय करना चाहिए कि आज़ादी के बाद भारत पश्चिम के असर में रहे। चीन के विदेश मत्री ने भारत को एशियाई राष्ट्र कहा है। रुझवेल्ट उसे चुनौती देते हैं कि नहीं भारत के लोग यूरोपीय समुदाय के हैं। हमारे कजिन (चचेरे भाई) हैं। यह

रिश्तेदारी हमारे पढेलिखे लोगों के मन में बहुत दिनों से समाई थी। जिनकी सख्या लगातार बढी थी। नीरद चौधरी वगैरह यही चचेरे भाई हैं न।

लेकिन स्वदेशी और भारतीयता को प्रतिष्ठित करने में महात्मा गाधी कहा मात खा गए ? उनसे चूक कहा हुई ? इसके बारे में मुझे लगता है कि १८ वीं शती के उत्तरार्ध में देश के अग्रेजीदा पाच फीसदी लोगों ने जो राजनीति शुरु की उसके केन्द्र में सत्ता में भागीदारी की माग तो थी ही साथ ही अग्रेज और अग्रेजियत को अपने से बड़ा माना गया था। मान लिया गया था कि हम लोग तो हजार साल से ज्यादा समय से गुलाम ही है। दूसरों पर निर्भर ही रहे हैं। भागीदारी की माग में कमतर होने की स्वीकृति भी थी। इस वर्ग को महात्मा गाधी ने १९२० में राजनीति की मुख्यधारा से बाहर कर दिया। कुछ अडरग्राउन्ड हो गए। कुछ सार्वजनिक जीवन से हट गए। कुछ उदारतावादी हो गए। पर ज्यादातर लोग काग्रेस में ही बने रहे। गाधी की शक्ति और चमक से वे डरे। कुछ ने यह भी सोचा होगा कि चलो कुछ देर तक चलने दो यह चमक। कुछ में भक्तिभाव भी पैदा हुआ होगा कि शायद गाधी ही सही सोच रहे हो। १९४० तक वे किनारे पर रहे। पर उसके बाद उन्होंने गाधी को अलग ठेल दिया। इन तबकों के सामने गाधी की मजबूरी का जरा अदाज लगाइए। सुशीला नायर की डायरी में है। १९४३ में गाधी जी जेल गए तो कहते थे कि जल्दी ही छूट कर बाहर जाऊगा। फिर वे कहने लगे कि नहीं अब सात साल जेल में ही रहूगा। १९४४ में तो वे बाहर जाने के लिए तैयार नहीं थे। आगे का फैसला लेने में उन्हें दो तीन महीने लग गए। गाधी की ऐसी प्रोग्रामिंग भी थी। वे ऐसा करते थे। और अहमदनगर जेल में नेहरू उनके लिये क्या सोच रहे थे। यही कि अब एक और उपवास हो जायेगा। नेहरू के दिमाग में पिछले को देख देख कर यही बना था गाधी का मॉडल। १९४३-४४ में अपने अलग थलग पड़ जाने का आभास केवल गाधी को ही नहीं रहा दूसरों को भी हो गया। अग्रेजीदाँ लोग गाधी को उनकी महानता से तो बेदखल नहीं कर सके पर वास्तविक अर्थों में गाधी की बेदखली हो गई।

इसी के साथ स्वदेशी की कड़ी भी शक्तिहीन हो गई। पर क्यों ? महात्मा गाधी का अपना खड़ा किया काग्रेस का ढाचा भी इस काम के लिए माकूल नहीं था। १९२० में काग्रेस के ढाचे का ड्राफ्ट गाधीजी ने खुद बनाया। ढाचा यह है कि नीचे मेंमरशिप है। फिर जिला फिर प्रदेश फिर अखिल भारतीय समिति है। फिर अध्यक्ष है। अन्तिम फैसले की ताकत ऊपर है। उसी में नीचे वालों की राय भी मान ली जाती है। देश नीचे है और उसकी लीडरशिप ऊपर। सरकार का मॉडल ही काग्रेस का भी मॉडल हो गया। वही कलेक्टर कमिश्नर गवर्नर मॉडल। गाधीजी को शायद लगा कि अंग्रेजों से लड़ाई

उनके जैसा केंद्रित मॉडल बनाकर ही लडी जा सकती है। तो वैसा ही मॉडल बना तो उसे चलाने के लिए वैसे ही लोग भी आगे रखने थे।

इस युद्ध में नेहरू पश्चिमी मॉडल के प्रतीक हैं। गाधी भी उन्हें ऐसा ही मानते हैं। पर यह भी मानते हैं कि नेहरू को मोड़ा जा सकता है। वे सोचते हैं कि पश्चिमी मॉडल को हराने के लिए इस नेहरू को जीतना है। इसे जीत लिया तो फिर सबको जीत लिया। उन्हें अपनी जीत का भरोसा भी होता है। पर यह जीत वे हासिल नहीं कर पाते। गाधी अतरराष्ट्रीय ताकतों के दखल को भी ठीक से समझ नहीं पाए। यह मान कर चलते रहे कि उनकी कोई दखलदाजी नहीं होगी और सब कुछ आपस में सुलटने के लिए जस का तस स्थिर रहेगा। पर १९४४ के बाद तो इन ताकतों ने गाधीजी को हाशिए पर ठेल दिया।

नेहरू? १९४५ मे तो नेहरू ने साफ कहा कि गाधी के स्वदेशी राग को उन्होंने कभी विचार के लायक भी नहीं माना। काग्रेस ने भी स्वदेशी की बातचीत १९३७ में ही छोड़ दी थी। नेहरू तब तक बड़े नेता बन चुके थे। गाधी मूल में सभ्यता का सघर्ष तो लड़ रहे थे पर उनका मूल प्रश्न पहले आजादी हासिल करने का था। उन्हें समझौते करके चलना पड़ता था। उनकी मजबूरी उस सेनापति की मजबूरी थी जो अपनी सेना की टूट नहीं चाहता। वे सोचते थे कि युद्ध में सबको साथ लेकर चलो। आजादी मिली तो फिर सब कुछ सभल जाएगा। उन्होंने पश्चिमपरस्त लोगों और उनके नेता नेहरू को सन्तुलित करने के लिए कोशिशें कम नहीं की। गाधी सेवा सघ बनाया गया। सघ पश्चिमपरस्त तबके के खिलाफ दबाव बनाने का साधन था। १९३८ में नेहरू जब विदेश जा रहे थे तो उन्होने सघ के खिलाफ हमले का बिगुल बजाया कि सघ राजनीति कर रहा है। फिर सुभाष चंद्र बोस लाबी मजबूत बनी तो महात्मा गाधी को १९४० में सघ को सस्पेंड करना पड़ा। विसर्जित उन्होंने नहीं किया। कहा कि फिर जिंदा करने की जरूरत पड़ सकती है। गाधी पर सबसे बड़ा दबाव तो टैगोर का पड़ता था। सुभाष नेशनल प्लानिंग कमेटी गठित करना और नेहरू को उसका अध्यक्ष बनाना चाहते थे। तो मेघनाद साहा जुटे। टैगोर से बात हुई। टैगोर ने गाधी को मनाया। नेहरू अध्यक्ष बने। नतीजतन विकास का पश्चिमी मॉडल काग्रेस के नीति मॉडल मे हावी हो गया। और गाधीजी ने नेहरू को अपना उत्तराधिकारी ही घोषित किया। १९४० की काग्रेस कार्यसमिति में गांधी बोस वगैरह के खिलाफ अपने लोगों की एकतरफा जीत चाहते हैं। नेहरू समर्थक एक तिहाई हैं। तो समर्थन लेने के लिए बातचीत में कह देते हैं कि मेरा उत्तराधिकार तो नेहरू को ही मिलेगा। असली खेल बाद में हुआ। कुछ दिनों बाद

अखबारवाले गाधी के पास पहुचते हैं। और उनसे सवाल पूछ पूछ कर मुह से निकली बात को कबूलवाया जाता है। बात रिकार्ड में ला दी जाती है। नेहरू इसे गाठ में बाध लेते हैं। और जब वक्त पड़ता है तब यह बात १९४४ में उछालकर सामने ला दी जाती है।

महात्मा गाधी जब ताकत में रहते हैं उनके सामने सब कुछ दबा रहता है। पर ताकत कम होते ही मामला उलट जाता है। १९२७ में नेहरू विदेश प्रवास से लौटकर आते हैं तो उनको आगे कर आजादी का प्रस्ताव पास किया जाता है। आजाद रूप से। इसमें गाधीजी के स्वदेशी स्वराज आदि के सन्दर्भो में उन्होंने १९२० से जो कुछ किया उसको चुनौती है। गाधी चौंकते हैं। और फिर जनवरी १९२८ में एक-दूसरे को चिट्ठिया लिखी जाती हैं। गाधी आर पार लड़ाई की चुनौती दे डालते हैं। आजादी बनाम स्वराज का लेख लिखते हैं। जानते हैं कि आज कौन लड़ेगा। सबक सिखा रहे हैं। और मामला वहीं खत्म कर देते हैं। पर दूसरे ? दो टूक शब्दों में कहू तो नेहरू और उनके लोगों ने पिछले ५० साल में गाधी के साथ चौतरफा बदला लिया है। उन पर गिन गिन कर अनगिनत हमले किए हैं। उन्हे अपमानित करने की कोई चेष्टा नहीं छोड़ी है। गाधी से उनका युद्ध अभी भी जारी है।

३ हिंदुस्तानी तासीर दफनाने के लिए अंग्रेजो ने बनवाई कांग्रेस

स्वदेशी और स्वदेश को जानने-समझने के लिए क्या पिछली दो तीन सदियों के इतिहास को उघाड़ने की फौरी जरूरत है कि जिस आपरेशन के बिना असलियत का पता नहीं लग पाएगा ? लेकिन अगर इस काम से एक से एक मूर्धन्य महापुरूषों का मानभजन हो गया तो ?

मुझे इस काम से कोई एतराज नही हैं। बल्कि देश में बेहतर मानवीय सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्ध कायम करने के लिए मै इसे जरूरी मानता हू। कहाँ थी कुचाल ? लॉर्ड विलियम १८३० में कहता है कि हमारे प्रयासों का भारतीयों पर असर तो पड़ा है। लोगों ने अंग्रेजियत अपनाई है। उनकी परम्पराए टूटी हैं। अंग्रेजीदाँ वर्ग में पैसा यूरोपीय तर्ज के मनोरजनों पर बहाया जा रहा है। १८७० आते-आते यह अंग्रेजीदाँ वर्ग इस बात के लिए अकुलाने लगा कि जब हम अंग्रेजों की तरह रहना जानते हैं उन्हीं की तरह अंग्रेजी बोल लेते हैं राजनीति और दर्शन वगैरह पर भी बात कर लेते हैं तो फिर वे हमें थोड़ा बराबरी का दर्जा क्यों नहीं देते ? रिचर्ड टेंपुल १८८०-८२ में कहता है कि इन लोगों को कानून वगैरह पढ़ा देने से ऐसा हुआ है। थोड़े होशियार हुए हैं तो होशियारी दिखा रहे हैं और बराबरी की माग करते हैं। अब इन्हें जरा विज्ञान की झलक दिखानी चाहिये जिससे ये लोग हमारी बौद्धिक दासता स्वीकार करें।

भारतीय तासीर का अंग्रेजी शासन और अंग्रेजियत के खिलाफ मौलिक विरोध के रूप में १८७० के आसपास उत्तर प्रदेश और बिहार में गोहत्या के खिलाफ जबरदस्त जन आदोलन उठ खड़ा हुआ। तत्कालीन वाइसराय के मुताबिक इसकी ताकत १८५७ के स्वाधीनता सग्राम जैसी ही थी। रानी उसे चिट्ठी भेज कर सावधान रहने को कहती है कि आन्दोलन हमारे ही खिलाफ है मुसलमानों के खिलाफ नहीं। गोमांस हम अंग्रेज ही ज्यादा खाते हैं। देश के दूसरे हिस्सों में भी इस तरह के दूसरे देशी विरोध उठ रहे थे। इसे मोड़ कर नष्ट करने और अंग्रेजीदाँ वर्ग में उठी बराबरी की माग को संतोष देने के लिए ही कांग्रेस का जन्म हुआ। स्वदेशी को खत्म करना तो कांग्रेस के गर्भनाल में है।

अंग्रेजों की श्रेष्ठता मान लेने से बौद्धिक वर्ग ने अंग्रेजों का काम ही आसान किया। अंग्रेजों ने अपने राज्य को वैधता देने के सिलसिले में भारत के हजार साल से गुलाम रहने का रट्टा खड़ा कर दिया। कब था भारत हजार साल से गुलाम ? गजनवी वगैरह तो लूट के लिए आए। मुसलमानो का कब्जा तो १२०० से शुरू हुआ। लेकिन कितनी दूर ? उत्तर भारत के कुछ हिस्सों में। वह भी पाकेट्स में। ऐसा नहीं था कि साग-बथुए की तरह यहा के लोग दब गए थे और मुस्लिम निजाम चारों ओर पसर गया था। मुसलमानों को अंग्रेजों की तरह जिला-जिला पहुँच कर प्रशासन की सीढी बनाना नहीं आता था। इसे अन्त तक देखें। हिन्दुस्तान कोई मुसलमानों के हाथ से अंग्रेजों के हाथ में नहीं गया। हिन्दुओं के हाथ से गया। मराठों ने दिया। बगाल के राजाओं ने दिया। सिराजुद्दौला वगैरह की तो नाम मात्र की सत्ता थी।

फिर अंग्रेजों ने हमें अपने नजदीकी समयबोध से भी काट दिया। जैसे हिन्दुस्तान में २०००-३००० साल की अवधि में सामाजिक सरचनाओं का समय के मुताबिक कोई विकास ही नहीं हुआ। पुराणों उपनिषदो और संहिताओं से उदाहरण ढूढ कर हमारी अठारहवीं सदी का फैसला होने लगा। भारतीय धर्मशास्त्रों के कमाल कमाल के विशेषज्ञ निकल आये। यह साबित किया जाने लगा कि मनुस्मृति में वर्णित वर्णाश्रम धर्म ही समाज का मानक है। मनु उभार कर सामने लाए गए तो दलित आशकाए भी उभरीं। अठारहवीं सदी के हिन्दुस्तानी समाज की क्या कोई तस्वीर नहीं थी ? थी। शोध साबित करते हैं कि उन बुरे दिनों में भी हिन्दुस्तानी मजदूर की मजदूरी इग्लैंड में दी जा रही मजदूरी से ज्यादा थी। बगाल पर पूरे कब्जे के बाद १७६५ में सवाल उठा कि किसानों से मालगुजारी क्या ली जाए ? ये किसान तब छठा-आठवा हिस्सा ही देते थे। जबकि इग्लेंड में तब के बटाईदार जमींदार को आधा हिस्सा देते थे। अब अंग्रेजों को वसूलना आधा है तो फिर उसके लिए चलो पुराने टैक्स्ट (Text) ढूढो। तो अलाउद्दीन खिलजी के जमाने में पहुचते है। वहा सवाल-जवाब में सलाहकार खिलजी को बता रहे हैं कि गैरमुसलमान से राजा उत्पादन का ५० फीसदी हिस्सा भी कर में ले ले तो गलत नहीं है। खिलजी का यह सवाल जवाब प्रमाण बना दिया गया। यह कह कर के कि जब अच्छा प्रशासन होता है तो लोग ५० फीसदी कर देते हैं। अब तक छठा-आठवा हिस्सा इसलिए देते थे कि अब तक अच्छा प्रशासन नहीं था। १७८०-८५ में बनारस में एक ब्राह्मण पर हत्या का इलजाम लगा। यह कुछ धरने वगैरह में हुई मौत थी। काफी पहले से हमारे यहाँ इस प्रकार के दण्डों के लिये काला टीका करके देश निकाला देने का रिवाज था। मामला कोलकता जाता है। विलियम जोन्स के पास। वे भारतीय धर्मशास्त्र

राजनीति में होनी थी। हम लोग तो उसकी आर्थिक अभिव्यक्ति करने में ही लग गए और मारे गए। स्वदेशी यानी यही कुछ कपड़ा वपड़ा। कुछ तेल वेल खाने-वाने की बातें। इसमे तत्र व्यवस्था मर्यादा पर प्राथमिकताओं पर बात नहीं थी। स्वदेशी तो प्राथमिकताए होती हैं। वे तय होंगी तो उन्हें कैसे पूरा करना है इसका रास्ता बनेगा। इस काम के लिए कुछ उधार भी लेना होता तो लेकर उसे अपने में मिला लेते। उसका स्वदेशीकरण हो जाता। १९०५ की स्वदेशी की बगाल वाली विचारधारा सतह पर ही थी। नीचे धसती तो बहस होती। अरविन्द जैसे लोग कुछ सैद्धातिक व्याख्या कर गए। बस।

स्वदेशी क्या हो इसे तय करने के लिए राज्य और समाज कैसे व्यवस्थित हो इस सवाल पर जाना होगा। इनके आपसी रिश्ते क्या हों और इनके मूलाधार क्या हों यह तय करना होगा। अपने यहाँ जातिया ही नहीं रही उनमें अदरूनी विभाजन भी जोर का रहा है। १९११ की जनगणना में पजाब में १७०० खानों में जाट बटे हैं। ये शायद १७०० कुल रहे होंगे। यह कुल प्राथमिक इकाई रही है। परिवार नहीं कुल। फैसले इसी इकाई में होते हैं। ये कुल इकट्ठा होते हैं तो कुछ सघीय सा सयोजक ढाचा बनता है। इस ढाचे में फैसलों की प्रक्रिया कई स्तरों में रही होगी। १००-२००-५०० साल पहले के कुलों की रक्षा विदेशी नीति आदि की जरूरत दूसरी थी। आज हमारी जरूरतें दूसरी हैं। पर इस बात की सोच नहीं बढ़ी। यह मानने की आदत से कि भारत ऐसा रहा है और ऐसा ही रहेगा। फिर छोटे समूह में रहने की आदत थी। ढेर सारे कुल थे। गुरु की चेलहाई के आधार पर। पथ के आधार पर। पर यह नहीं कि इन कुलों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है। आपस में शादी ब्याह और खानपान नहीं हैं पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे एकदूसरे को छोटा मानते हैं। भिन्नता वहीं तक है। बाकी सब बातों के लिए लोग इकट्ठे होते होंगे और व्यवस्था का सचालन होता होगा।

फिर यह विभाजन कि लड़ने का काम केवल क्षत्रिय का है आदि आदि तो यह बात मूल में नहीं रही होगी। मूल में तो लड़ाई के तत्र में तमाम लोग लगे थे। इस बात को समझकर ही ढाचा बनाया जाना था। १८०० का भारत ऐसा ही था और वही अपने हिसाब की सरचनाए बनाई गई होतीं तो दो चार पीढ़ियों में स्वदेशीकरण हो जाता। यह आज भी हो सकता है। पर यह समझकर कि ज्यादातर लोगों का वास्ता भौतिक उन्नति से ही है। उन्हें वह चाहिए। और यह दिया जा सकता है। दूसरे यह कि दुश्मन तो कभी खत्म होते नहीं। इनसे बचाव तो करना ही होगा। इस खाके में भौतिक ढाचे (उत्पादन

वगैरह) की बात चलती तो कहीं पहुचा जा सकता था। स्वदेशी का वह जो ठेठ अर्थ है कि इलाके में बना सामान ही खरीदना चाहिए आदि आदि वह गिर जाता है। राजनीति और व्यवस्था उससे नहीं मिलती तो उसे सहारा नहीं मिलता। १९१५-१६ में महात्मा गाधी ने यह जो चरखे की बात पकडी तो गुजरात में उस वक्त चर्खो का चलन नहीं रहा होगा। पर पजाब वगैरह में तो १८५०-६० तक चर्खा खूब चलता ही था। भारतीय कपडा उद्योग पर जो शोध हुए हैं वे यह नहीं कहते कि आर्थिक चुनौती से कपड़ा उद्योग हारा। हारा वह राजनैतिक पराजय से। उसकी वजह से लगे शुल्क (कर) से।

आज का उदारीकरण यदि देश के विकास की सुविचारित रणनीति के तौर पर हो रहा हो पूरे मन से हो रहा हो तो इससे भी बेहतरी हो सकती है। १९५०-६० में जापान इस रास्ते चला तो ५ १० साल बडी खलबली रही। पर उन्होंने सैन्यीकरण भी किया। आज उसने कई मायनों में अमेरिका को पछाड रखा है। विश्व बाजार की प्रक्रिया पर उसने महारत हासिल कर ली। यह महारत हमारा इरादा हो तो इस नई आर्थिक नीति के भी फल निकल सकते हैं। पर हम लोगों ने अपने लोगों को रद्दी मान लिया है उसकी वजह से यह मानसिकता होगी इसका भरोसा नहीं होता।

नई आर्थिक नीति के खिलाफ उठने वाली आवाजें बज नहीं रहीं। कारण विरोधियों के पास मुकम्मिल सोच नहीं है। अपना मॉडल नहीं है। लोग बहुराष्ट्रीय कपनियों का विरोध कर रहे है । जैसे आजादी बचाओ आन्दोलन है। जार्ज फर्नांडीझ है चद्रशेखर हैं। तो ईस्ट इण्डिया कपनी क्या थी? बहुराष्ट्रीय ही थी न ' यूरोप और पश्चिम तो ऐसी कपनियों से ही चलता है। यही वहा का चलन है। क्या इसे नहीं समझना चाहिए? यदि चद्रशेखर जार्ज आदि-आदि के पास स्वदेशी की परिभाषा होती उसका मॉडल होता तो बहस हो जाती और लोग सोचते। पर वह नहीं होगा। इसलिए कि व्यवस्था और तत्र के स्वदेशीकरण की नहीं सोची गयी है। तब तो पहले प्राथमिकताए की जानी चाहिए। फिर कुछ उधार भी लेना होता तो लेकर ढाला जाता। स्थिति अपने हाथ में होगा तो उधार का भी स्वदेशीकरण हो जाएगा। अभी तो पश्चिम से हम सब कुछ पैकेज मे ले रहे हैं।

इस बात की अनदेखी किए हुए कि उधार में लाई जा रही तकनीक और सिद्धात की अपनी भी स्वायत्तता होती है। हमें तो अपनी जरूरत की चीजों से ही सरोकार रखना था। चौथे दशक की नेशनल प्लानिंग की उपसमिति की वर्धा बैठक में गाधी जी ने कहा

कि पहले उत्पादन का लक्ष्य तय किया जाए। फिर यह आपस में तय हो जाएगा कि कितना उत्पादन देशी तरीके से होना है और कितना औद्योगिक तरीके से। मामला बस इतना होगा कि संसाधन बाहर से नहीं आएंगे। दोनों क्षेत्र भीतर के ही संसाधन बरतेंगे। तो व्यवहार को मानक बनाए तो कहीं कोई दिक्कत नहीं है। पर नियंत्रण अपना होना चाहिए। अपना नियंत्रण खत्म हुआ तो न स्वायत्तता रहेगी न स्वावलम्बन।

५ आम आदमी की ताकत पहचानने से ही बनेगा स्वदेशी मॉडेल

गाधीजी खुद स्वदेशी का एक कच्चा सा मॉडल बना पाये थे। पश्चिमी रग में रगे नेहरू के लिए तो इस कच्चे मॉडल को आगे बढाने का सवाल नहीं था। इसलिए काग्रेस में नेहरू के शक्तिशाली होते ही गाधीजी का यह कच्चा मॉडल भी धराशायी हो गया।

देश न स्वदेशी मॉडल पर दृढ रह सका और न विदेशी मॉडल अपना सका। और उसके हाथ में भीख का कटोरा ही है। इसके पीछे क्या कोई और कारण है? आजादी के बाद जवाहलाल नेहरू और उन जैसे लोगों ने देश की आम जनता को फिर से उसी आत्महीनता की ओर ठेल दिया जिस ओर विदेशी शासन उन्हें पहले ही ठेल चुका था। लोगों को बार बार इस बात का अहसास कराया गया कि आप तो २०० साल पिछड़े हो। दरिद्र हो। कमजोर हो। बेकार हो। जो अच्छा है और अच्छा हुआ है वह तो पश्चिम में है। विदेशी शासन के दौरान देश को बचाए रखने के लिए अपने लोगों की तारीफ करने का तो सवाल ही नहीं रहा। नेहरू और उन जैसे लोग कभी इस बात के शुक्रगुजार नहीं रहे कि इन्हीं भूखे और दरिद्र लोगों ने अपनी हड्डियों को निचोड़ निचोड़ कर इस देश को बचाया है। इन्हीं की कुर्बानी के कारण गुलामी की जजीरों के बीच भी यह देश बचा रहा है।

इतना ही नहीं आजादी की लड़ाई में उमड़े जनसमुदाय को भी यह कह दिया गया कि जाइए आपका काम पूरा हुआ। जाकर अपनी खेती-किसानी करिए। देश हमारे ऊपर छोड़ दीजिए। देश हम सभाल लेंगे। इस बात की कोई भावना नहीं रही कि आप सबने मिल कर बड़ा काम किया। कुछ विकृतियाँ आई हैं। आइए, उन्हें हम और आप मिल कर दूर कर लें। लोगों को एहसास कराया गया कि न्याय तो दिल्ली मुम्बई कोलकाता चेन्नई लखनऊ पटना भोपाल से ही हो सकता है। देश सेंट स्टीफेंस में पढे लोग ही चला सकते हैं। आम हिन्दुस्तानी में वह माद्दा कहाँ। वह तो ड्राइग रूम में ठीक से फर्नीचर रखना भी नहीं जानता। देश बनाने में उसकी चली तो वह तो देश को बरबाद करके ही रख देगा। १९२० तक तो इस देश के आम आदमी को हीन कहा ही जा रहा था। नेहरू ने लोगों मे वह हीनता फिर से भर दी। उनका यह सबसे बड़ा

योगदान है कि उन्होंने लोगों के मन में यह बिठा दिया कि तुम दरिद्र हो। बेकार हो। नतीजा? गाँव मे पचायत भी बनेगी तो उसे यह सुपरवाइजर चाहिए जो सब कुछ सरकारी जुबान में बदल कर रख दे।

जब तक हम इस खोए हुए आत्मविश्वास को फिर से वापस नहीं लाते तब तक न देश स्वदेशी चल सकता है और न विदेशी। चीजों को देखने का पूरा नजरिया ही बदल गया है। आज बहुत से लोग यह कहने में सकोच नहीं करते कि हिन्दुस्तानी तो फेंकी हुई पालीथीन की थैली से भी नई थैली बना लेता है। यह कहने वालों की भी कमी नहीं है कि इसमें लगे लोग अच्छी तरह कमाई भी कर लेते हैं। पर वे यह नहीं देखते कि यह तो कगाली का ही आलम है। ऐसा काम कोई प्रेम से नहीं किया जा रहा है। ये भगार (कूड़ा-करकट) बीनने-बटोरने वाले कैसी जिंदगी जी रहे हैं यह भी आखों से ओझल कर दिया जाता है। हम यह भूल जाते हैं कि इससे जो चीज साबित होती है वह यह है कि हमारे लोगों में जीवट अदम्य है। आम लोगों को हिकारत से देखने का नजरिया कलेक्टरों ऊँचे वर्गों और राजनीतिकों में ही नहीं है सेवाग्राम और पवनार जैसी ऊंची जगहों में भी आए नवयुवकों को यही सिखाया जाता है कि गाव वालों से ज्यादा सम्पर्क न करो। ये अच्छे लोग नहीं हैं। जरूरी नहीं कि यह मानसिकता अग्रेजों की ही दी हुई हो। यह मानसिकता हमारी वर्णव्यवस्था और मनुवाद से भी निकली हुई हो सकती है। पर जब तक यह मानसिकता बरकरार है तब तक देश का आम आदमी खड़ा नहीं हो सकता। और जब तक वह नहीं खड़ा होता तब तक न तो स्वदेशी चल सकता है न विदेशी।

अपने को हीन देखने और अपनेपन को छोड़ने की यह बुराई क्रमश विकसित हुई है। दरअसल यह ५००-६०० साल पुरानी ही है। कमजोरी पहले भी रही होगी। पर जब तक अपने तरीके से काम चलता रहा आक्रमणकारी आते रहे और इसी व्यवस्था में जातियों आदि के खाने में खपते रहे मूल्यों पर कोई बड़ा आक्रमण नहीं हुआ तब तक शिथिलता सामने नहीं आई। मुसलमानों का प्रभावी राज्य तो १७०० के आसपास ही खत्म हो गया। इसके बाद तो राजे रजवाड़े जगह जगह खड़े हो गए। देश को पुनर्जीवित करने की कोशिशें भी हुईं। इस प्रकार की कोशिशें विजयनगर साम्राज्य ने कीं। मराठों ने भी कीं। चैतन्य जैसे लोगों ने कीं। पर समय नहीं मिला। १७४८ में तो यूरोप का बड़ा हमला ही देश पर हो गया। इस बीच १०० साल भी मिल गया होता तो भारत पश्चिम को उसी तरह समझ लेता जैसे जापान ने समझा। लोग बिलकुल ही सो नहीं रहे थ। १७५४-५५ में बंगाल के नवाब अलीवर्दी खा कहते हैं कि ये यूरोपियन कहते तो यह हैं

कि वे आपस में लड रहे हैं। पर कब्जा हमारी जमीन पर करते जा रहे हैं। और अंग्रेज तो इनमें सबसे खतरनाक हैं। तो हमारे लोगों में समझनेवालो की कमी नहीं थी पर उन्हें कुछ करने का वक्त नहीं मिल पाया।

अंग्रेजों ने राज्य मुसलमानों से नहीं छीना। राज उन्होंने इन हिन्दू राजे-रजवाड़ों से ही छीना। पर उन्हें मुसलमानो से राज छीना दिखा कर अपने शासन के लिए वैधता कायम करनी थी। राजनीति में मुसलमान कोण घुसाना था। इसलिए बार बार दिल्ली से राज लेने की बात कही गई। १७५६ के पहले फारसी बगाल की भाषा नहीं थी। कर वसूली में फारसी लिपि अंग्रेज लाए। मुस्लिम प्रतीको को दक्षिण में मुसलमान भी नहीं ले जा सके थे। अंग्रेजों ने इन प्रतीकों को दक्षिण में भी कायम कर दिया। सर थामस रो जहागीर के दरबार में आता है। और जहागीर उससे कहता है कि सूरत वगैरह से पश्चिम में व्यापार के लिए जाने वाले हमारे जहाजों की आप रक्षा कीजिए। तो दिल्ली की बादशाहत तो उसी दिन खत्म हो गई। ऐसा इसलिए किया गया कि जहागीर का भारत से लगाव नहीं था। तुम भी विदेशी और हम भी विदेशी। अकेले जहागीर ही नहीं ऐसे लोग और भी रहे हो सकते है। हमें समय मिलता तो हम भी सुधर जाते। १८५५ में जापान को समर्पण करने का अमेरिकी अल्टीमेटम मिलता है। समर्पण करना पड़ता है। १०-१५ साल वहा भी समाज में तूफान चलता है पर जापान पश्चिम के तरीके से सैन्यीकरण के रास्ते पर चलने का फैसला करता है। अपने लोगों को सीखने के लिए बाहर भेजता है। थोडे समय के लिए प्रशिक्षण देने को बाहर के लोग बुलाए जाते हैं। और आज कई मामलों में वह अमरीका से आगे है। जापान की जीत पर गाधीजी बहुत खुश होते हैं। हिंसा अहिंसा का सवाल नहीं उठाते। उसास भरकर यही कहते हैं कि पर हिन्दुस्तान में ऐसा नहीं हो सकता।

अंग्रेजों ने हमारी मानसिकता को पश्चिमीकरण की ओर सायास मोड़ा। मानसिकता बदलने का काम उन्होंने १००-१५० साल में किया। इसके लिए आधार भी हमारी पोथियों में ही जुटाए गए। हर पुराने समाज में हर तरह के विचार पड़े रहते हैं। जो हित के होते हैं वे उभर कर रहते हैं। बाकी कोने में पड़े रहते हैं। उन कोने में पड़े विचारों की पोथिया भी बनी हो सकती हैं। विदेशी शासन अपनी वैधता ढूंढने के सिलसिले में उस समाज के भीतर से ही अपने हित के मूल्य इस तरह से ढूंढता है कि वे विदेशी और थोपे हुए न लगें। इस कोशिश में उन्होंने मनु को हमारे समाज के मानक के तौर पर उठा कर सामने रख दिया। १७५० के पहले मनुस्मृति हमारे लिए कोई बड़ी बात नहीं थी। १७८४ में मनुस्मृति का पहली बार अंग्रेजी अनुवाद हुआ। १०-१२ और

भी ग्रथ छापे गए। १८१२ में सवाल उठा कि इस काम को आगे जारी रखना है क्या? तो लन्दन से हुक्म आया कि इसे ज्यादा करने की जरूरत नहीं है पर मनुस्मृति को रीप्रिंट किया जा सकता है। भारतीय समाज की परिभाषा के लिए मनुस्मृति उनके माकूल बैठती थी। जबकि अपना ढाचा दूसरा था। भारतीय समाज की वर्णव्यवस्था मनुस्मृति की वर्णव्यवस्था नहीं थी। पर अंग्रेजों ने १८ वीं सदी के अपने समाज की अवधारणाओं को हमारे समाज पर लाद दिया। हमारे गावों में आमदनी की विषमता एक और तीन के अनुपात से अधिक नहीं थी। अंग्रेजों ने जो समाज बनाया उसमें १८४० ५० के बाद कारीगरों आदि के रहने की गुजाइश गावो में बची ही नहीं। उनके अधिकारों में कटौती कर दी गई। आमदनी में एक और दस का फर्क हो गया। जमीनें छीन ली गईं। लोगों को दास बनाने की कोशिश हुई तो वे गावों से भागे। अब हमारे सर्वोदयी रोते हैं कि गावों से तेल की घानी गायब हो गई। जुलाहे गायब हो गए। चमड़े का काम करने वाले गायब हो गए। तो १०० साल से जब हमारी मानसिकता लोगों को गुलाम बनाने वाली हो गई और उसमें मनुस्मृति भिड़ा दी गई तो कारीगर गायब क्यों नहीं होंगे? स्वदेशी मॉडल तो तभी बन सकता है जब आर्थिक और सामाजिक बराबरी बने। इसके बगैर इस बात की कल्पना करना बेमानी है।

६ पश्चिमीकरण को मानने वाले आज भी दो फीसदी

स्वदेशी और पश्चिम की पूरी अवधारणा को समझने के लिए १८ वीं सदी के अंग्रेजी समाज को समझना जरूरी है । पश्चिम का विकास का मॉडल केन्द्रीकृत रहा है। अधिकार और धन के केन्द्रीकरण का। जिनके पास इनका केन्द्रीकरण रहा उन्हीं के पास ज्ञान और व्यापार का भी केन्द्रीकरण हुआ। उनके सामन्ती समाज के उन्हीं १० १२ प्रतिशत बडे लोगों की वहा के व्यापार में भी हिस्सेदारी रही। दुनिया भर से दौलत निचुड कर आई तो १७५० के आसपास वहा व्यापारी वर्ग का विस्तार हुआ। पर हुकूमत सामन्तशाही के हाथ मे ही रही। १८३० तक तो इग्लैंड में दसियों चुनाव क्षेत्र ऐसे थे जिनमें मतदाता १०-१२ से ज्यादा नहीं थे। ५००० से ज्यादा मतदाता तो किसी भी क्षेत्र में नहीं थे। चुनाव स्थानीय लार्ड्स की जेब में ही रहते। कुल मिलाकर पूरी राजनीति समाज और व्यापार उन अभिजात परिवारों के ही हाथ में था जो ५०० साल से स्थापित थे। अपने यहा ३०-४० साल के सर्वोदय के काम पर हरिवल्लभ पारीख जिस तरह कई चुनाव क्षेत्रों मे अपने लोगों को जिताकर लाते थे इसी तरह से अंग्रेजों के ये सामन्ती परिवार करते थे। तो इसी तरह जब ज्ञान का भी केन्द्रीकरण हो जाता है तो उसमे से लाइब्रेरी बनती होगी रिफरेंस कार्ड बनता होगा। ज्ञान का और इजाफा होता होगा। एक व्यवस्था बनती है। और उसमें से प्रयोगशालाए निकलती हैं।

इसी मानस ने मनु को हमारे समाज पर थोपा। पश्चिमीकरण की अवधारणा सिलसिलेवार उतारी गई। शुरू मे हजार में एक ने माना होगा। विद्वता और सत्ता से जुडे समाज ने इसे अगीकार करना शुरू किया। शुरू में सोचा होगा मानसिकता ले लें जीवन पद्धति छोड दें। पर मानसिकता के साथ जीवनपद्धति तो अपने आप उतरने लगती है। इसलिए यह ताज्जुब की बात नहीं कि हमारे समाज का एक बड़ा हिस्सा आज जीन्स और स्कर्ट पर जीने लगा है। इस प्रक्रिया में तो अभेद्य किले भी टूट जाते हैं। मारवाड़ियों की जैनियों की दक्षिण के ब्राह्मणों के वे तबके जिनके बारे में माना जाता था कि ये नहीं टूटेंगे उनकी भी जीवनपद्धति बदली है।

पर आज भी पश्चिमीकरण को मानने वालों की सख्या हमारे समाज में दो

भी ग्रथ छापे गए। १८१२ में सवाल उठा कि इस काम को आगे जारी रखना है क्या ? तो लन्दन से हुक्म आया कि इसे ज्यादा करने की जरूरत नहीं है पर मनुस्मृति को रीप्रिंट किया जा सकता है। भारतीय समाज की परिभाषा के लिए मनुस्मृति उनके माकूल बैठती थी। जबकि अपना ढांचा दूसरा था। भारतीय समाज की वर्णव्यवस्था मनुस्मृति की वर्णव्यवस्था नहीं थी। पर अंग्रेजों ने १८ वीं सदी के अपने समाज की अवधारणाओं को हमारे समाज पर लाद दिया। हमारे गावों में आमदनी की विषमता एक और तीन के अनुपात से अधिक नहीं थी। अंग्रेजों ने जो समाज बनाया उसमें १८४० ५० के बाद कारीगरों आदि के रहने की गुंजाइश गावों में बची ही नहीं। उनके अधिकारों में कटौती कर दी गई। आमदनी में एक और दस का फर्क हो गया। जमीनें छीन ली गईं। लोगों को दास बनाने की कोशिश हुई तो ये गावों से भागे। अब हमारे सर्वोदयी रोते हैं कि गावों से तेल की घानी गायब हो गई। जुलाहे गायब हो गए। चमड़े का काम करने वाले गायब हो गए। तो १०० साल से जब हमारी मानसिकता लोगों को गुलाम बनाने वाली हो गई और उसमें मनुस्मृति मिला दी गई तो कारीगर गायब क्यों नहीं होंगे ? स्वदेशी मॉडल तो तभी बन सकता है जब आर्थिक और सामाजिक बराबरी बने। इसके बगैर इस बात की कल्पना करना बेमानी है।

६ पश्चिमीकरण को मानने वाले आज भी दो फीसदी

स्वदेशी और पश्चिम की पूरी अवधारणा को समझने के लिए १८ वीं सदी के अंग्रेजी समाज को समझना जरूरी है । पश्चिम का विकास का मॉडल केन्द्रीकृत रहा है। अधिकार और धन के केन्द्रीकरण का। जिनके पास इनका केन्द्रीकरण रहा उन्हीं के पास ज्ञान और व्यापार का भी केन्द्रीकरण हुआ। उनके सामन्ती समाज के उन्हीं १०-१२ प्रतिशत बड़े लोगों की वहा के व्यापार में भी हिस्सेदारी रही। दुनिया भर से दौलत निचुड़ कर आई तो १७५० के आसपास वहा व्यापारी वर्ग का विस्तार हुआ। पर हुकूमत सामन्तशाही के हाथ में ही रही। १८३० तक तो इग्लैंड में दसियों चुनाव क्षेत्र ऐसे थे जिनमें मतदाता १०-१२ से ज्यादा नहीं थे। ५००० से ज्यादा मतदाता तो किसी भी क्षेत्र में नहीं थे। चुनाव स्थानीय लार्ड्स की जेब में ही रहते। कुल मिलाकर पूरी राजनीति समाज और व्यापार उन अभिजात परिवारों के ही हाथ में था जो ५०० साल से स्थापित थे। अपने यहा ३०-४० साल के सर्वोदय के काम पर हरिवल्लभ पारीख जिस तरह कई चुनाव क्षेत्रों में अपने लोगों को जिताकर लाते थे इसी तरह से अंग्रेजों के ये सामन्ती परिवार करते थे। तो इसी तरह जब ज्ञान का भी केन्द्रीकरण हो जाता है तो उसमें से लाइब्रेरी बनती होगी रिफ्रेंस कार्ड बनता होगा। ज्ञान का और इजाफा होता होगा। एक व्यवस्था बनती है। और उसमें से प्रयोगशालाए निकलती हैं।

इसी मानस ने मनु को हमारे समाज पर थोपा। पश्चिमीकरण की अवधारणा सिलसिलेवार उतारी गई। शुरू में हजार में एक ने माना होगा। विद्या और सत्ता से जुड़े समाज ने इसे अगीकार करना शुरू किया। शुरू में सोचा होगा मानसिकता ले लें जीवन पद्धति छोड़ दें। पर मानसिकता के साथ जीवनपद्धति तो अपने आप उतरने लगती है। इसलिए यह ताज्जुब की बात नहीं कि हमारे समाज का एक बड़ा हिस्सा आज जीन्स और स्कर्ट पर जीने लगा है। इस प्रक्रिया में तो अभेद्य किले भी टूट जाते हैं। मारवाड़ियों की जैनियों की दक्षिण के ब्राह्मणों के ये तबके जिनके बारे में माना जाता था कि ये नहीं टूटेंगे उनकी भी जीवनपद्धति बदली है।

पर आज भी पश्चिमीकरण को मानने वालों की सख्या हमारे समाज में दो

फीसदी से ज्यादा नहीं है। ऊपरी तबके के कुछ लोगों के अलावा ये सरकारी और गैरसरकारी सगठित क्षेत्र में केन्द्रीकृत व्यवस्था में जी रहे जो तीन करोड़ लोग हैं जिनकी तनख्वाह दूसरों से तिगुनी है पश्चिमीकरण का व्यामोह उनमें ही है। उनमें निचले स्तर पर तो देखादेखी का ही मामला है। फिर विदेशों में गए हमारे कुछ व्यावसायिक क्षेत्रों से जुडे लोग हैं। और उनके यहाँ के नातेरिश्तेदार हैं जो उनकी उपलब्धिया बखानते जी रहे हैं। हमारे यहा विदेश रिटर्न होना भी उपलब्धि माना जाता है न इसलिए । गाधीवादी आश्रमों में भी विदेश आते जाते हिन्दुस्तानी को सफल हिन्दुस्तानी कहा जाता है न ! बीच में १९५४ में यह होने लगा था कि विनोबा के बारे में पश्चिम क्या सोचता है ? इस विसगति पर पूछने पर अन्दरखाने बताया जाता था कि पश्चिम में आदर मिल जाता है तो यहा दिल्ली में भी सुनवाई होने लगती है। अपनी बात के समर्थन में किसी पश्चिम के व्यक्ति की बात न आए तो फिर क्या। आजकल तो भाजपा वालों के भी भाषण विदेशियों के दो दर्जन उद्धरणों के बगैर पूरे नहीं होते। लेकिन इन सबमें से कुल मिलाकर पश्चिमीकरण के असली हिमायतियों की सख्या दो फीसदी के भीतर ही है।

पर पश्चिमी मॉडल हमारी व्यवस्था में बैठ गया है। यह व्यवस्था तो ऊपर के स्तर पर अफसरों से बात करने के लिए बनी थी। पर वही चली आ रही है। काग्रेस ने ही नहीं समाजवादियों भाजपा आदि सबने वही मॉडल लिया। वकीलों डॉक्टरों आदि की भी सस्थाए उसी मॉडल पर बनीं। ७०-८० साल में जिन लोगों ने मॉडल बनाया वे *हिन्दुस्तानी मॉडल को समझ ही नहीं सके। बनाने वाले लोग थे तो वही विद्वान लोग।* सेंट स्टीफेंस वाले। पर इनका नाता अपने समाज से टूट गया था। हमारे यहाँ यह जो अति पर न जाने की बात है चीजों को जो नाशवान देखा जाता है जो सयम बरतने की बात है वह तुलसीदास का बरसात की रात में ससुराल पहुच जाना जो उनकी पत्नी को भी नहीं भाया न उसे देखते हुए यह परखने की कोशिश ही नहीं हुई कि इस व्यवस्था में भी शक्ति और सत्य का शिखर बनाया जा सकता है ? कोशिश होती तो शायद कोई सम्भावना उसके भीतर से भी निकलती। पर बात तो ऐसी बैठी है कि अब सहकारी सस्थाओं का जो साल फसलों से जुड़ा था ३० जून को पूरा होता था वह भी अब ३१ मार्च को पूरा होने लगा है। तमिलनाडु सरकार लोगों को पानी पीने के लिए जो मटके बाटती है वे भी प्लास्टिक के ही होते हैं। देहातों तक में आज ९० फीसदी माल हिन्दुस्तानी नहीं रहा है।

यह स्वदेशी वाले अब रोते हैं कि गाँव उजड़ गए। दस्तकार उजड़ गए। ३०-४०

साल पहले कोई बहुत बडी गलती हो गई। लेकिन सबसे बडी गलती यह हुई कि गाधीजी को उनके ही लोगों ने जकड़ लिया। गाधी को बहते व्यक्ति के बदले एक बन्द व्यक्ति में तब्दील कर दिया गया। गाधी समय के हिसाब से चीजों को ढालते हैं यह भुला दिया गया।

लडाई के दौरान काग्रेस का ढॉचा ब्रिटिश साम्राज्य के ढाचे पर बना। जिससे लडना था उससे लडने के लिए समानता ढूढी गई। पश्चिमी तरीके के लोग उसमें रखे गए। माना गया होगा कि समय इन्हें बदल देगा। जो गाधी खादी को आन्दोलन का प्रतीक बनाते हैं वे ही १९४४ में खादी के सम्मेलन में कहते है कि मैं तो कृषि को प्रतीक चाहता था पर दिक्कत देखते हुए खादी को प्रतीक बनाया। खादी जो बनाए वही पहनें। बाकी न पहनें। फिर कहते हैं कि गाव में एक ऐसा आदमी होना चाहिए जिसके पूछे बगैर बाहरी व्यक्ति वहा हस्तक्षेप न कर सके। फिर नई तालीम में १९४६ में वे हिन्दुस्तान की व्यवस्था के लिए ओसियानिक सर्कल्स (Oceanic Circels) की बात करते है जिसमें सबसे महत्वपूर्ण समूह इलाका होगा। फिर १९४७ में वे काग्रेस को खत्म करने की बात करते है। इसलिए नहीं कि उसमें बहुत दोष आ गया था। दोष तो १९२४ की बेलगाव काग्रेस के जमाने में भी था। काग्रेस को खत्म करने की बात इसलिए करते हैं कि जिस काम के लिए उसका ढाचा बना था वह काम पूरा हुआ। अब आजादी के बाद के काम के लिए दूसरे ढॉचे की जरूरत है। उनके करीबी लोगों ने लोक सेवक सघ आदि बनाकर यह काम करने की कोशिश भी की। गाधी १९४६ में जब नोआखली जाते हैं तो निर्मल बोस उनके साथ रहते हैं। तब गाधीजी का रोज का कहा या तो रिकार्ड किया जाता है या फिर गाधी जी उसे खुद लिखते हैं। उस समय के कहे को देखें तो जैसा दुखी उस समय उन्हे हम लोग मानते हैं वैसे दुखी वे दिखते नहीं। हिन्दू मुसलमान की कोई बात नहीं। वे तो इस बात की चर्चा में लगे हैं कि आने वाले भारत को किस तरह का बनाया जाना चाहिए। फिर ४७ में विदेशियों से मिलते हैं। वहा भी यही पुनर्रचना की बात। वे जो पाकिस्तान जाने की बात करते हैं वह भी वही पुनर्रचना की ही बात है। कोई मरे हुए लोगों को जिन्दा करने नहीं जा रहे हैं वे। जरूरी नहीं कि उससे कुछ निकलता। पर क्रिया थी। लेकिन उनकी उन्हीं हिन्दू-मुसलमान की बातों को उभार दिया गया और उनकी पुनर्रचना की बात पीछे छोड दी गई। इन सबको समझने की कोशिश होती तो गाधीवादियों की समझ में भी यह आ सकता था कि पिछले २०-२५ सालों में गाधी ने एक कच्चा मॉडल ही बनाया था। और इसके कच्चेपन को वे बखूबी जानते थे। पर गाधी को तो 'सीज' कर दिया गया। यह भी भुला दिया गया कि

हिंदुस्तानी समाज जमा हुआ समाज नहीं है। उसकी गति अलग किस्म की है पर गति है। लेकिन चूंकि गति की परिभाषा बदल गई आधुनिकीरण ही उसका पैमाना हो गया इसलिए अपने समाज के ऐश्वर्येचर्स उसके खूटे उसका बहाव नहीं दिखाई पड़ा। तो इसमें तो फिर दरिद्रता ही दिखाई देती है।

गाधीजी खुद जानते थे कि जो ढाचा लड़ाई के दौरान वे बना रहे हैं वह कच्चा है। और इसे बदलना है। लोगों ने जब कहा कि अत्यज शब्द खराब है इसे बदल देना चाहिए। तो गाधीजी ने कहा कि पहले तो ठीक ही रहा होगा। फिर लोगों के सुझाव पर हरिजन शब्द लाते हैं। इसलिए नहीं कि यह शब्द हजारों साल चलने वाला है। इस शब्द से उन्हें कोई विशेष लगाव नहीं है। वे तो समय के हिसाब से व्यवस्थाए बना रहे हैं। और हरिजन शब्द समय के मुताबिक सही लगता है तो मान लेते हैं।

७ भारतीय मॉडल सपत्ति जोड़ने का नहीं बटवारे का है

विकास के स्वदेशी और पश्चिमी मॉडल के बीच का असली फर्क क्या है ? यह फर्क केन्द्रीकृत और विकेन्द्रीकृत मॉडल का है। फर्क सम्पन्नता का नहीं है। केदारनाथ मन्दिर की सपत्ति के कागजात लन्दन मे पड़े है। नेपाल के राजा ने कुछ जमीन मन्दिर के नाम की थी। मन्दिर का मुख्य खर्च यात्रियों को खाना खिलाना था। सम्पत्ति पत्र में इस बात का भी निर्देश है कि हर यात्री को खाने का खर्च कितना देना है। यहाँ आय जोड़ने का प्रावधान नहीं है। कुछ बच जाए तो फिर उसे १२ साल में जो कुम्भ होगा उसमें खर्च ही कर देना है।

सम्राट हर्ष वर्धन का मामला भी सामने ही है। हर साल की आय वे खर्च कर देते है। और स्थिति यह रहती है कि यमुना में नहाकर बाहर निकलने पर बहन राजश्री की ओर से भेंट में दिया वस्त्र ही उनकी कुल पूजी होता है। भारतीय मॉडल इन सबसे निकलता है या ये सब उस मॉडल के प्रतीक हैं। भारतीय मॉडल सम्पत्ति जोड़ने का नहीं है उसके बटवारे का है।

मुगल बादशाहों के खर्चे के हिसाब देखने के लिए पड़े हैं। बादशाह का खर्च उसके निजी खर्च कुछ बनवा रहे हो तो उसके खर्च और लोगों को खाना खिलाने के खर्च तक का ही था। औरगजेब ने राज्य के आय-व्यय के हिसाब में लिखा है कि अकबर कुछ धन छोड़ गए थे। जहागीर आए तो आय ६० लाख रूपये हुई। खर्च डेढ करोड़ रूपये का रहा। अकबर के बचाए धन में से खर्च होता रहा। शाहजहा ने खर्च थोड़ा घटाया और आय डेढ करोड़ पर पहुची। अब पहली नजर में लगता है कि औरगजेब यह क्या लिख रहे हैं ? बादशाहत की आय तो १०-१२ करोड़ रूपए की थी। पर गौर से देखें तो औरगजेब हकीकत बखान रहे हैं। बादशाहत की आय में से नीचे के स्तरों पर क्रमिक तौर पर खर्च चलता था। ऊपर बादशाह के पास ६ से १५ फीसदी के बीच ही कोई रकम पहुचती थी। औरगजेब ने इसे १५ फीसदी पर पहुंचाया होगा। उनके अलोकप्रिय होने का एक बड़ा कारण यह भी है। यह ऊपर से नीचे पहुँचाना भारतीय अवधारणा नहीं है। यह ऊपर से नीचे पहुचाना पश्चिमी मॉडल है। अब राजाओं के पास

कुछ सुरक्षा तामझाम को छोड़ दें तो कोई स्थायी सेना नहीं होती थी। जो राजा जितना लोकप्रिय हुआ जरूरत पड़ने पर आम जनता के बीच से लड़ने के लिए उतने लोग खड़े हो जाते थे। वही सेना बन जाती थी। स्थायी सेना तो यूरोप में भी १७०० के आसपास ही खड़ी होती है।

भारतीय समाज की मूल इकाई कुल' है। कुल रक्त सम्बन्धों या फिर कर्मकाड के प्रतीको से जुड़े थे। दूसरी मूल इकाई इलाका रही होगी। १८९१ की जनगणना में अग्रेज बड़े पैमाने पर जातिगत वर्गीकरण करते हैं। प्रारम्भ में ५० ००० जातियों की गिनती है। जाटों में ११ ००० जातियों की और राजपूतों में ८५०० की। लगता है कुलों की गणना जाति के बतौर की गई है। शुरु में दो लाख के आसपास कुल रहे होंगे जो बाद मे ५ ७ लाख तक पहुचे होंगे। पर यह कुल सात पीढी तक ही स्थिर रहता है। श्राद्ध में तो तीन पीढियों तक ही नाम स्मरण चलता है। फिर बाकी के लिए अनाम श्रद्धाजलि दे दी जाती है। *अब रघु के कुल की बात चलती है। लेकिन वह बड़ी इकाई है।* आपसी पहचान के लिए बीच में से किसी दादा-परदादा का नाम निकलेगा। तो इस इलाके और कुल के योग से स्थानीय राजनीतिक इकाई बनती होगी। वही बढ़ कर राज्य बनता होगा। राज्य भारत बनता होगा। और उसमें से चक्रवर्ती निकलता रहा होगा।। अगर रघु दिग्विजय के लिए निकलते हैं तो कोई विशेष लड़ाई नहीं हुई होगी। जैसे तूफान के आगे पौधे *झुक जाते हैं फिर खड़े हो जाते हैं वैसे ही होता होगा। दिग्विजयी कोई* अपने गवर्नर कलेक्टर तय नहीं करता। केवल आधिपत्य जम जाने और साल में कुछ भेंट वगैरह आने की बात थी। इस भारतीय मॉडल में किसी को मिटाने की बात नहीं है। उसे घूस कर कोप भरने की भी बात नहीं है। कुल और इलाका जुड़े हैं। एक गाव में एक ही कुल के लोग हो सकते हैं। और कई कुलों के लोग भी। बसावट अक्सर स्वपूरक समूह के रूप में होती थी। कभी कभी किसी इलाके में जो प्रभावी कुल रहा दूसरे भी उसी कुल के कहलाने लगे। अब जाटों की जहाँ मजबूत खापें है वहाँ गैर जाट भी उसी खाप के मान लिए जाते हैं। १८९१ की जनगणना में अग्रवाल नाम बीसों जातियों में मिलता है।

जातिया बंधी नहीं थीं। बढ़ई का लड़का २० पीढ़ी बढ़ई ही नहीं रहता होगा। ब्राह्मण के लिए भी तो मुख्य काम न कर सके तो २० और काम गिनाए गए हैं। ऐसे ही काम दूसरी जातियों के लिए भी बताए गए हैं। *अंतरजातीय बहाव कम नहीं रहा होगा। गांधीजी ही जब हरिजन शब्द निकालने लगे तो हरिजनों में से बहुतों ने कहा कि हम जब* बाहर जाते हैं और टीका वगैरह लगाते हैं तो हमें कोई *दिक्कत नहीं होती। गाधीजी ने कहा*

कि यह भी एक रास्ता है। यह नहीं कहा कि यह तो धोखा देना हुआ। यह जो चाडाल के अपने को चाडाल कहते चलने के किस्से हैं वे सही नहीं होंगे। ऐसा कहने की जरूरत नहीं थी। इलाके में हर आदमी जानता है कि कौन क्या है। कोई ५०० मील दूर जाकर बसे तो अपने पिछले को बताना उसके लिए जरूरी नहीं है।

तो जो नया राजनीतिक-सामाजिक उभार आया है लोगो में आत्मविश्वास झलका है वह या यह मन्दिरों के इर्द-गिर्द युवा लोगों की त्योहारों पर जो भीड बढ रही है यह क्या यह वर्ग देश को अपनेपन की ओर ले जाएगा ? मुझे लगता है कि अपनेपन की ओर वापसी का कोई रास्ता बन रहा है। इस समूह की दिशा को जाचा जाना चाहिए। इस युवा वर्ग को यदि लगता है कि हमारे बाप-दादा जो कर रहे थे यह आज के लिए ठीक नहीं है और इसे यह जो कुछ नया हो रहा है वह करना चाहिए तो वह उसी ओर आगे बढेगा। उदाहरण के लिए यह मद्रास का पीपीएसटी समूह देखें। एक अमेरिकन महिला उन्हें देखने के बाद लिखती है कि लेकिन ये लोग क्या कर सकते हैं ये तो ब्राह्मण हैं। इनकी सुनेगा कौन ? जिस बात को वह महिला समझी उसे हम लोग नहीं समझे। तो हम जैसे द्विज मानसिकता के कुछ लोगों की प्राथमिकता स्वदेशी हो सकती है। पर यदि नए उभरते हुए लोग अमेरिकी तर्ज पर चलना चाहें तो उनकी बात चलनी चाहिए। और यह जो बढती धार्मिकता की बात है तो यूरोप में भी विज्ञान के साथ जन्मकुण्डली चल रही है। ये युवा ऐडवेंचर के तौर पर मन्दिरों में जाते हों तो उससे स्वदेशी ही नहीं दूसरी चीजें भी निकल सकती हैं। नवरात्रि जागरण और फैक्स मशीन बनाने के गणित में वे शायद मेल बिठा ले रहे होंगे। अभी यह दोनों तरह का दिमाग चल सकता है। पर समस्या अन्त में १००-५० साल बाद आ सकती है। यह आत्मविश्वास पश्चिमीकरण की गति को तेज भी कर सकता है। अब ये पजाब के कारीगर जो छोटी मशीनें जोड लेते हैं वे सिखाने पर हवाई जहाज भी जोड सकते हैं। उनकी ओर से नई खोजें भी सामने आ सकती हैं।

यह फैसले का वक्त है। मॉडल पर जनमत सग्रह हो जाना चाहिए। अगर ज्यादातर लोगों को लगता है कि प्लास्टिक युग में ही जाने में भलाई है पिछले पर लौटने में फजीहत है बाहरी ताकतें पिछले पर साबूत नहीं लौटने देंगी तो दूसरों को समाज को इस दिशा में जाने में रोडा नहीं बनना चाहिए। ताकि यह काम १०-२० साल में ही पूरा हो जाय। बल्कि कोशिश इस दिशा में जाने की गति बढाने की होनी चाहिये। वैसे भी समाज उस दिशा में चलना चाहेगा तो न उसे सर्वोदयी रोक पाएगे और न समाजवादी। और न सघी। समाज आगे बढ़कर उसमें से भी रास्ता निकाल लेगा। अब

पश्चिम में भी कोई मॉडल बनाकर विकास थोड़े ही हुआ था। शुरूआत तो मूल से हुई। भौतिकी आदि के वैज्ञानिक तो उसमें से बाद में निकले। ढाचा टूटा। जाम तो यह बाद में हुआ। और यही हमें मिला। ढाचा टूटता है तो बड़ी मार-काट होती है। हमारे लोग पीपीएसटी जैसे समूह को उठाकर फेंक देंगे। जाम मॉडल भी तोड़ देंगे। इन सबके बीच में यह गाव-दाब भी चलता रहेगा।

आज काशीराम और मायावती गाधीजी के खिलाफ बोलते हैं फिर उनके विरोध में हम लोग बोलने लगते हैं। हमारा यह विरोध इसलिए है कि काशीराम और मायावती हम लोगो से ऊची बात कर रहे है। वे पूरे भारतीय समाज को गाली दें तो हम लोगों को और भी अच्छा लगेगा। यूरोप के लोग जब हमें गाली देते हैं तो वह हम लोगों को आखिर अच्छा ही लगता है न। यह वक्त इस हीनता से निजात पाने का है। फैसले का वक्त है।

८ विकास का सवाल

१

तिरुपति में हाल ही में सम्पन्न भारतीय विज्ञान कॉंग्रेस में अनेक विशिष्ट वैज्ञानिकों ने भारत सरकार के प्रौद्योगिकी नीति सम्बन्धी ताजे वक्तव्य पर बहुत बेचैनी प्रदर्शित की। उनमें से एक के अनुसार हमारे यहाँ पुराने विज्ञान की ही पढ़ाई की जाती है (स्नातक उपाधिधारियों के लिये) कई मामलों में ४० बरस पुराने प्रयोग ही पढ़ाये जाते रहते हैं। एक अन्य वैज्ञानिक का कहना था कि पिछले ३३ बरस में उसने वैज्ञानिक नीति पर अनेक वक्तव्य पढ़े-देखे हैं किन्तु उनमें से एक पर भी अमल होते नहीं देखा। उनका कहना था कि मेरी रुचि और मेरा लगाव अपने देश के लोगों के लिये विज्ञान की प्रगति में है। पर यहाँ फाईलें (आधिकारिक) और माध्यम हमें वहाँ ले जाते हैं जहाँ और अधिक फाईलों के सिवाय कुछ नहीं। 'एक अन्य वैज्ञानिक के अनुसार आधिकारिक पदों पर बैठे ज्यादातर लोगों का किसी भी ताजे शोध के प्रति रवैया यह होता है कि क्या और कहीं ऐसा हुआ है ? नई सूझो नये विचारों को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। यदि पश्चिम में वैसा हुआ है तो ये उसका समर्थन करेंगे। अन्यथा नहीं। भारतीय विज्ञान समाचार एसोसिएशन के अध्यक्ष ने कहा कि नई नीति 'इच्छाजनित विश्वास का वक्तव्य मात्र है। (देखें इण्डियन एक्सप्रेस' मद्रास के १० जनवरी १९८३ के अक में छपी रिपोर्ट)

डॉ नायदम्मा (जवाहरलाल नेहरू विश्व विद्यालय के पूर्व उप कुलपति) के अनुसार पश्चिमी ढाँचे पर आधारित मौजूदा शिक्षा पद्धति ने न तो सही किस्म की मानवीय शक्ति उत्पन्न की और न ही जनता की शिक्षा के स्तर को उन्नत बनाया। पारम्परिक तकनीकी और स्थानीय मेधा की अवहेलना से अपने लोगों का आत्मविश्वास घटा है और स्थानीय प्रौद्योगिकी द्वारा बुनियादी स्तर पर समस्याओं के समाधान की क्षमता पर भी असर पड़ा है (देखें हिन्दू' मद्रास १० जनवरी १९८३)

इसी अवधि मे अन्यत्र सम्पन्न एक सभा में एक विशिष्ट और राजनैतिक तथा

प्रशासनिक सत्ता के बहुत करीब रहे व्यक्ति ने यह अभिमत व्यक्त किया कि मौजूदा न्यायिक पद्धति नागरिकों के हित सरक्षण की दृष्टि से बहुत सवेदनाहीन बेहद धीमी और बेहद खर्चीली है'। बंगलूर में राजाजी जयन्ती पर व्याख्यान देते हुए जम्मू काश्मीर के राज्यपाल बी के नेहरू ने इसी सिलसिले में आगे कहा कि भारतीय सविधान को अपूर्ण कहने का कोई उपयोग नहीं है। उन्होंने सुझाव दिया कि हमें अब ऐसी सस्थायें बनानी होंगी जो अपने समाज में अन्तर्निहित प्रवृत्तियों के अनुरूप हों। साधारण नेतृत्व इन्हें नहीं समझ सकता। जिस बड़े नये परिवर्तन का उन्होंने सुझाव दिया वह था परोक्ष निर्वाचन की पद्धति के साथ साथ विधायिकाओं के चुनावों में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था। सीधे चुनाव सिर्फ पचायतों या नोटीफाईड एरिया कमेटियों या नगर पालिकाओं अथवा नगर निगमों के लिये हों। इससे अगली कड़ी इस पद्धति में होगी जिला परिषदें जो कि विधानमडलों को चुनेंगी। राज्य विधान मडल द्वारा केन्द्रीय विधायिका की लोकसभा का निर्वाचन किया जायेगा। (देखें हिन्दू' मद्रास जनवरी १९८३)

कुछ ही समय पहले भारत एशियाड १९८२ की मेजबानी कर चुका है। यह सच है कि उसकी तैयारी तीन-चार साल चली और इस सन्दर्भ में अस्सी करोड़ से बारह सौ करोड़ रूपयों तक खर्च होने की कथाएँ कही गई हैं। यह रकम दिल्ली महानगर को एशियाड ८२ के लिए तैयार करने में खर्च हुई। उसके बाद जैसा कि स्पष्ट हुआ इस तैयारी का भारतीय खेल क्षमता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा दिखता। खेलों में ऊँचा स्थान भारत को नहीं पूर्वी एशिया के चीनी गणतत्र और दोनों कोरिया जैसे देशों को मिला। जापान का अग्रणी रहना तो अप्रत्याशित नहीं था। खेलों में तो भारत बेहतर भूमिका नहीं निभा पाया पर तो भी हिसाब लगाने में दक्ष लोग हिसाब लगाकर बता रहे हैं कि एशियाड की मेजबानी से हमें क्या क्या लाभ हुए। सामान्यत यह दावा किया गया है कि इस एशियाड की तैयारी में हमने अपनी उस तकनीकी दक्षता का अनुभव बढ़ाया जो कि विकसित देश ही रखते हैं। यातायात नियत्रण को अबाध बनाये रखने और एशियाई खेलों के दौरान कानून और व्यवस्था के विधाताओं द्वारा साधारण भारतीय पदयात्री के साथ सहानुभूति व्यक्त करने में भी हम विकसित देशों द्वारा ऐसे अवसरों पर किये जाने वाले व्यवहार से पीछे नहीं रहे। अतरराष्ट्रीय व्यापार में तथा विश्व मामलों की हमारी सरकारी समझ मे प्रगति के भी लाभ गिनाये जाते हैं। इन खेलों का विशेषत जिमनास्टिक और कसरती सस्कृति वाले खेलों का भारत के सामान्य बच्चों की खेल-चेतना पर क्या प्रभाव पड़ा यह जानकारी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है।

एशियाड ८२ की मेजबानी जैसी अनेक घटनाएं विभिन्न क्षेत्रों में भारत की

उपलब्धियों के तौर पर गिनाई जा सकती हैं। और इनमें से अधिकतर मार्च १९५० में प्रथम योजना आयोग के गठन के जरिए प्रारम्भ हुई योजना एव विकास की प्रक्रिया का परिणाम बताई जा सकती हैं। बहरहाल पिछले दो दशकों से भारत में इस नियोजित विकास के प्रति विक्षोभ जगा है। हाल ही में यह विक्षोभ तीव्रतर हुआ है। यह विक्षोभ सिर्फ हमारी आवश्यकता को देखते हुए अत्यधिक पर्याप्त विकास के कारण ही नहीं है बल्कि इससे भी ज्यादा इस बात को लेकर है कि क्या सिर्फ इन्हीं परिणामों के लिए भारत में १९२० १९३० तथा १९४० के दशको में स्वाधीनता आन्दोलन छेड़ा था।

इसी सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि सविधान सभा में नवम्बर १९४८ मे इस प्रश्न पर गरम झड़प हो गई थी कि सविधान में भारतीय गाँवों का स्थान क्या हो ? सविधान का मसविदा वकीलों की एक समिति ने तैयार किया था। इनमें से सिर्फ एक ने ही समिति के वास्तविक विचार विमर्श में जमकर भाग लिए"। इस मसविदे से सविधान सभा के बहुत कम सदस्यों को सन्तोष हुआ। सदस्यो का सामान्य अभिमत यह था कि यह मसविदा भारतीय चिन्तन एव विचार का विरोधी है। सदस्यों ने आश्चर्य से पूछा कि यह किसके कल्याण के लिये है ? श्री टी प्रकाशम् ने पूछा यह मुट्ठीभर लोगों के हितसाधन के लिये है या इसमें उन करोड़ों लोगों के भी हित का कहीं विचार है जो राजस्व और कर देते हैं ? कुछ अन्य लोगो का मत था - 'गाधीजी का और कॉंग्रेस का दृष्टिकोण यह रहा है कि भारत का भावी सविधान पिरामिड जैसी सरचना वाला होगा और ग्राम पचायत उसकी बुनियाद होगी। इस स्तर पर सविधान सभा के सदस्यों और मसविदा समिति के बीच मध्यस्थता-सी कर रहे श्री के सतानम् तक का यह मत था कि ग्राम पचायतों के अस्तित्व को सविधान में मान्यता देनी होगी क्योंकि आगे चलकर हर गॉव की स्थानीय स्वायत्तता से ही इस देश की भावी स्वाधीनता का आधारभूत ढाँचा निर्मित होगा। बहरहाल अनेक कारणवश यह सविधान बदला नहीं गया। जिनमें से एक कारण यह कहा जाता है कि बुनियादी मसौदे को बदलने की दृष्टि से बहुत विलम्ब हो चुका था। लेकिन शायद बड़ा कारण यह था कि इस परिवर्तन के प्रति डॉ भीमराव आम्बेडकर जैसे लोग और सम्भवत पडित नेहरू तथा सरदार पटेल भी (दोनों ही इस पूरी बहस में मौन रहे थे) अनुत्साही अनादर युक्त तथा आक्रामक दिख रहे थे। किया सिर्फ इतना गया कि सविधान सभा के विक्षुब्ध सदस्यों को शान्त करने हेतु सविधान में एक अतिरिक्त अनुच्छेद जोड़ा गया (वर्तमान में अनुच्छेद ४०) इसमें राज्य से कहा गया था कि 'ग्राम पचायतों को सगठित करने के लिए कदम उठाये जाए और वे स्वायत्त-शासन की इकाईयों के रूप में काम करने में सक्षम रहें इस दृष्टि से उन्हें आवश्यक

अधिकार और सत्ता सौंपी जाय।

नियोजित विकास की उपलब्धियों के मूल्याकन के लिए या विक्षोभ की पद्धति को समझने के लिए भी शायद यह जरूरी है कि भारत के हाल के अतीत में कुछ झाका जाय। सन् १९२९ तक भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन की घोषित प्रेरणा थी तत्कालीन ब्रिटिश राजनैतिक पद्धति के अन्तर्गत ही किसी तरह की समानता की उपलब्धि। किन्तु दिसम्बर १९२९ में भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने ब्रिटिश राज्य से पूर्ण स्वतन्त्रता की उपलब्धि का लक्ष्य निश्चित किया और महात्मा गाधी द्वारा तैयार स्वातन्त्र्य प्रतिज्ञा में कहा गया हमारा विश्वास है कि हर एक समाज की तरह भारतीय जन का भी यह अहस्तान्तरकरणीय अधिकार है कि वह स्वाधीन रहे और अपने परिश्रम के फल का आनन्द ले तथा जीवन की जरूरतों से इस प्रकार युक्त रहें कि उनके पास विकास के सम्पूर्ण अवसर हों। हमारा यह भी विश्वास है कि यदि कोई सरकार लोगों को इन अधिकारों से वचित करती है और उनका उत्पीड़न करती है तो लोगों को यह अधिकार भी है कि वे उस सरकार को बदल दें या समाप्त कर दें। भारत में ब्रिटिश सरकार ने न केवल भारतीय जनों को स्वाधीनता से वचित किया अपितु जन समुदायों के शोषण की भी अपनी बुनियाद बनायी है तथा भारत का आर्थिक राजनैतिक सास्कृतिक और आध्यात्मिक विनाश किया है। इसीलिए हमारा विश्वास है कि भारत को ब्रिटिश सम्बन्ध तोड़ देना चाहिए और पूर्ण स्वराज प्राप्त करना चाहिए (गांधी वाङ्मय अग्रेजी खड ४२ पृष्ठ ४२७)। यहाँ स्मरणीय है कि इस समय तक और आगे भी सन् १९३४ तक जब तक कि गाधीजी कॉग्रेस की सदस्यता से मुक्त नहीं हो गये सभी महत्त्वपूर्ण दस्तावेज और प्रस्ताव गाधीजी स्वय तैयार करते थे।

अग्रेजों ने भारत का आर्थिक राजनैतिक सास्कृतिक और आध्यात्मिक विनाश किया है और पूर्ण स्वराज पाने पर ही भारतीय जन विकास के पूर्ण अवसर पायेंगे यह मुद्दा एक हद तक उस भारतीय सविधान द्वारा भी पुन पुष्ट किया गया जो कि भारत ने जनवरी १९५० से अपने पर लागू किया। उसमें प्रतिज्ञा की गयी थी कि सभी नागरिकों के लिए सुनिश्चित होगा –

न्याय सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक।

स्वाधीनता : विचारों अभिव्यक्ति विश्वास आस्था और उपासना की।

समता स्थिति और अवसरों की तथा सभी के बीच बढ़ायी जायेगी व्यक्ति की गरिमा और देश की एकता को आश्वस्त रखने वाली बन्धुता।

इन्हीं विचारों और प्रतिज्ञाओं के अनुकूल प्रथम योजना आयोग के गठन

सम्बन्धी भारत सरकार के मार्च १९५० के प्रस्ताव में कहा गया था भारतीय सविधान ने अपने देश के नागरिकों को कतिपय बुनियादी अधिकारों की गारंटी दी है तथा राज्य के कुछ नीतिनिर्देशक सिद्धात प्रतिपादित किये है। विशेषकर यह कि सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक न्याय वाली सामाजिक व्यवस्था की प्राप्ति और सुरक्षा के जरिए लोगों के कल्याण के प्रोत्साहन हेतु राज्य प्रयासरत रहे एव राष्ट्रीय जीवन की समस्त सस्थाओं को इससे अवगत कराये तथा अन्य के साथ ही इन बातों की प्राप्ति की दिशा में अपनी नीतिया निर्देशित करें

(अ) कि समस्त नागरिक नरनारियों को समान रूप से आजीविका का उचित जरिया पाने का अधिकार हो।

(ख) कि समाज के भौतिक साधनस्रोतों के स्वामित्व और नियत्रण का वितरण ऐसे किया जाय कि सर्वोत्तम रीति से सबका सामान्य हित पोषित हो।

(ग) कि आर्थिक व्यवस्था इस तरह से क्रियाशील हो कि उसके फल स्वरूप सर्वसाधारण के लिए हानिकारक रूप में धन और उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण न होने पाये। (प्रथम पचवर्षीय योजना दिसम्बर १९५२ भूमिका)।

यद्यपि १९३० की स्वाधीनता की प्रतिज्ञा की शब्दावली का किसी सीमा तक सविधान में समावेश किया गया और वह भारत के नियोजित विकास का निर्देशक विचार (सिद्धात) बनी तथापि ऐसा प्रतीत होता है और पिछले तीन दशकों की प्रवृत्तियों तथा घटनाओं से पुष्ट भी होता है कि व्यवहार में उसे अधिक गम्भीरता से नहीं लिया गया विशेषकर उनमें से ज्यादातर लोगों के द्वारा जो भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस में नेतृत्व के पदों पर अथवा स्वाधीनता पाने पर दिल्ली में बनी सरकार के प्रमुख पदों पर थे। शायद उनके लिये यह प्रतिज्ञा वाग्मिता थी या आलकारिक उक्ति। पूर्ववर्ती यथार्थ का या भविष्य के लक्ष्यों का कथन शायद उनकी दृष्टि में उस प्रतिज्ञा में अभिव्यक्त नही हुआ था। यह सही है कि भारत के राजनैतिक और आर्थिक विनाश के प्रेक्षण को बडे पैमाने पर मान्यता मिली। किन्तु भारत का सास्कृतिक और आध्यात्मिक विनाश किया गया है और जिसका निहित अर्थ है कि इस समाज को विघटित और विस्थापित किया गया है ओर उसके जनसाधारण के आत्मगौरव का अत्यन्त हनन हुआ है प्रतिष्ठा रामाप्त की गई है तथा उनकी पहल की क्षमता रौंदी गई है प्रतिज्ञा के इस आशय वाले वाक्याश की उन लोगों के बीच और उनके काम पर कोई अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं परिलक्षित हुई

जिन्होंने १९४६ के बाद आगे भारत में शासन करना शुरू किया। लगता है कि वे (और सचमुच इनमे व्यावहारिक रूप से भारत के विशेषाधिकार भोगी हर तबके के लोग शामिल थे भले ही वे किसी भी विचारधारा का अनुमोदन करते हों) अपने आसपास के ससार की चकाचौंध से ज्यादा ही चौंधिया गये थे। साथ ही जिन सामाजिक और आर्थिक सैद्धातिक स्थापनाओं से उनके विचारों की बुनियाद रखी गयी और जो इतिहास उन्होंने पढ़ा (इनमें से ज्यादातर इतिहास ग्रन्थों का उद्‌गम पश्चिम में मुख्यत अग्रेजीभाषी इलाकों में हुआ था) उसमें वे अभिभूत दिखते हैं। यहा तक कि दिसम्बर १९५३ में भी पण्डित जवाहरलाल नेहरू का विश्वास था कि पिछले दो हजार वर्षों के विश्वइतिहास के मानवजीवन को परिवर्तित करने वाला कोई भी तत्त्व इतना शक्तिशाली नहीं रहा जितना कि औद्योगिक क्रान्ति और उसकी अनुगामी क्रियाएं'। जरूर वे यह भी सोचते थे कि अपने जोखिम भरे नजरिये के सिलसिले में वे जनता के विशाल समूह को विश्वास में लें' और उन्होंने देखा कि 'जनता के विशाल समूह में यह उत्तेजना भरनी होगी कि वे राष्ट्र को गतिशील रखने के विराट उद्यम के सहभागी हैं सरकार में और उद्योग में साझीदार हैं। (दृष्टव्य-जवाहरलाल नेहरू भाषण (अंग्रेजी में) खण्ड ३ पृष्ठ ५९ ६० 'बैलगाड़ी मोटर गाड़ी जेट विमान' १९५८ में प्रकाशित)।

ऐसी सहभागिता के लिये पंचायती राज इत्यादि विविध कार्यक्रमों के जरिए आधेअधूरे मन से प्रयास किये गये। किन्तु इन योजनाओं और कार्यक्रमों का भी गठन *शेष भारतीय राज्य पद्धति की ही तरह हुआ था और शीघ्र ही ये भी उसी गतिरोध की* स्थिति में जा फसे।

विकास में लोगों की भौतिक शारीरिक सहभागिता की कुछ गुजाइश जरूर थी किन्तु चाहे सिर्फ शासन तत्र हो या विकास का मामला किसी में भी हम ऐसे मार्ग नहीं खोज पाये जिनके जरिए भारत के छत्तीस करोड़ (उपर्युक्त भाषण पुस्तक के पृष्ठ ४ के छपे भाषण का जो पडित नेहरू द्वारा १३ अक्टूबर १९५४ को दिया गया था शीर्षक 'छत्तीस करोड़ समस्याएं') लोग सामूहिक तौर पर अपनी मेधा एव प्रतिभा उस दिशा मे तथा उन कामों में लगा सकें जिन्हें वे उपयुक्त समझते हैं तथा जो वे सृजन करना चाहते हैं। यह बात अब भलीभाति विदित हो चुकी है कि जो नई वैज्ञानिक प्रयोगशालाए स्वाधीन भारत में स्थापित हुईं तथा जिन महान वैज्ञानिकों ने उन्हें सचालित-निर्देशित किया उनके पास कम से कम १९५० के दशक तक जन सामान्य की महत्वपूर्ण समस्याओं की तरफ ध्यान देने की फुरसत नहीं थी। एक अर्थ में लोगों को फिर सन १९१५ की स्थिति में धकेल दिया गया जब कि सार्वजनिक सामाजिक जीवन में

महात्मा गाधी का उदय हुआ था और तब उन्हे सार्वजनिक जीवन में वापस लाया गया था। अपने शुभेच्छु विदेशी मित्रो की तरह जो तब भी ऐसा सोचते थे और अब भी सोचते हैं हम लोग भी यह मान बैठे कि ये सामान्य भारतीय देशवासी अपनी मानसिक क्षमता पूरी तरह खो बैठे है और सागठनिक मामलो में या तक्नीकी के क्षेत्र में किसी सृजनात्मक योगदान की उनमें क्षमता नहीं है। हा वे दैहिक बल या यात्रिक दुहराव की अपेक्षा वाले कार्यक्रमों में अपना योगदान दे सकते हैं।

यहा यह उल्लेख भी प्रासगिक होगा कि आधुनिकता की शक्तिशाली धार के दबाव से अप्रभावित अनेक व्यक्ति एव समूह १९५० में और आगे भी भारत में मौजूद रहे हैं (व्यक्तियो में से कुछएक के नाम गिनाने हों तो राममनोहर लोहिया जयप्रकाश नारायण और आचार्य विनोबा भावे के नाम लिये जा सकते है)। ऐसे अनेक व्यक्ति थे जिन्होंने दिल्ली के शक्ति केन्द्र द्वारा सचालित प्रक्रिया के विरुद्ध व्यापक सार्वजनिक असहमति को वाणी दी थी। कई समूहो ने विशेषकर समाजवादियों ने छोटी मशीनों की बात भी कही (शायद भारत के लिये उपयुक्त प्रौद्योगिकी के सन्दर्भ में जो कि स्वदेशी उपकरण माल तथा साधनों से विकसित हो सके) तथा 'चौखम्भा राज्य आदि शब्दावलियों के सहारे देश के लिये अधिक उपयुक्त राजनैतिक ढाचे की बात कही और दीर्घकालिक सामाजिक एव रचनात्मक सेवाकार्य के लिये विशाल भूमिसेना की बात की। सम्पूर्ण गाव की ग्राम सभा ग्रामसमुदाय तथा लोकशक्ति के विचार के आधार पर भारतीय राजनैतिक स्वरूप (पोलिटी) को पुष्ट करने वाला सर्वोदय आन्दोलन भी उभरा। किन्तु सामान्यतः बडे पैमाने पर इन विचारों का स्वर अधिकाशत अस्पष्ट और अस्फुट था। इस सन्दर्भ में एक बुनियादी दस्तावेज जो १९५८ में सामने आया वह था-जयप्रकाश नारायण लिखित ए प्ली फॉर द रिकन्स्ट्रक्शन ऑफ इण्डियन पोलिटी (A plea for the Reconstraction of Indian Polity)।

२

जो लोग किसी न किसी तरह भारत के मामलों के प्रबन्ध से जुडे हैं सार्वजनिक तौर पर उनके द्वारा कही गयी बातें सुनी जाएँ साथ ही उनकी निजी प्रतिक्रियाए देखी जाए तो ज्ञात होता है कि जो काम उन्होंने अपने जिम्मे ले रखा है वह उनके लिये बडा बोझ बना हुआ है। आकाशवाणी दूरदर्शन पर समाचार प्रसारणों के पूर्व अक्सर प्रसारित होने वाले नेताओं के वक्तव्यों और सन्देशों में यह दुहराया जाता रहता है कि १९२१ में भारत की आबादी इतनी थी और अब इतनी है तथा २००१ में इतनी होगी। इन

वक्तव्यों में यह अपेक्षा ध्वनित होती है कि श्रोता इस महान त्रासदी पर इस शोकप्रद विभीषिका पर विचार करें। पश्चिम ने अपने बारे में बहु प्रचारित किया कि यूरोपीय मनुष्य का इतिहास और उसकी प्रेरणायें तथा सैद्धांतिक निरूपण सार्वभौम हैं। हमने इसे कबूल कर लिया। फलत हम यह मानने लगे कि पश्चिम ने अपने १००० वर्षों के इतिहास में जो कुछ किया है उसे अपने यहाँ दुहारने में हम भी समर्थ हैं। पश्चिमी मनुष्य की जो छवि हमारे मन में बस गई है वह या तो सोलहवीं सत्रहवीं और अठाहरवी शताब्दी के लुटेरे व्यक्तियों की है या फिर बीसवीं शताब्दी के परिष्कृत दुनियादार दूसरों का लिहाज रखने वाले परोपकारी तथा कम से कम सैद्धांतिक स्तर पर सभी लोगों के बीच समता और बन्धुता की वकालत करने वाले व्यक्ति की। हम यह समझने को तत्पर नहीं दिखते कि इस छवि के अतिरिक्त भी यथार्थ बहुत कुछ है और पश्चिमी मनुष्य का विकास उन विश्वासों और विचारधाराओं (दर्शन) में से हुआ है जिनका भीतरी रूप कठोर है। भले ही बाहरी हिस्से सौम्य दिखें। पश्चिम की वर्तमान सर्वमान्य समृद्धि तथा कल्याणवाद मुश्किल से ५० साल पुराने हैं। वस्तुतः यह विचारणीय है कि क्या पश्चिम की मौजूदा समृद्धि तथा कल्याणवाद इन तथ्यों की दिशा में पश्चिम के अनुपालन का सीधा परिणाम है अथवा यह ऐसे प्रयासों और हलचलों का एक अनिवार्य परोक्ष परिणाम है जिनमें लक्ष्य पूर्णत अलग तरह के हैं। हम समझ नहीं पाते कि आज की चकाचौंध भरी स्थिति तक पहुँचने के लिये पश्चिम को कठोर क्रूर और शोषक होना पड़ा है। यह शोषकवृत्ति और यह क्रूरता सिर्फ गैर पश्चिमी संसार के प्रति नहीं थी अपितु शताब्दियों तक पश्चिमी शासक समूह अपने ही समाजों का क्रूर शोषण करते रहे।

यह अनुमान कि पश्चिम आज के लोकतांत्रिक और कल्याणकारी प्रबन्धों तक इसलिए पहुँचा है क्योंकि यह गुण तथा यह लक्ष्य इसके मध्य कालिक तथा प्रारम्भिक-आधुनिक दौर में अन्तर्निहित थे वैसी ही कपोल कल्पित कथा है जैसी कि यह कपोल कल्पित कथा कि भारतीय जनगण हजारों वर्षों से दरिद्रता तथा राजनैतिक उत्पीड़न का जीवन जीते रहा है।

ईसवी सन १८०० के आसपास जब भारतीय समाज के बड़े हिस्से को यूरोपीय राजनैतिक शक्ति ने छिन्नभिन्न कर दमित कर रखा था उस समय भी भारत के अधिकांश हिस्सों में लोगों के बीच अधिक समानता थी और यहाँ के साधारण श्रमिक ब्रिटेन के जनसाधारण से अधिक मेहनताना पाते थे। यह तथ्य इस काल के अनेक अध्येताओं के अध्ययन से जाना जा सकता है।

थॉमस मुनरो के अनुसार बेलारी जिले में उच्च मध्यम और निम्न वर्गों में

प्रतिव्यक्ति उपभोग-ढाचा १७ ९ ७ के अनुपात में था। १८२२-२५ में मद्रास प्रेसिडेंसी में स्वदेशी शिक्षा सम्बन्धी एक सर्वेक्षण के अनुसार वहा उन दिनों स्कूल में पढ रहे लड़कों का एक चौथाई भाग प्रेसिडेसी की १२००० पाठशालाओं में शिक्षा प्राप्त कर रहा था। इसके साथ ही घर पर बडी सख्या में शेष बच्चे पढ रहे थे (मद्रास शहर में की गई एक गणना के अनुसार शालाओं में जाने वाले बच्चो की सख्या की गई एक गणना के अनुसार शालाओं मे जाने वाले बच्चों की सख्या से चार गुने बच्चे घरों में पढ रहे थे)। तमिलभाषी क्षेत्र में पाठशालाओं में (यहा सर्वत्र आशय देशी पाठशालाओं से है अंग्रेजी व्यवस्था द्वारा सचालित स्कूल तब नहीं थे) पढ रहे कुल बच्चों में शूद्र जाति के और तथाकथित अन्त्यज जातियों के बच्चों की सख्या ६० से ८० प्रतिशत थी। १८०४ के एडिनबरो रिव्यू' के अनुसार ईसवी सन १८०० के आसपास भारतीय खेतिहर श्रमिक की वास्तविक मजदूरी दरें ब्रिटेन के खेतिहर मजदूरों से बहुत अधिक थीं। यह तथ्य भी अब सुविदित हो चुका है और स्वीकार किया जाता है कि १८०० के आसपास भारतीय कृषि उत्पादन ब्रिटेन के कृषि उत्पादन से बहुत अधिक था भारतीय इस्पात अधिक श्रेष्ठ स्तर का था और देश के बहुत से इलाकों में उसका उत्पादन होता था तथा भारत के बुवाई हल (वपित्र) जैसे कुछ कृषि उपकरणों की क्षमता तत्कालीन ब्रिटेन की ऐसी वस्तुओं से कहीं अधिक थी। एडिनबरो रिव्यू' के ही अनुसार उन दिनों गेहू आदि के बीज की दरें ब्रिटेन में वही थीं जो कि भारत मे थी किन्तु भारत का उत्पादन बहुत अधिक था।

सम्भवतः बौद्धिक प्रमादवश हममें से ये लोग जो देश का प्रबध कर रहे हैं राजनैतिक सगठन अथवा विकास या शिक्षा इतिहास एव विज्ञान के सिद्धांतों के बारे में अपने उन आधारवाक्यों पर पुनर्विचार हेतु प्रस्तुत नहीं हैं जिन पर ३५-४० वर्ष या और अधिक समय से वे चिपके रहे हैं। शायद हम यह सोचकर घबरा उठते हैं कि यदि हमने इस तरह की जिज्ञासा और प्रश्न भाव विकसित किया ऐसे ऐसे सवाल स्वय से करने लगे तो फिर जिन बातों के आधार पर हम चलते रहे हैं और चल रहे हैं (पिछले ४० या अधिक वर्षों से) वे रेत पर बने महल की तरह भरभराकर ढह जायेंगी। क्योंकि हमारा यह महल यह दुर्ग एक ऐसी इमारत है जिसकी कोई वास्तविक नींव है ही नहीं। न तो वह भारतीय अनुभवों की नींव पर न राष्ट्रीय चरित्र के अनुकूल और न ही भारतीय जन की प्राथमिकताओं का विचार कर खड़ा किया गया है।

इस प्रकार भारत के विकास के परिप्रेक्ष्य' को लेकर उठी किसी भी बहस के सामने यह एक बड़ा प्रश्नचिह्न है। यह नहीं कि पिछले तीस साल से ज्यादा समय से

जारी नियोजित विकास ने भारतीय राष्ट्र की शक्ति में कोई वृद्धि नहीं की है उसे कुछ अधिक आत्मविश्वासयुक्त नहीं बनाया है अथवा विविध क्षेत्रों में व्यवसायदक्ष लोगों तथा विशेषज्ञों को बडी सख्या में नहीं पैदा किया है। ऐसा तो हुआ है। साथ ही औद्योगिक उत्पादन और कृषि दोनों में गुणात्मक वृद्धि भी हुई है। किन्तु साथ ही इस प्रक्रिया ने व्यापक पैमाने पर जगलों का विनाश भूमि क्षय तथा बाढ और सूखे की लगातार वृद्धि भी की है। इसी प्रक्रिया में पर्यावरण अधिकाधिक विषाक्त होता जा रहा है। अधिक सुरुचिपूर्ण और अधिक व्यवस्थित जीवन का सृजन करने के स्थान पर इस प्रक्रिया ने वस्तुत साधारण जीवन को अधिक अस्थिर अधिक असुरक्षित और निश्चय ही ज्यादा बदसूरत बना डाला है। यह कहना शायद गलत न होगा कि हमारे कस्बों शहरों और महानगरों में भी कुछ सौ वर्ग मीलों में फैले केन्द्रीय क्षेत्रों और सिविल लाइनों के अतिरिक्त शेष क्षेत्र का विगत तीन दशाब्दियों में हर दृष्टि से ह्रास ही हुआ है और इन स्थानों मे से अधिकाश तेजी से एक विशाल 'स्लम' की दिशा की ओर बढ रहे हैं। इसके विपरीत भारत के गाँव जो यदाकदा कुलीन वर्ग की गहरी दिलचस्पी के केन्द्र बनते रहते हैं अत्यधिक दरिद्रीकरण और बुनियादी जन सुविधाओं के अभाव के बावजूद व्यवस्था और निवास की योग्यता में तुलनात्मक दृष्टि से अभी भी बहुत बेहतर हैं। कई लोग कह सकते हैं कि राष्ट्रीय साधन स्रोतों और राष्ट्रीय पूजी का अधिकाश जिन कस्बों शहरों तथा महानगरों पर खर्च किया जा रहा है उनकी 'स्लम' जैसी दशा होते जाना स्वयं नियोजन या आयोजन का सीधा परिणाम नहीं है। निश्चय ही यह दशा इस तथ्य का फल है कि जो लोग यह सब प्रबन्ध करने में जुटे हैं उनमें से अधिकाश का व्यवहार विचारविहीन है। वे सृजनात्मकता से रिक्त हैं अपने दिमाग से काम लेना बन्द कर चुके हैं तथा जिन लोगों जनगण के लिए वे काम कर रहे होने का दावा करते हैं उन सर्वसामान्य लोगों की तनिक सी भी सम्मति की इन व्यवस्थापकों के आचरण में कोई जगह नहीं है।

हमारे आधुनिक मकानों में से अधिकाश का खाका (विशेषत उनका जो साधारण या मध्यमस्तरीय लोगों के लिए बनाये जाते हैं अथवा छात्रावासों अतिथि निवासों आदि का) अपनी कुरूपता और असुविधा के साथ इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि हमारे आयोजक और विकासकर्ता सचमुच विवेकशून्य हो चुके हैं। हमारे निजी निवास छात्रावास होटल आदि में पश्चिमी ढंग के शौचालयों का निर्माण जारी है जबकि कोई विरला भारतीय ही इनका उपयोग करने में सुविधा का अनुभव करता होगा। यह स्थिति एक मायने में हमारे विकास के बहुताश की विजातीय नींव और

परदेसी रूपविधान का प्रतिनिधित्व करती है। यदि यह तर्क दिया जाये कि लोगों का आराम महत्वपूर्ण बात नहीं है तब भी यदि इस मामले में तनिक भी विचार से काम लिया जाता तो अकेला यह तथ्य ही इन शौचालयों की स्थापना को रोक देने को पर्याप्त होता है कि इस यूरोपीय ढग के शौचालयों में बहुत अधिक पानी फ्लश के लिये जरूरी होता है और पानी मोटे तौर पर हिन्दुस्तान में एक दुर्लभ वस्तु ही है। इस लेखक को एक बार हमारे महान वैज्ञानिक और शिक्षाविद् डॉ दौलत सिंह कोठारी ने एक घटना बताई थी। बात ईसवी सन् १९४० की है जब दिल्ली विश्वविद्यालय के विद्वानों के लिए आवासगृहों का निर्माण हो रहा था। पश्चिमी ढग के शौचालय बनाये जाते देख ये लोग परेशान हो उठे। कारीगरों से कहा तो उन्होने उत्तर दिया कि वे खुद तो खाके में कोई फेरबदल कर नहीं सकते। सिर्फ उपकुलपति सर मॉरिस वायर ही इस विषय में अधिकारी हैं। यानी उनकी अनुमति से ही भारतीय ढग के शौचालय बन सकेंगे। तब विद्वत् परिषद की ओर से अन्तत डा कोठारी सर मॉरिस से मिले। यद्यपि सर मॉरिस ने सम्भवत ऐसा प्रतिनिधित्व पसद नहीं किया तथापि वे आधी बात मजूर करने को राजी हो गये। यानी यह कि जो आवासगृह अभी भी बनने हैं उनमें से जिनमें दो दो शौचालय होने हैं उनमें से एक भारतीय ढग का भी होगा। जबकि जिनमें सिर्फ एक ही शौचालय होगा (यानी कनिष्ठ अध्यापकों के निवास) उनमें वह सिर्फ पश्चिमी ढग का ही होगा।

हममें से कई लोगों का यह विश्वास हो सकता है जैसा कि कार्लमार्क्स का और उनके पहले कुछ लोगों का विश्वास था और कार्लमार्क्स के बाद से अनेक लोगों का है कि भारत सभ्य कहला सके इसके पहले उसे पश्चिमी होना होगा। जहाँ तक हो सका हम इस प्रयोग का प्रयास करते रहे हैं। प्रथमत हमने भारतीय सविधान को मुख्यत पश्चिमी विचारों व्यवहारों के अनुकूल ढाला। द्वितीयत जो प्रशासनिक पद्धति अंग्रेजों ने मूलत १७७० से १८३० के दौरान अपने विजित क्षेत्र को शासित करने के लिए रची उसे बनाये रख कर आगे उसमें प्रचुर वृद्धि तथा विस्तार करते रहे। और तृतीयतः हमने ऐसा किया अपने नियोजित विकास और वैज्ञानिक प्रयोगों का वह ढाचा रचकर जिसमें आयोजक तो सर्जक तथा निर्देशक है और दाता है तथा भारत की जनता उनसे उपकृत हो रही समझी जाती है। इसका परिणाम यद्यपि बिल्कुल निराशाजनक नहीं रहा है तथापि ऐसा भी नहीं है कि हम दावा कर सकें कि हम एक पश्चिम जैसा समाज बनाने जा रहे हैं। यह तो हो सकता है कि लगभग पाँच-पचास लाख भारतीय घरों में आज टेलीविजन सेट हों रेफ्रीजरेटर हों गैस या बिजली के चूल्हे हों शायद दस लाख कारें हों तथा ऐसा ही कुछ और हो लेकिन इन्हीं (सघावर्गीय) स्रोतों के अनुसार भारतीय

जनता का आधा हिस्सा 'गरीबी रेखा' के नीचे रहता है और 'गरीबी रेखा' से ऊपर वाले लोगों का अधिकांश हिस्सा घंटों तक परिवहन, दूध, चीनी, मिट्टी के तेल, खाद्य पदार्थ आदि के लिए लाईन लगाने में खर्च करने को विवश है।

इन गतिविधियों के पिछले तीस वर्षों की प्रशंसा में अधिक से अधिक कुछ कहा जा सकता है, तो यही कि इस दौरान भारत को वे चलाये रखे रही हैं। यह सम्भव है कि भाग्यवश हम इसी रास्ते पर चलते हुए कुछ समय तक और ज़िंदा रह लें।

३

लेकिन जिस रास्ते पर हम चलते रहे हैं, उसी पर चलते रहकर शायद भारत एक राजनैतिक इकाई बना भी रहे, तो भी भारत के जनसाधारण की यानि कुल आबादी के लगभग ९५ प्रतिशत की, बुनियादी जरूरतों तक की पूर्ति की सम्भावना इस रास्ते में अत्यन्त अल्प है। इससे भी बुरी बात यह है कि इस मार्ग के अवलम्बन से भारतीय जन बहुत अधिक पराश्रित हो गये हैं। यहाँ तक कि आज का किसान भी नई संकर खेती और उसकी जरूरतों के सन्दर्भ में कम सृजनात्मक और नवाचार में कम समर्थ हो गया है। उसकी स्वयं की सृजनात्मकता तथा नवाचार की मेधा आज उससे भी अधिक अवरुद्ध कर दी गयी है, और बौनी बना दी गयी है, जितनी और जैसी कि ब्रिटिश राज्य के आरम्भ में की गई थी। यदि भारत को एक सभ्य समाज के रूप में बचे रहना है तो उसे वर्तमान प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न आज की इस किंकर्तव्य विमूढ़ता की दिशा में से कोई और रास्ता निकालना होगा। एक ओर जनसंख्या के बहुत बड़े हिस्से के कल्याण की तो बात ही क्या, उसे भोजन, वस्त्र और निवास तक दे पाने में केन्द्रीयकरण अक्षम हो चुका है और दूसरी ओर समस्त साधन स्रोतों तथा संगठनात्मक ढाँचों पर एकाधिकार और विनियोजन के कारण यह केन्द्रीयकरण जनगण द्वारा स्वप्रबन्ध के रास्ते में रुकावट बना खड़ा है। १९ वीं शताब्दी में तथा २० वीं शताब्दी के आरम्भ में भी यानि उस सम्पूर्ण अवधि में भी जब भारतीय किसान की अपने खेतों में निवेश की क्षमता निम्नतम बिन्दु तक पहुँचा दी जा चुकी थी, और उसके कृषि औजार तथा मालमवेशी बड़ी मात्रा में बरबाद कर दुर्दशाग्रस्त बनाये जा चुके थे, किसान ने देश को पर्याप्त अनाज देकर जीवित रखा, यह तथ्य उसकी सामर्थ्य और प्रतिभा का पर्याप्त दृष्टान्त है। यही बात भारतीय शिल्पियों, कारीगरों के बारे में भी सच है।

भारतीय जनगण अपेक्षाकृत सौम्य प्रकृति का है। और कई पीढ़ियों तक उन्हें दबाकर रखा गया, उनकी खिल्ली उड़ाई गई, उन्हें पीसा जाता रहा तथा उनकी

सार्वजनिक क्रियाशीलता प्रतिबन्धित रही। फलत १९ वीं और प्रारम्भिक २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय जन अपनी निजी सीमा में ही सिमट गये थे। इसका यह मतलब नहीं कि वे अन्याय और अनौचित्य का बुरा नहीं मान रहे थे। जैसा कि मार्च १९४४ में किसी ने गाधीजी से कहा था भारतीय दृश्य पर उनके उदय से पूर्व तक फिरोज शाह मेहता जैसे लोग भी अग्रेजों से बोलते वक्त दब्बू और विनीत होते थे। गाधीजी ने स्वीकार किया कि १९१५ तक ऐसी स्थिति थी पर साथ ही यह भी कहा कि 'मैने जो कहना शुरू किया वह वही था जो लोग दिलों में महसूस करते थे पर अपनी बात खुद कहने में समर्थ नहीं थे । इस प्रकार १९१६ के बाद से अगले ३० बरसों तक वे जनता के प्रवक्ता थे। वे भारतीय जनता की प्रशसा करते और आवश्यकतानुसार झिडकते भी। पर दुर्भाग्यवश उनके उत्तराधिकारियों ने विशेषकर जो *स्वाधीन भारत के प्रबन्धक बने उन्होने ब्रिटिश राज्य के समय का व्यवहार का ढाचा* अपना लिया। (उन्होंने ऐसा क्यों किया यह मनोविश्लेषकों पर छोड देना ही बेहतर होगा। या शायद यह कारण रहा हो कि ब्रिटिश शिक्षा और ट्रेनिंग की उन पर उससे अधिक गहरी छाप थी जितनी गाधीजी के साथ बिताये गये उनके समय की छाप उन पर थी)। वे पश्चिम से अभिभूत थे फिर यह सोवियत सघ हो या अमरीका अथवा यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ हो इस सन्दर्भ में इन सबका एक ही अर्थ है। इस कारण उन्हें भारत की हर वस्तु आदिमकालीन अत अपरिष्कृत सकीर्ण अधविश्वास-युक्त इत्यादि प्रतीत होती थी। उनकी दृष्टि से जिसे वे भारत का अभिमान या प्रगति समझते थे उसकी राह में भारत के लोग वस्तुत एक व्यवधान थे राह के रोडे थे और इसलिए ये भारतीय जन निर्णय और कर्म के क्षेत्र से (सिवाय लकडिया चीरने पानी खींचने और कभीकभी इस उस की साजसज्जा के काम से) जितना ही दूर रहें उतना ही उनके सपनो के भारत के लिए बेहतर है। यह सम्भव है कि यह दृष्टिकोण सार्वजनिक तौर पर खुलकर अधिक व्यक्त न किया गया हो पर दृष्टि यही थी। इस दृष्टि *वालों में से किसी को कभी यह याद नहीं आया कि ये वे ही भारतीय जन हैं जिन्होंने* निम्नतम सम्भव पूँजी निवेश उपकरणों और उस पशुसम्पदा के जरिए भी भारत की रक्षा की थी तथा पालन किया था जो उन्हीं की तरह अस्थिपजर मात्र बना डाला गया था। उनकी प्रशसा करने और उनकी स्वीकृति प्राप्त करने के स्थान पर उन्हें वस्तुतः यह बताया गया कि वे निकम्मे हैं। सर्वसामान्य भारतीय जन को इस तरह रद्द कर देने और बहिष्कृत कर देने के बाद यह आश्चर्य की बात नहीं कि इस भारतीय कुलीन वर्ग के लिये शासन प्रबन्ध और विकास की समस्याए इतनी बडी बोझ बन गयी।

समुद्रीय वृत्त सम्बन्धी अवधारणा के लिये २८ जुलाई १९४६ का हरिजन' दृष्टव्य है। इसमें स्वराज शीर्षक से अपने लेख में गाधीजी ने स्वराज लोकतत्र की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कहा था 'यह एक सामुद्रिक वृत्त होगा जिसका केन्द्र होगा व्यक्ति जो गाव के लिए उत्सर्ग को सदा तत्पर रहेगा गाव ग्रामसमुदाय के लिए उत्सर्ग हेतु तत्पर रहेगा यही क्रम चलता रहेगा और सम्पूर्ण समाज का ऐसे व्यक्तियों से बना एक अखण्ड जीवन होगा जो अपने मन्तव्य से कभी भी आक्रामक न होंगे सदा विनययुक्त होंगे तथा उस सामुद्रिक वृत्त की महत्ता के भागीदार होगे जिसकी कि वे अभिन्न इकाइया हैं। आगे उन्होंने लिखा असख्य गावों (और स्वाभाविक ही कस्बों तथा शहरों) से युक्त इस सरचना में निरन्तर फैलने वाले किन्तु कभी भी प्रभुत्व न दिखाने वाले वृत्त होंगे। सबसे बाहर वाले वृत्त (यानी राज्य) द्वारा अपने समस्त भीतरी वृत्तों को सुदृढ रखने के लिए तथा उनसे शक्ति पाने के लिये ही शक्तिसचय किया जायेगा न कि उन्हें दबाने कुचलने के लिये।

शासन सम्बन्धी इन सुझावों की पर्याप्तता पर बहस सम्भव है। किन्तु भारत की तथा साथ ही पश्चिम की सभ्यता का उनका विश्लेषण तथा अपने स्वदेशी जनगण की तथा उनके द्वारा पोषित समाहित नैतिक विचारों की गाधी की समझ अतुलनीय रही है और वह आज भी उतनी ही प्रामाणिक है जितनी ६० ७० वर्ष पहले थी। (सभ्यता सम्बन्धी उनका यह विश्लेषण सर्वप्रथम १९०९ में हिन्द स्वराज' में सामने आया। यह प्रश्नोत्तर शैली में है और उसमे गाधीजी ने उस समाज और राज्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है जैसा वे स्वाधीन भारत में देखना चाहते थे।) जिन लोगों को दरिद्र बनने को विवश किया गया है जो व्यापक वचना के शिकार बनाये गये हैं और जिनका आत्मगौरव छीना गया है उन्हीं करोड़ों लोगों की सृजनात्मक एव प्रवर्तनकारी मेधा को मुक्त तथा जागृत करके ही विकास की समस्या को हल करना सम्भव है। क्योंकि अन्तत विकास का मूल अभिप्राय है भीतर के विकास' तथा आत्माभिव्यक्ति आत्मविस्तार अणु से महत् की ओर बढना'। अत विकास की परिभाषा में ही यह निहित है कि वह तभी प्रसन्न होगा जब भारतीय जनगण स्वय अपना विकास करने में सक्षम होते हैं अर्थात जब व्यक्तिरूप में तथा समूह के अंग के रूप में वे खिलना प्रस्फुटित होना शुरू करते हैं।

आजादी के बाद से जो दृष्टिकोण जो कार्यविधि तथा जो उपकरण व्यवस्था भारतीय मामलों में गतिशील रही है वह अब और ज्यादा समय तक अपेक्षित कार्य नहीं कर सकती यानी सतोषप्रद रूप में गरीबी कम करने का तथा सर्वसामान्य भारतीय जन में आत्मगौरव तथा पहल की प्रवृत्ति पुन प्रतिष्ठित करने का काम नहीं कर सकती यह

कहने का अभिप्राय इन दृष्टिकोणादिक की भर्त्सना करना नहीं है। १९४७ के बाद की स्थितियों में विशेषकर १९४५ से आगे भारत जिस दिशा मे बढा यहा के कुलीनवर्ग खासकर प्रशासन वर्ग और अर्थशास्त्री समूह ने अपनी दक्षता भर कार्य किया। इस क्रियाशीलता से हिन्दुस्तान से अभाव दरिद्रता और पराश्रय के समुद्र के बीचों बीच पश्चिमीपन और अति समृद्धि के कुछ सौ नखलिस्तान तथा परकीय अन्त क्षेत्र विकसित हो गये हैं तथा समस्त नैतिक आचरण और मानदण्ड क्षतविक्षत हो चुके हैं। इन सबका दायित्व उन्हीं पर डालने की जरूरत नहीं है। किन्तु भारत के स्वास्थ्य और समृद्धि के लिए यह स्वीकार करना होगा कि ये नजरिये वगैरह अब प्रासगिक नहीं हैं और वे वस्तुत भारतीय समाज के तानेबाने को ही नष्टभ्रष्ट करने वाले हैं। ऐसी परिस्थितियों में भारतीय राजनैतिक व्यवस्था को तथा जीवन के हर क्षेत्र में सक्रिय विचारशील भारतीयों को उन मार्गों तथा साधनों को खोजना होगा जिनमें राष्ट्र की एकता सुरक्षित रहने के साथ साथ देशजन को स्वतन्त्रता अवसर और आनुपातिक राष्ट्रीय साधनस्रोत उपलब्ध हो सकें जिसमें विविध स्तरों पर लोग जीवन की अधिक आवश्यक और बुनियादी समस्याओं पर विचार करना तथा उनका समाधान करना प्रारम्भ कर सकें।

अब हमारे पास भारतीय मामलों के प्रबन्ध का पैंतीस वर्षों (अब ५० वर्षों) का अनुभव है और साथ ही अन्तरराष्ट्रीय जगत का अधिक यथार्थपरक परिचय है और शायद औद्योगिक क्रान्ति की उपलब्धियों की चकाचौंध से भी हम कुछ मुक्त हुए हैं यह तथ्य अवश्य नये मार्गों तथा साधनों के सृजन को अधिक व्यावहारिक बना देता है। जहाँ यह सच है कि एक ओर हमारी समस्याए पैंतीस साल पहले की तुलना में अधिक जटिल हुई हैं और उनका दबाव बढा है दूसरी ओर पहले से बडी सख्या में हमारे युवकजन अब और अधिक बौद्धिक तथा व्यावसायिक दक्षता से युक्त हैं तथा शायद उनमें सकल्प निर्णय और मौलिकता भी है जिससे वे वाछित परिवर्तन और रद्दोबदल करने में समर्थ हो सकते हैं। यह ध्यान में रखते हुए कि यदि हम चाह भी लें तो भी हम विश्व के दबावों से सहसा अलग थलग पडकर नहीं रह सकते यह हो सकता है कि कुछ समय तक हमें दो भिन्न भिन्न रास्तों पर सक्रिय रहना पडे। एक मार्ग है बाहरी दबावों और रिश्तों से व्यवहार का। दूसरा हमारे नैतिक और सामाजिक मूल्यों के अनुकूल है। इस प्रकार हम दैनन्दिन जीवन में सहभागिता और सृजनात्मकता का प्रदर्शन कर सकते हैं तथा एक या दो दशकों में अपने समाज को पूर्ण स्वस्थ बना सकते हैं।

किन्तु ऐसे समझौते और तालमेल वाले मार्ग को अपनाने पर भी पाँचसितारा सस्कृति के परित्याग की आवश्यकता तो पडेगी ही तथा कम से कम कुछ दशकों के लिए

हम सभी को अधिकाश मामलों में ग्रामीण झोंपड़ी के जीवन जैसा जीवन अपनाना होगा। यह तो सभी जानते हैं कि अन्य समाजों में भी ऐसे ही प्रयास हुए हैं और उन्हें उल्लेखनीय सफलता मिली है।

यह सम्भव है कि आगामी दशकों में भारत स्वय किसी तरह की आधुनिकता को तथा उपयुक्त विज्ञान और प्रौद्योगिकी को चुने। भारतीय योजनानिर्माताओं तथा उनके स्वामियों और प्रेरकों की बहुत गम्भीर गलती यह रही है कि उन्होंने देवताओ की तरह व्यवहार करने का प्रयास किया (या आधुनिक बिम्बविधान से बात करें तो कहना होगा कि उन्होंने उस महान श्वेत मनुष्य की तरह व्यवहार करने की कोशिश की जो ससार के जगली लोगों के लिए दिव्य उपहारों का बोझ लेकर आया बताया जाता है।) उन्होंने उस जनता के लिये जिसे उसने अपना श्रद्धालु भक्त समझ लिया था योजना और विकास का वरदान लेकर आने वाले जैसा व्यवहार किया। पर क्योंकि न तो वह भूरा साहब था न तो देवता अत अचरज नहीं कि स्थितिया इस तरह की हो गयीं। शायद यह समय है जबकि हम वैज्ञानिक दृष्टि के साथ ही सामान्य बुद्धि का प्रयोग करें और आज की कठोर वास्तविकता से एक एक कदम आगे बढ़ें। जैसा कि गाधीजी करते थे तथा हर बार यह भली भाँति देख लें कि जो कदम हम उठा रहे हैं वह ठोस आधार पर टिका है तथा हमारे उद्देश्य की दिशा में है और उसका पोषक है। एक बार हमारा समाज क्रियाशील हो उठे अर्थात जब उसके उत्पादन मात्र उसके भौतिक निवेश का परिणाम न हो अपितु अधिक सृजनशीलता तथा प्रवीणता का फल हो तब फिर अमूर्त मुद्दों पर बहस के लिए पर्याप्त समय बना रहेगा।

९ भारतीय समाज बनाम पश्चिमी समाज व्यवस्था – 1

हमारे देश में या तीसरी दुनिया के दूसरे देशों में परिवार शिक्षा और समाज की जो अवधारणा आज प्रचलित है उनकी नींव ग्रेट ब्रिटेन या अमेरिका में १९ वीं सदी के दौरान पड़ी थी। उन दिनों वहा जो सिद्धात बनाए जा रहे थे और जो विचार शक्ल ले रहे थे उन्हीं से इनका अर्थ निश्चित हुआ था। पुराने यूनानी दिनों से लगा कर १९ वीं शताब्दी के मध्य तक यूरोप में परिवार और शिक्षा का सम्बन्ध राजनैतिक सत्ता या सम्पत्ति हासिल करने से जुड़ा रहा है। यूरोप में सम्पत्ति और राजनैतिक शक्ति बहुत थोड़े से लोगों में ही सीमित रही है। इन थोड़े से लोगों ने ही अपने व्यक्तिगत जीवन में या उन्होंने जो साहित्य लिखा उसमें परिवार या शिक्षा से होने वाले लाभ के बारे में सोचा – समझा है।

पिछले दो हजार साल में परिवार का स्वरूप उसका ढाचा और उसका अर्थ बदलता रहा है। यही बात शिक्षा के बारे में भी कही जा सकती है। प्लेटो या अरस्तू ने यूरोपीय ढाचे में परिवार की जो अवधारणा की थी वह सामती अभिजात व्यापारिक या मध्यकालीन पश्चिमी यूरोप के साहुकार परिवारों से बहुत ज्यादा मिलती जुलती नहीं दिखाई देती। इसी तरह प्लेटो की अकादमी १९ वीं शताब्दी के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से बिल्कुल अलग दिखाई दे सकती है। लेकिन पुराने स्पार्टा में जहा नब्बे प्रतिशत आबादी दास या अजनबी लोगों की थी और जिन्हें कोई नागरिक अधिकार हासिल नहीं थे या १९ वीं शताब्दी के ब्रिटेन में जहा सिर्फ एक प्रतिशत लोग जेंटलमैन समझे जाते थे परिस्थितिया बहुत अलग नहीं थीं। परिवार या शिक्षा की सारी समझ १८ वीं शताब्दी के आरम्भ से शुरु हुए यूरोपीय पुनर्जागरण काल तक इन्हीं थोड़े से ताकतवर लोगों के दृष्टिकोण पर आधारित थी।

अठारहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण के दौरान जो बहसें चलीं और उनमें से जो सिद्धात निकले उन्होंने इस सम्भावना की तरफ इशारा करना शुरू किया कि परिवार और शिक्षा रूपी इन दोनों विशेषाधिकार को पश्चिमी यूरोप के सभी या अधिकाश लोगों तक फैलाया जा सकता है। क्रान्ति के डर ने उन्हें ईसाई व दूसरी नैतिक मान्यताओं को

आम लोगों तक फैलाने के लिए प्रेरित किया। इसी भय से उन्हें परिवार की अवधारणा को आम लोगो में फैलाने की जरूरत महसूस हुई ताकि वैधानिक रूप से स्थापित हुई सत्ता की अधीनता मानने की आदत लोगों में डाली जा सके। इन उद्देश्यो को पूरा करने के लिए ही उनमें शिक्षा के प्रसार की बात सोची गई थी। और उनमें नई तर्कवादी मान्यताओं का प्रसार किया गया था। पुनर्जागरण काल के तर्कवाद ने इस धारणा को भी पैदा किया कि अगर उचित सस्थाए खड़ी कर दी जाए और उचित माहौल बना दिए जाए तो सभी लोग सम्पत्तिवान और ताकतवर हो सकते हैं। इस तरह की मान्यताए बनाने के लिए नई अवधारणाओं और नए मिथकों की जरूरत थी। इसी से परिवार और शिक्षा की मौजूदा अवधारणाओं को जन्म मिला।

यूरोप में एक और ताकतवर विचार प्रचलित था। यह विचार है भौतिक जीवन में व्यक्ति को स्वतन्त्र मानना। इस विचार का यूरोप की केन्द्रीय नियंत्रण की प्रवृत्ति से गहरा सम्बन्ध रहा है। व्यक्ति की स्वतंत्रता के विचार के आधार पर यूरोप में कुछ लोगो को बिना किसी बन्धन और मर्यादा की अड़चन महसूस किए सत्ता और सम्पत्ति पर केन्द्रीय नियंत्रण सम्भव बनाने में काफी आसानी हुई। दूसरी तरफ लोगों को समुदायों की जैविक इकाइयों से तोड़ कर अकेला कर दिया गया। १९ वीं शताब्दी तक भौतिक जीवन में स्वतंत्रता का उपभोग मुट्ठी भर लोगो तक ही सीमित था। फिर भी जो लोग बहुत दुस्साहसी उद्यमी या हताश होते थे ऐसे लोगों की सख्या चाहे कितनी ही मामूली क्यों न निकले पर बहुसख्यक आबादी के ऐसे लोग भी अपने देश के भीतर या दूरदराज इलाकों में राजनैतिक सत्ता या सम्पत्ति हासिल करने में सफल हो जाते थे। ऐसे लोगों के किस्से आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के दौर की शुरूआत से पहले भी मिल जाएंगे। उन्हें व्यक्तिगत स्वतंत्रता का फायदा उठाने का मौका मिल जाता था। विज्ञान और प्रौद्योगिकी का दौर शुरु होने के बाद ऐसे लोगों की सख्या में हजारों गुना वृद्धि हो गई होगी।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के उपभोग का दायरा बढ़ जाने के कारण और विज्ञान व प्रौद्योगिकी की विशाल उपलब्धियों के कारण १९ वीं शताब्दी में जो आदर्शवादी बाधे बनाए गए थे उनसे भी मुक्ति पाने में मदद मिली है। इसका सबसे ज्यादा असर परिवार पर पड़ा है। इन परिवारों का कोई व्यापक या गहरा कुलीय आधार तो था नहीं। न ही उन पर देसी समाज के रीतिरिवाजों का कोई बन्धन था। उनका आधार तो सम्पत्ति और सत्ता ही रहा था। इसलिए परिवार की आदर्शीकृत अवधारणा तो टूटनी ही थी। लेकिन यूरोप या अमेरिकी परिवार में जो वास्तविक परिवर्तन हुआ है वह ऐतिहासिक रूप से

उतना चौंकाने वाला नहीं है जितना आज हमें बताया जाता है। आज के पश्चिम परिवार कुछ कुछ सराय जैसा दिखाई देता है जिसमें रहने वाले लोगों में कुलीय भा जैसी कोई चीज नहीं होती। इन परिवारों में आम तौर पर सम्पत्ति जैसा कुछ नहीं दि देता। मगर पहले भी हालात कोई इससे बहुत अलग नहीं रहे। यह बात विशेष कर लोगों को समझनी चाहिए जो पश्चिमी समाज को अपने लिए प्रकाश पुज ज समझते हैं कि वहा खासतौर पर ब्रिटेन और अमेरिका में बहुत कमजोर पारिवा व्यवस्था रही है।

दास प्रथा सामतवाद या सर्वहारा जैसी परिस्थितियों के कारण पश्चिमी सम में पारिवारिक सम्बन्धों के पनप सकने लायक माहौल ही नहीं रहा। आज हम यूरोप जिस परिवार के टूटने की इतनी बात करते हैं यह केवल परिवार की एक १९ वीं स वाली आदर्शीकृत अवधारणा का टूटना ही है। यही वजह है कि इस टूट की या पश्चिमी समाज के वे मध्य स्तरीय लोग ज्यादा बात करते हैं जिन्हें अपनी शिक्षादीक्षा दौरान परिवार की यह आदर्शीकृत अवधारणा घुटाई गई थी या फिर हमारे जैसे ल उसकी ज्यादा बात करते हैं जो इस तरह की रूमानी अवधारणाओं को पाले हुए पश्चिम का सामान्य व्यक्ति जिसे अपने यहा की परिस्थितियों का सहज ज्ञान परिवार के टूटने की ऐसी बात करके चिन्तित नहीं होता।

पश्चिमी यूरोप या अमेरिका में सत्ता और सम्पत्ति के केन्द्रीकरण व व्यक्ति स्वतत्रता सम्बन्धी विचारो ने इस बात की तो कोई गुजाइश ही नहीं छोड़ी थी कि व समाज जैसी कोई चीज उभर सके। यूरोप के स्लाव इलाकों में समुदाय बनाने की त प्रवृत्ति जरूर दिखाई देती है जैसा कि रूसी मीर से दिखता है। हो सकता है कि यु जर्मन इलाकों में भी ऐसी ही प्रवृत्ति रही हो जैसी कि जर्मन मार्क से लगता है। इस अलावा सत्ता और सम्पत्ति के केन्द्रीकरण व व्यक्तिगत स्वतत्रता के विचार के बावज पश्चिमी यूरोप मे समाज की मान्यता पूरी तरह नहीं मर पाई। समय समय पर विभि समुदाय बनते रहे। लेकिन वे ज्यादातर असहमत लोगों द्वारा बनाए गए। उन लोगों द्वा जो उस समय के धार्मिक या वैचारिक आग्रहों के खिलाफ खड़े हुए थे। यह समुदाय ए केन्द्रीकृत और व्यक्तिवादी ढाचे में दुर्लभ सामाजिक इकाईयों की तरह थे।

भारत और एशिया व अफ्रीका के बहुत से इलाकों में यहा तक कि यूरोपी लोगों का नियत्रण होने से पहले तक अमेरिका में भी समाज की अवधारणा गहरे स्त पर रही है। इसलिए यहा व्यक्ति की स्वतत्रता को एक दूसरी दृष्टि से देखा गया। परिव और शिक्षा के स्वरूप और उनकी सस्थाओं के अर्थ और ढाचे के बारे में भी यहा

लोगो ने भिन्न तरीके से सोचा।

काफी पुराने समय से भारत के लोग अपने आपको गाव कस्बे या तीर्थो को केन्द्र बनाकर अथवा जाति या उद्योग-धधों को केन्द्र बना कर सगठित करते रहे है। लेकिन इनमें से कोई भी सगठन दूसरे से अलगथलग नहीं होता था। उदाहरण के लिए हर व्यक्ति स्थानीय इकाई का भी सदस्य होता था जाति का भी और शिल्प या उद्योग व्यापार सम्बन्धी श्रेणी का भी। इसी तरह स्थानीय इकाइयाँ जातिया और विभिन्न शिल्पों की श्रेणिया भी अपनी तरह की दूसरी इकाइयों से या दूसरी तरह के सगठनों से जुडी होती थीं। कोई आदमी किसी एक जाति का सदस्य है तो इसका यह मतलब नहीं है कि वह दूसरे उद्देश्यो से बने सगठनों में अपनी इच्छा से भाग लेने के लिए स्वतत्र नहीं है। उदाहरण के लिए वह किसी भी विद्या परम्परा कला परम्परा धार्मिक सम्प्रदाय या शिल्प से जुड़ने के लिए स्वतत्र था। दुनिया के दूसरे देशों की तरह इन सस्थाओं से और वर्गो से उसके सम्बन्ध अस्थायी ही थे जबकि अपनी जाति या अपने देश से वह कहीं गहरा और स्थायी सम्बन्ध महसूस करता है।

भारत के बारे में महत्वपूर्ण बात यह है कि एक सभ्यता के नाते तो वह बहुत पुराने जमाने से ही इकाई माना जाता रहा है लेकिन उसकी बुनियादी राजनैतिक इकाइया तो किसी छोटे इलाके में ही सीमित होती थीं। भारत के इतिहास में ये राजनैतिक इकाइया सैकड़ों में नहीं तो दर्जनों में तो रही ही हैं। यहा चक्रवर्ती राजा की अवधारणा भी रही है। राम अशोक या चद्रगुप्त विक्रमादित्य को चक्रवर्ती सम्राट माना जाता रहा है। इसी तरह चोल या विजय नगर के राजा यहा तक कि अकबर चक्रवर्ती राजा होने का सपना सजोते रहे। लेकिन चक्रवर्ती राजा तो एक पद था जिसे दूसरे राजा श्रेष्ठता के कारण सम्मान देते थे। उसी तरह जिस तरह कि किसी सन्यासी ऋषि किसी महान कवि या विद्वान को श्रेष्ठ समझ कर उसे सम्मान दिया जाता है।

चक्रवर्ती सम्राटों में अनेक गुण होते होंगे या अनेक तरह की प्रतिभाएं होती होंगी। लेकिन उनका भारत पर प्रशासन नहीं चलता था और न ही उन्हें देश के सभी हिस्सों का राजस्व हासिल होता था। उन्हें पूरे देश की सेना के सर्वोच्च अधिपति जैसा भी कुछ नहीं माना जाता था। यह सब काम और अधिकार तो उन लोगों के पास थे जो बुनियादी राजनैतिक इकाइयों में शासन करते थे। इन बुनियादी राजनैतिक इकाइयों में हजारों स्थानीय इकाइयां या नाडू और खाप जैसी बड़े क्षेत्र में फैली हुई इकाइयां शामिल थीं। जिस तरह के सम्बन्ध चक्रवर्ती राजाओं और स्थानीय राजाओं के बीच थे उसी तरह के सम्बन्ध इन राजाओं और स्थानीय इकाइयों के बीच रहे होगे। इस तरह सम्प्रभुता तो

दरअसल स्थानीय इकाई में ही होती थी। उससे ऊपर की राजनैतिक इकाइयों के पास तो केवल वही अधिकार और कर्तव्य तथा साधन होते थे जिन्हें उनको सुपुर्द किया गया हो। ये अधिकार और कर्तव्य या राजस्व सम्बन्धी साधन कुछ इलाकों में काफी मात्रा में उन्हें सुपुर्द किए गए हो सकते है। लेकिन ऐसे मामलों में भी उनकी शक्ति मुख्यत प्रशासनिक ही थी।

इन राजाओं को अपने आप में कानून नहीं माना जाता था। शासन के विधिनियमों की व्याख्या तो धर्म द्वारा स्थानीय रीतिरिवाजों द्वारा पहले से ही हुई रहती थी। इस व्याख्या को समय समय पर जातियो या औद्योगिक श्रेणियों द्वारा सामूहिक विचार-विमर्श के जरिए बदला या सुधारा जाता रहता था। सभ्यता के नीति निर्देशक तत्त्वों के बारे में बडे ऋषियों या विद्वानों द्वारा नई नई व्याख्याए की जाती रहती थी। इस सारी व्यवस्था में बहुत सी कमजोरिया रही होंगी। उसके कुछ पहलू बराबरी की मानवीय भावना भी कभी कभी लाघते नजर आ सकते हैं। यह व्याख्या व्यक्तिगत या जातीय महत्त्वाकाक्षाओं से भी प्रभावित होती रही होगी। ये सब कमजोरिया हमारे यहा भी उसी तरह आती रही होंगी जिस तरह दूसरे सभी राजनैतिक और सामाजिक सगठनों में पाई जाती हैं। इन सब कमजोरियों के बावजूद जिस तरीके से भारत के लोग अपने आपको सगठित करते रहे वह हमारे लिए महत्त्व रखता है। इसके आधार पर हम अपने बारे में सही समझ बना सकते हैं। हमारे यहा आज भी नए नए समुदाय उसी पुराने तरीके पर बनते रहते हैं और अपने दायरे में वे काफी स्वायत्तता हासिल कर लेते हैं।

१० भारतीय समाज बनाम पश्चिमी समाज व्यवस्था – २

इस तरह हमारे यहा परिवार एक व्यापक और अन्तर्गठित समाज का अग रहा है। वह अनिवार्य रूप से कुटुब गोत्र जाति और देश से जुड़ रहा है। इसलिए यह पतिपत्नी और बच्चों की छोटी इकाई में कभी सीमित नहीं रहा। परिवार के दैनिक काम जैसे निवास भोजन बनाना साफसफाई आदि इस बुनियादी इकाई में सीमित रह सकते हैं। लेकिन सम्बन्धों के मामले में पतिपत्नी या बच्चे सभी अनेक स्तरों पर जुड़े होते हैं। हमारे यहा विवाह को शायद ही कभी व्यक्तिगत घटना माना जाता हो यह तो एक सामाजिक घटना है। विवाह के सूत्र में बधने वाले युवक या युवती के बीच में चाहे जितना गहरा आकर्षण रहा हो उनका विवाह तो उनकी जाति और गोत्र या कुटुबों के बीच हुआ रिश्ता ही माना जाता था और स्थानीय समाज के लिए वह एक महत्वपूर्ण घटना होती थी। इन सामाजिक सम्बन्धो के कारण कभी कभी विवाह के इच्छुक युवक और युवतियो की स्वतत्रता में जरूर बाधा पड़ती होगी लेकिन मुसीबत में या जरूरत पड़ने पर यह कौटुबिक और सामाजिक रिश्ते ही जीवन की अनेक समस्याओं को आसान कर देते होंगे।

इन सामाजिक सम्बन्धों और विवाह सम्बन्धों के कारण शिक्षा या दूसरे सभी सामाजिक कार्य समाज की जरूरतों और समुदायों के अपने काम धधे की जरूरतों से निर्धारित होते रहे हैं। यही वजह है कि अधिकाश लोगों की शिक्षा ऐसी संस्थाओं में होती थी जिन्हें हम आज पड़ोस के स्कूल जैसी कोई सज्ञा दे सकते हैं। शिक्षा के बारे में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि वह विभिन्न शिल्पों के विशेषज्ञ माने गए लोगों द्वारा दी जाती थी। ये लोग छात्र के मातापिता भी हो सकते थे। शास्त्री या अधिक विशेषता वाली शिक्षा तो विद्यालयों और विद्यापीठों में ही दी जाती थी और वे आज के स्कूलों और कॉलेजों या उच्च शिक्षा सस्थानों जैसे ही थे।

हमारे भारतीय समाज में जीवन की दिशा तय करने के बारे में व्यक्तिगत स्वतत्रता के बारे में और समाजिक सुरक्षा के बारे में क्या स्थिति थी और प्राचीन यूरोप या आज के यूरोप के स्त्रीपुरुषों और बच्चों को जो कुछ और जितना कुछ हासिल है

रहा है इन दोनों की तुलनात्मक स्थिति को तो गहरे विश्लेषण और बहस से ही समझा जा सकता है। इस विश्लेषण और बहस के जो भी नतीजे निकले लेकिन हमें अपने भविष्य के बारे में फैसले लेने से पहले यह गारंटी जरूर कर लेनी चाहिए कि दोनों सभ्यताओं की बुनियादी अवधारणाओं के बारे में कोई घालमेल और गलतफहमी न रहे। हर सभ्यता को अपने विचारों का ढाचा समझ लेना चाहिए और उसके हिसाब से दुनिया को देखते और समझते हुए अपने भविष्य की तस्वीर बनानी चाहिए।

हमारे यहा आज पुराने ढाचे और तौरतरीकों के अवशेष तो दिखाई दे सकते हैं लेकिन वह तेजस्विता नहीं जो १९५० के आसपास भी दिखाई देती है। करीब दो सौ साल पहले अंग्रेजी शासन के शुरू होने के साथ साथ हमारे समाज और हमारी राज्य व्यवस्था में एक गहरी दरार पड गई थी। उससे भी पहले उत्तर और पश्चिम भारत के मुस्लिम शासित इलाके में भी राज्य और समाज में खाई देखी जा सकती है। मुस्लिम शासकों का शासन करने का ढग और मुहावरा भी भारतेतर विचारों में ढला था। राज्य और समाज के इस अलगाव ने मुस्लिम शासन के दौरान दोनों को ही एक दूसरे के बारे में शकाग्रस्त रखा और उससे दोनों ही कमजोर हुए होंगे। इस जडता और कमजोरी के कारण ही बाद में यूरोपीय लोग हमें जीत सके और पराधीन बना सके।

अंग्रेजो के जमाने में राज्य और समाज की खाई के और खतरनाक परिणाम निकले। उसने भारतीय समाज को सब तरह से बाँट और तोड दिया। समाज की बुनियादी इकाईया जीवनमरण के सघर्ष में पड गई और अपने भीतर सिकुडती चली गयीं। इसने भारत को कायरता गरीबी और अराजकता में पहुंचा दिया। दूसरी तरफ राज्यतत्र निरकुश होता चला गया। उसमें कर्तव्य की सारी भावना नष्ट हो गई और वह आशकाओं से इतना भर गया कि लोगों में होने वाली जरासी फुसफुसाहट उसे अपने लिये बडी चुनौती नजर आने लगी और वह उसमें अपने अस्तित्व के लिये ही सकट देखने लगा।

राज्य के बडी नाजुक स्थिति में होने की यह भावना अंग्रेजों के समूचे शासन काल में बनी रही। खास तौर पर १८२० में १८५७-५८ में और १८९३ के गोहत्या विरोधी व्यापक आन्दोलन के दौरान तो अवश्य ही। तथा 1930-31 के नमक सत्याग्रह के दौरान वह काफी गहरी दिखाई देती है। उस समय तो इस भावना का थोडा बहुत होना समझ में आ भी सकता है। मगर यह भावना तो अंग्रेजों के जाने के बाद भी हमारे राज्यतत्र में बनी हुई है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारे राजनैतिक ढाचे में कहीं कोई भारी गडबडी है।

१० भारतीय समाज बनाम पश्चिमी समाज व्यवस्था – २

इस तरह हमारे यहा परिवार एक व्यापक और अन्तर्गठित समाज का अग रहा है। वह अनिवार्य रूप से कुटुम गोत्र जाति और देश से जुड़ रहा है। इसलिए यह पतिपत्नी और बच्चों की छोटी इकाई में कभी सीमित नहीं रहा। परिवार के दैनिक काम जैसे निवास भोजन बनाना साफसफाई आदि इस बुनियादी इकाई में सीमित रह सकते है। लेकिन सम्बन्धों के मामले में पतिपत्नी या बच्चे सभी अनेक स्तरों पर जुड़े होते हैं। हमारे यहां विवाह को शायद ही कभी व्यक्तिगत घटना माना जाता हो वह तो एक सामाजिक घटना है। विवाह के सूत्र में बधने वाले युवक या युवती के बीच में चाहे जितना गहरा आकर्षण रहा हो उनका विवाह तो उनकी जाति और गोत्र या कुटुंबों के बीच हुआ रिश्ता ही माना जाता था और स्थानीय समाज के लिए वह एक महत्वपूर्ण घटना होती थी। इन सामाजिक सम्बन्धो के कारण कभी कभी विवाह के इच्छुक युवक और युवतियों की स्वतत्रता में जरूर बाधा पड़ती होगी लेकिन मुसीबत में या जरूरत पड़ने पर यह कौटुंबिक और सामाजिक रिश्ते ही जीवन की अनेक समस्याओं को आसान कर देते होंगे।

इन सामाजिक सम्बन्धों और विवाह सम्बन्धों के कारण शिक्षा या दूसरे सभी सामाजिक कार्य समाज की जरूरतों और समुदायो के अपने काम धधे की जरूरतों से निर्धारित होते रहे हैं। यही वजह है कि अधिकाश लोगों की शिक्षा ऐसी सस्थाओं में होती थी जिन्हें हम आज पड़ोस के स्कूल जैसी कोई सज्ञा दे सकते है। शिक्षा के बारे में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह विभिन्न शिल्पों के विशेषज्ञ माने गए लोगों द्वारा दी जाती थी। ये लोग छात्र के मातापिता भी हो सकते थे। शास्त्री या अधिक विशेषता वाली शिक्षा तो विद्यालयों और विद्यापीठों में ही दी जाती थी और ये आज के स्कूलों और कॉलेजों या उच्च शिक्षा संस्थानों जैसे ही थे।

हमारे भारतीय समाज में जीवन की दिशा तय करने के बारे में व्यक्तिगत स्वतत्रता के बारे में और समाजिक सुरक्षा के बारे मे क्या स्थिति थी और प्राचीन यूरोप या आज के यूरोप के स्त्रीपुरुषों और बच्चों को जो कुछ और जितना कुछ हासिल हो

रहा है इन दोनों की तुलनात्मक स्थिति को तो गहरे विश्लेषण और बहस से ही समझा जा सकता है। इस विश्लेषण और बहस के जो भी नतीजे निकले लेकिन हमें अपने भविष्य के बारे में फैसले लेने से पहले यह गारटी जरूर कर लेनी चाहिए कि दोनों सभ्यताओं की बुनियादी अवधारणाओं के बारे में कोई घालमेल और गलतफहमी न रहे। हर सभ्यता को अपने विचारों का ढाचा समझ लेना चाहिए और उसके हिसाब से दुनिया को देखते और समझते हुए अपने भविष्य की तस्वीर बनानी चाहिए।

हमारे यहा आज पुराने ढाचे और तौरतरीकों के अवशेष तो दिखाई दे सकते हैं लेकिन वह तेजस्विता नहीं जो १९५० के आसपास भी दिखाई देती है। करीब दो सौ साल पहले अग्रेजी शासन के शुरू होने के साथ साथ हमारे समाज और हमारी राज्य व्यवस्था में एक गहरी दरार पड़ गई थी। उससे भी पहले उत्तर और पश्चिम भारत के मुस्लिम शासित इलाके में भी राज्य और समाज में खाई देखी जा सकती है। मुस्लिम शासकों का शासन करने का ढग और मुहावरा भी भारतेतर विचारों में ढला था। राज्य और समाज के इस अलगाव ने मुस्लिम शासन के दौरान दोनों को ही एक दूसरे के बारे में शकाग्रस्त रखा और उससे दोनों ही कमजोर हुए होंगे। इस जड़ता और कमजोरी के कारण ही बाद में यूरोपीय लोग हमें जीत सके और पराधीन बना सके।

अग्रेजो के जमाने में राज्य और समाज की खाई के और खतरनाक परिणाम निकले। उसने भारतीय समाज को सब तरह से बॉट और तोड दिया। समाज की बुनियादी इकाईया जीवनमरण के सघर्ष में पड गईं और अपने भीतर सिकुड़ती चली गयीं। इसने भारत को कायरता गरीबी और अराजकता में पहुचा दिया। दूसरी तरफ राज्यतत्र निरकुश होता चला गया। उसमें कर्तव्य की सारी भावना नष्ट हो गई और वह आशकाओं से इतना भर गया कि लोगों में होने वाली जरासी फुसफुसाहट उसे अपने लिये बडी चुनौती नजर आने लगी और वह उसमें अपने अस्तित्व के लिये ही सकट देखने लगा।

राज्य के बडी नाजुक स्थिति में होने की यह भावना अग्रेजों के समूचे शासन काल में बनी रही। खास तौर पर १८२० में १८५७ ५८ में और १८९३ के गोहत्या विरोधी व्यापक आन्दोलन के दौरान तो अवश्य ही। तथा १९३०-३१ के नमक सत्याग्रह के दौरान वह काफी गहरी दिखाई देती है। उस समय तो इस भावना का थोडा बहुत होना समझ में आ भी सकता है। मगर यह भावना तो अंग्रेजों के जाने के बाद भी हमारे राज्यतत्र में बनी हुई है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारे राजनैतिक ढाचे में कहीं कोई भारी गड़बड़ी है।

इस गड़बड़ी की जड़ें तो दरअसल और भी ज्यादा गहरी है। १९४७ से पहले आजादी हासिल करने के लिये या जैसा कि अंग्रेजों ने कहा है सत्ता के हस्तान्तरण के लिये जिस तरह की बातचीत चली और जिस तरह के समझौते किये गये उनका बाद में जो कुछ परिणाम हमारे सामने आ रहा है उस पर काफी असर पड़ा है। इन समझौतों का मुख्य उद्देश्य उन लोगों के पक्ष में इतिहास का चक्र मोड़ना था जो पश्चिमी विचारों के ढांचे में ढल चुके थे और उन लोगों को किनारे करना था जो देसी तौर तरीकों की वकालत करते रहते थे। पश्चिमी विचारों में ढले हुए आधुनिकतावादी और अपने समाज से कटे हुए लोग कोई रातों रात नहीं पैदा हो गये थे। वे लोग कोई एक शताब्दी में फले फूले हैं। विशेषकर १८२९ में जब ब्रिटिश गवर्नर जनरल बेंटिक ने यह लिखा था कि पुराने जमाने में जो साधन गरीबों और ब्राह्मणों को बाटने में खर्च किये जाते थे उन्हें अब यूरोपीय लोगों के स्वागत और मनोरजन पर खर्च किया जाता है। बेंटिक इस समाचार से सन्तुष्ट हुआ था कि निरर्थक कार्मो में खर्च किया जाने वाला पैसा बहुत बड़ी हद तक घटा दिया गया है।

१९४६ से १९४९ के बीच स्वतत्र भारत का सविधान जिस तरह तैयार किया जा रहा था उससे भी इन परिस्थितियों को समझा जा सकता है। स्वतत्र भारत के जन प्रतिनिधि इस सविधान पर विचार करने के लिये सविधान सभा के रूप में बैठे जरूर पर करीब करीब हर मामले में उन्हें अगूठा लगाने की ही भूमिका निभानी पड़ी। इस संविधान को बनाने क लिये विशेषज्ञों की कई समितिया बनाई गयी थीं। मगर उनके अधिकाश सदस्य दूसरे कार्मो में व्यस्त थे। इसलिये हमारे संविधान का प्रारूप भारत पर शासन करने के लिये खड़े किये गये अंग्रेजी ढाचे के आधार पर ही बनाया गया था। उसमें जहाँ तहाँ यूरोप के देशो या अमेरिका के संविधान के प्रारूप के अनेक पहलूओं पर काफी गरमागरम बहस हुई। लेकिन उसके बुनियादी ढाचे में कोई खास परिवर्तन नहीं किया जा सका। इसके लिए यह तर्क दिया गया कि कोई बड़े परिवर्तन किये गये तो सविधान निश्चित कर दी गयी तारीख तक तैयार नहीं हो पायेगा और लटक जायेगा। सविधान का यह प्रारूप दो लोगों ने कानून मत्री और सवैधानिक सलाहकार ने तैयार किया था।

पहले से तय की गयी निश्चित तारीख तक सविधान बना देने की मजबूरी की बात सवैधानिक सलाहकार ने सविधान सभा के अध्यक्ष के सामने तब रखी जब इस बात को लेकर गरमागरम बहस छिड़ी हुई थी कि हमारे नये राजनैतिक ढाचे की बुनियादी इकाई क्या होनी चाहिए। वे स्थानीय इकाईया जो पुराने जमाने से हमारे राजनैतिक ढाचे की बुनियाद बनी हैं या कि बालिग व्यक्ति जैसा कि पश्चिमी दुनिया में होता है। इस

मुद्दे पर पूरी तरह विचार नहीं होने दिया गया। सविधान बनाने की तारीख को कुछ इस तरह पवित्र मानकर यह बहस रोक दी गई जैसे कि कोई शुभ मुहूर्त टल जाने वाला हो। सविधान के प्रारूप में नयी बातें जोडी जरूर गयीं लेकिन उनसे सविधान का परिमाण ही बढा होगा और उस सविधान को तकनीकी दृष्टि से चुस्त दुरुस्त बनाया गया होगा। लेकिन जहा तक भारतीय पद्धतियों के अनुरूप ढालने की बात है कुछ नहीं किया गया। भारतीय जरूरतों के लिहाज से यह सविधान बिल्कुल ही बेमेल है और अनजाने ही उसने हमारे राजनैतिक ढाचे को अग्रेजी शासन वाले जमाने से भी ज्यादा जड बना दिया है।

११ भारत का पुनर्निर्माण

कुछ वर्ष पहले हमारे देश में स्वतत्रता की पचासवीं वर्षगाँठ का उत्सव धूमधाम से मनाया गया। उत्सव के शुरू में चार पाँच दिन तो भारत की लोकसभा व राज्य सभा में इस स्वतत्रता की परिभाषा और आधारों को लेकर काफी कुछ कहा गया। देश के अपने आदर्शों मर्यादाओं विज्ञान और तकनीक पर चर्चा रही। वर्ष के अन्त में देश की अपनी कला से सम्बन्धित उत्सव हुए और इनमें न केवल भारत के कोने कोने के गान नृत्य कथाये सामने आईं अपितु निकटवर्ती बौद्ध देशों के विद्वानों और कलाकारों ने भी भाग लिया। काशी में रामायण और मध्यप्रदेश में आल्हा-ऊदल प्रमुख रहे और कुछ ही दिन पहले केरल में एक वर्ष की भगवद्गीता का अभियान भी आरम्भ हुआ।

इस तरह का उत्सव मनाना तो ठीक है। लेकिन इस पचास बरस की स्वतत्रता के बाद अधिकाश लोगों को शायद जो भारत का तत्र चलाने में लगे हैं उनको भी लगा कि इस पचास वर्ष की उपलब्धियाँ नये भारत को खड़ा करने में उसका आधार बनाने में काफी नहीं हैं। १९४२ में जब कि भारत में जोरो से कहा जा रहा था अंग्रेजों वापिस जाओ उस समय अंग्रेजी और अमरीकी सरकार के बीच भारत का क्या किया जाए इस विषय में कुछ बातचीत चलती थी। उस समय अगस्त १९४२ में अमरीका के राष्ट्रपति रुझवेल्ट का अंग्रेजों को यह सुझाव था कि वे चाहे जो भी कदम भारत के बारे में उठाएँ लेकिन उन्हें यह ध्यान रहे कि (अन्त में पश्चिमी दृष्टि यह है कि) भविष्य का भारतवर्ष पश्चिम की 'ऑरबिट' में छत्रछाया में जीए। रुझवेल्ट ने तो यहाँ तक कहा कि भारतवर्ष के लोग एशियाटिक (एशिया के) नहीं कहे जा सकते ये तो इन्डो-यूरोपियन हैं और इसलिए यूरोप और अमरीका के करीब हैं और सम्बन्धी जैसे हैं।

१९४७ में हम जाने अनजाने रुझवेल्ट की इस सोच पर चलने लगे और जैसा पश्चिम चाहता था उसकी ऑरबिट में छत्रछाया में रहने लगे। इससे हम देश के और स्वतत्रता के ध्येय से तो हटे ही अंग्रेजों द्वारा स्थापित किए गए शासन तत्र से (जिसमें शिक्षा सफाई स्वास्थ्य बैंक स्टॉक मार्केट और अन्त में कृषि व पशुपालन भी बँध गया) घनिष्ठता से बंध जाने के कारण देश के ९०-९५ फीसदी लोगों से भी अलग हो

रहा है इन दोनों की तुलनात्मक स्थिति को तो गहरे विश्लेषण और बहस से ही समझा जा सकता है। इस विश्लेषण और बहस के जो भी नतीजे निकले लेकिन हमें अपने भविष्य के बारे में फैसले लेने से पहले यह गारटी जरूर कर लेनी चाहिए कि दोनों सभ्यताओं की बुनियादी अवधारणाओं के बारे में कोई घालमेल और गलतफहमी न रहे। हर सभ्यता को अपने विचारों का ढाचा समझ लेना चाहिए और उसके हिसाब से दुनिया को देखते और समझते हुए अपने भविष्य की तस्वीर बनानी चाहिए।

हमारे यहा आज पुराने ढाचे और तौरतरीकों के अवशेष तो दिखाई दे सकते हैं लेकिन वह तेजस्विता नहीं जो १९५० के आसपास भी दिखाई देती है। करीब दो सौ साल पहले अंग्रेजी शासन के शुरू होने के साथ साथ हमारे समाज और हमारी राज्य व्यवस्था में एक गहरी दरार पड गई थी। उससे भी पहले उत्तर और पश्चिम भारत के मुस्लिम शासित इलाके में भी राज्य और समाज में खाई देखी जा सकती है। मुस्लिम शासकों का शासन करने का ढग और मुहावरा भी भारतेतर विचारों में ढला था। राज्य और समाज के इस अलगाव ने मुस्लिम शासन के दौरान दोनों को ही एक दूसरे के बारे में शकाग्रस्त रखा और उससे दोनों ही कमजोर हुए होंगे। इस जडता और कमजोरी के कारण ही बाद में यूरोपीय लोग हमें जीत सके और पराधीन बना सके।

अग्रेजो के जमाने में राज्य और समाज की खाई के और खतरनाक परिणाम निकले। उसने भारतीय समाज को सब तरह से बाँट और तोड दिया। समाज की बुनियादी इकाईया जीवनमरण के सघर्ष में पड गई और अपने भीतर सिकुडती चली गयीं। इसने भारत को कायरता गरीबी और अराजकता में पहुच दिया। दूसरी तरफ राज्यतत्र निरकुश होता चला गया। उसमें कर्तव्य की सारी भावना नष्ट हो गई और वह आशकाओं से इतना भर गया कि लोगों में होने वाली जरासी फुसफुसाहट उसे अपने लिये बडी चुनौती नजर आने लगी और वह उसमें अपने अस्तित्व के लिये ही सकट देखने लगा।

राज्य के बडी नाजुक स्थिति में होने की यह भावना अग्रेजों के समूचे शासन काल में बनी रही। खास तौर पर १८२० में १८५७-५८ में और १८९३ के गोहत्या विरोधी व्यापक आन्दोलन के दौरान तो अवश्य ही। तथा १९३०-३१ के नमक सत्याग्रह के दौरान वह काफी गहरी दिखाई देती है। उस समय तो इस भावना का थोडा बहुत होना समझ में आ भी सकता है। मगर यह भावना तो अग्रेजों के जाने के बाद भी हमारे राज्यतत्र में बनी हुई है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारे राजनैतिक ढाचे में कहीं कोई भारी गडबडी है।

करना चाहिए। विदेशों को हमारी कुछ पैदावार की विशेष आवश्यकता रहे तो हमे उन्हे कुछ एक फीसदी के करीब तक देना उचित ही है।

भारत केवल कृषिप्रधान देश नहीं था। पिछले १०-१२ बरसो के अध्ययन ने यह बतलाया है कि १७५० के करीब भारतवर्ष और चीन के क्षेत्र में कुल विश्व का ७३ प्रतिशत औद्योगिक उत्पादन होता था। १८२० में भी यह उत्पादन ६० प्रतिशत तक रहा। *सैकड़ों वस्तुएँ तब बनती होंगी। यह सब हमें दोबारा आज की आवश्यकता के* अनुसार स्थापित करना पड़ेगा।

हमारे बच्चों का पालन और शिक्षा पिछले १५०-२०० वर्षो में बुरी तरह से बिगडी है। इसे फिर से ढग से व्यवस्थित करना होगा। गाँवों कस्बो व शहरो के मुहल्लों में नई शुरुआत तो अभी से हो सकती है। इसमें आवश्यकता है कि स्थानीय *युवा* वर्ग का *इस काम मे सहयोग मिले। शिक्षा का रूप क्या होगा* इस पर सोचना और उसको कार्यान्वित करना हमारी दूसरी प्राथमिकता है। ६ से १२-१३ बरस तक की शिक्षा का ध्येय तो यह होगा कि इन बरसों में हमारे बच्चे सृष्टि प्रकृति और उसमें रहने वाले सब जीवों से परिचित हो जाएँ उनका जीवन और स्वभाव समझे उनसे मित्रता बनाएँ और १२-१३ *बरस की उम्र में* अपने को अपने देश *और गाँव नगर इत्यादि का नागरिक* मानने लगें और समाज की वार्ता में बराबर का भाग लेने लगें। जो भी जीवन को चलाने का काम उन्हें करना होगा वह मुख्यतः तो इसके बाद दो तीन बरस में सीखा जा सकता है। अगले एक बरस में अगर देश की भिन्न भिन्न भाषाओं में ८-१० पुस्तकें इतिहास भूगोल स्थानीय प्रकृति और दूसरे जीव इत्यादि पर लिखी जा सकें तो इस *शिक्षा की* रूपरेखा बनाने में *बहुत सहायक होंगी।*

अपने पड़ोसियों को भी जिनके साथ हमारा हजारों वर्षों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है फिर से समझना जरूरी है *क्योंकि* आज हम यूरोप व अमरीका से चालित दुनिया में रहते हैं इसलिए इनको भी और इनकी मान्यताओं स्वभाव इत्यादि को भी समझना हमारे लिए *आवश्यक है। वैसे यूरोप और अमरीका से हम मित्रता रखते हुए भी* उनसे आवश्यक दूरी रख सके तो वह हमारे लिए ही नहीं सभी के लिए शुभ रहेगा।

यह आवश्यक है कि हम अपने करीब के देशों से - विशेषत चीन कोरिया जापान थाईलेण्ड कम्बोडिया इण्डोनेशिया वियतनाम श्रीलका नेपाल म्यामार (बर्मा) बाग्लादेश पाकिस्तान *अफगानिस्तान ईरान से करीबी सम्बन्ध दोबारा कायम* करें। पिछले ५०० बरसों में हमारे ये सम्बन्ध टूटे और शिथिल हुए हैं। लेकिन इन देशों के सोच व स्वभाव हमारे देश के सोच व स्वभाव से बहुत मिलता जुलता है। यहाँ तक

पशु व शेष प्रकृति के समान हैं। आवश्यकता होने पर राजपुरुष उन्हें बगैर किसी कानूनी व्यवस्था में पड़े मार सकते हैं जैसे कि किसी पागल कुत्ते को। पिछले १००-२०० वर्ष की यूरोप व अमरीका की समृद्धि व बदलाव के होते हुए भी मूलत यूरोप और अमरीका के लोग आज भी दासत्व के स्तर पर ही हैं। अगर ऐसी मूल स्थिति उनकी है तो बाकी ससार के मनुष्य और दूसरे प्राणियों को तो कभी भी समाप्त किया जा सकता है।

ऐसी स्थिति में से हम निकलना चाहते हों तो हमें अपने देश की परम्पराओं मान्यताओं विद्याओं और भारतीय स्वभाव के आधार पर नया भारत बनाना शुरू करना चाहिए। अंग्रेजो से मिले तत्र व व्यवस्था को पूरी तरह छोड़ने का हमें शीघ्र ही निश्चय कर लेना चाहिए और ऐसी योजना बनानी चाहिए कि अधिक से अधिक २०-२५ बरस में हम अपने पाँवों पर खड़े हो जाएँ, हमारी अपनी व्यवस्थाएँ पूरी तरह स्थापित हो जाए और अंग्रेजों के दिए तत्र व्यवस्था को हम ताक पर रखें पुराने लेखागारों में कभी अध्ययन के लिए रख दें।

हमें सभी बातें कुछ नए सिरे से करनी होंगी। हमें ऐसा मान लेना चाहिए कि पिछले २००-२५० बरस हमारे लिए विपत्ति के ही रहे हैं और उनमें जो कुछ हुआ उससे भारत वर्ष में रहने वालों का विनाश ही हुआ। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हमारी शुरूआत १७०० या १७५० में जो था उसी से होगी। पिछले दो ढाई सौ बरस में हमारे यहाँ जो बदला है उसमें से शायद कुछ हम अपने काम मे ले पाएँ। आगे भी बाकी पृथ्वी पर पिछले पचास बरसों में जो बदलाव आए होंगे उनमें से भी कुछ हमारे काम के हो सकते हैं। लेकिन बाहर का जो भी हम अपनाएंगे वह हमारे अपने विचारों आधारों और स्वभाव के अनुकूल होगा तभी वह हमारे काम का होगा।

आज सबसे पहले तो हमें अपनी कृषि वनव्यवस्था व पशुपालन पर ध्यान देना होगा। ये ही हमारे समाज के मुख्य भौतिक आधार हैं। पश्चिम से आए हुए तरीकों को छोड़कर हमे अपने तरीकों बीजों फसलों सिंचाई व्यवस्थाओं पर आना होगा और जो आवश्यक बदलाव उनमें करने हो वे भी करने होंगे। हमें अपनी उपज भी बढ़ानी होगी जैसे कि वह १८०० से पहले होती थी और यह भी देखना होगा कि देश में कोई भी (मनुष्य पशु या अन्य जीवजन्तु) भूखा नहीं रहे। पशुओं और मनुष्यों का भूखे रहना हमारे लिए सबसे बड़ा अभिशाप है।

यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि भारतवर्ष जल्दी से जल्दी विदेशों से अनाज तेल और खानेपीने के दूसरे सामान लेना बन्द कर दे। हमारे महाद्वीप जैसे देश में सभी कुछ पैदा किया जा सकता है। किसी पदार्थ की कमी होगी तो हमें उतनी कमी को सहन

करना चाहिए। विदेशों को हमारी कुछ पैदावार की विशेष आवश्यकता रहे तो हमे उन्हे कुछ एक फीसदी के करीब तक देना उचित ही है।

भारत केवल कृषिप्रधान देश नहीं था। पिछले १०-१२ बरसो के अध्ययन ने यह बतलाया है कि १७५० के करीब भारतवर्ष और चीन के क्षेत्र में कुल विश्व का ७३ प्रतिशत औद्योगिक उत्पादन होता था। १८२० में भी यह उत्पादन ६० प्रतिशत तक रहा। सैकड़ों वस्तुएँ तब बनती होंगी। यह सब हमें दोबारा आज की आवश्यकता के अनुसार स्थापित करना पड़ेगा।

हमारे बच्चों का पालन और शिक्षा पिछले १५०-२०० वर्षो में बुरी तरह से बिगड़ी है। इसे फिर से ढग से व्यवस्थित करना होगा। गाँवों कस्बों व शहरों के मुहल्लो में नई शुरुआत तो अभी से हो सकती है। इसमें आवश्यकता है कि स्थानीय युवा वर्ग का इस काम में सहयोग मिले। शिक्षा का रूप क्या होगा इस पर सोचना और उसको कार्यान्वित करना हमारी दूसरी प्राथमिकता है। ६ से १२-१३ बरस तक की शिक्षा का ध्येय तो यह होगा कि इन बरसों में हमारे बच्चे सृष्टि प्रकृति और उसमें रहने वाले सब जीवों से परिचित हो जाएँ उनका जीवन और स्वभाव समझें उनसे मित्रता बनाएँ और १२-१३ बरस की उम्र में अपने को अपने देश और गाँव नगर इत्यादि का नागरिक मानने लगें और समाज की वार्ता मे बराबर का भाग लेने लगें। जो भी जीवन को चलाने का काम उन्हें करना होगा वह मुख्यत तो इसके बाद दो तीन बरस में सीखा जा सकता है। अगले एक बरस में अगर देश की भिन्न भिन्न भाषाओं में ८-१० पुस्तके इतिहास भूगोल स्थानीय प्रकृति और दूसरे जीव इत्यादि पर लिखी जा सके तो इस शिक्षा की रूपरेखा बनाने में बहुत सहायक होंगी।

अपने पड़ोसियों को भी जिनके साथ हमारा हजारों वर्षों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है फिर से समझना जरूरी है क्योंकि आज हम यूरोप व अमरीका से चालित दुनिया में रहते हैं इसलिए इनको भी और इनकी मान्यताओं स्वभाव इत्यादि को भी समझना हमारे लिए आवश्यक है। वैसे यूरोप और अमरीका से हम मित्रता रखते हुए भी उनसे आवश्यक दूरी रख सके तो वह हमारे लिए ही नहीं सभी के लिए शुभ रहेगा।

यह आवश्यका है कि हम अपने करीब के देशों से - विशेषत चीन कोरिया जापान थाईलेण्ड कम्बोडिया इण्डोनेशिया वियतनाम श्रीलका नेपाल म्यामार (बर्मा) बाग्लादेश पाकिस्तान अफगानिस्तान ईरान से करीबी सम्बन्ध दोबारा कायम करें। पिछले ५०० बरसों में हमारे ये सम्बन्ध टूटे और शिथिल हुए हैं। लेकिन इन देशो के सोच व स्वभाव हमारे देश के सोच व स्वभाव से बहुत मिलता जुलता है। यहाँ तक

कि इन सब देशों में गौतम बुद्ध का प्रभाव भारत से गया। उसी समय या उससे भी पहले से इनमें से अधिक देशों में रामायण व महाभारत का प्रसार भी रहा और इन सब में भी अयोध्या नाम के नगर तो मिलते ही हैं मथुरा नाम के भी। अयोध्या व मथुरा नाम के नगर तो तकरीबन १५०० तक इन देशों की राजधानियाँ हुआ करती थीं।

अपने को समझने और पहचानने के लिए अपने पुराने समाज और जीवन के भौतिक तथ्य जानना भी आवश्यक है। यह काम शीघ्र ही विद्याकेन्द्रों के द्वारा पी एच डी व इसी तरह के अध्ययन कार्यक्रम में होने चाहिए। अगले ६ ७ महीने देश के १०-२० क्षेत्रों जिलों इत्यादि में ऐसी खोज शुरू की जा सके तो ५ ७ बरस के अन्दर हमें अपने पुराने समाज की व्यवस्था उसका जीवन विद्या हुनर इत्यादि के बारे में काफी जानकारी मिल जाएगी।

नए भारत की रचना तभी ठीक तरह से सम्भव होगी जब हम अपनी परम्पराओं मान्यताओं धारणाओं और स्वभाव को समझ पाएगे। कहा जाता है कि महाभारत के युद्ध के बाद उसमें जो हुआ और उससे जो परिणाम निकला उन्हें समझने के लिए हमारे ऋषि व दूसरे विद्वान बरसों तक नैमिषारण्य मे बैठे और आने वाले समय को केन्द्र में रखकर बीते उक्त काल खण्ड को समझने में लगे रहे। आज का समय भी महाभारत के उक्त काल से कुछ मिलता जुलता ही है। हमारी परम्पराओं दर्शन और गए समय पर ध्यान रखते हुए आज विचार आवश्यक है। इसके लिए ३-४ नए विद्या केन्द्र स्थापित हों तो हम भविष्य में कैसे क्या करना है यह निश्चित कर सकेंगे।

अगर सब देशों के दार्शनिक समाजशास्त्री मनुष्य की आज की स्थिति को और पिछले ५०० वर्षों में जो स्थिति बनी है कैसे मनुष्य (पुरुष और स्त्री दोनो) का आत्मसन्मान घटा है अकेलापन बढा है और कैसे दोनों एक दूसरे के लिए केवल क्षणिक भोग की वस्तु रह गए हैं को समझने का प्रयास करते तो हो सकता है पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों का आत्मसम्मान कुछ लौटता और उनके छोटे छोटे प्राकृतिक समूहों में परस्परता फिर से पनपने लगती और व्यक्तियों का आलस्य व उदासीनता कम होती। लेकिन ऐसा तो अधिकतर ससार में अभी होता दिखता नहीं है। फिर भी यह सम्भव है कि जिन क्षेत्रों में बौद्ध मत का प्रभाव रहा है और जहाँ भारतीय व चीनी (इसमें जापान कोरिया कम्बोज इडोनेशिया सभी आ जाते है) मान्यताओं व परम्पराओं का असर रहा है वहाँ सब जीवो का आत्मसम्मान उनकी अपने समूहों में पारस्परिकता व स्वतंत्रता काफी हद तक शीघ्र ही वापस लाई जा सकती है। आर्थिक समृद्धि अपने में जरूरी है विशेषतः ऐसे क्षेत्रों में जो पिछले २००-३०० बरसों मे छिन्नभिन्न हो गए हैं और जहाँ

अधिक लोगों में पिछले १५०-२०० बरस से कंगाली का बोलबाला है। लेकिन आत्मसम्मान परस्परता और सामूहिक स्वतंत्रता आएगी तो आर्थिक समृद्धि भी क्रमश आ ही जाएगी और समृद्धि की परिभाषा भी नए रूप लेने लगेगी।

जहाँ तक भारतवर्ष की बात है उसका पहला काम तो आज आत्मसम्मान साहस परस्परता और समूहिक स्वतंत्रता को देश में शीघ्रातिशीघ्र स्थापित करना है। यह हो जाएगा तो अन्य जटिल प्रश्न भी हल होने लगेंगे।

१२ हमारे सपनो का भारत ?

हमारे सपने १९४७ के दिनों में व १९४२ के करीब क्या थे यह सोचना आज शायद आसान है। उन दिनों तो एक तीव्र भावना थी अच्छे अच्छे ख्याल थे कि स्वाधीन होना है और स्वाधीन होंगे तो सबको सम्मान से भोजन कपड़ा मकान मिलेगा सामुदायिक जीवन होगा शान्ति से रहेंगे और विश्व में शान्ति का ही सन्देश देंगे इत्यादि।

लेकिन किसी भी स्वप्न या लक्ष्य का स्वरूप आत्मबोध तथा आत्मचित्र के आधार पर ही निर्धारित होता है। उस दृष्टि से देखें तो लगता है कि हमारा आत्मचित्र तो बहुत समय से हमारा अपना नहीं है। उन दिनों भी यही स्थिति थी। हमे अंग्रेजों ने और अंग्रेजी शिक्षा ने जो जो सिखा दिया था उसे ही हम अपना वास्तविक स्वरूप मानने लगे थे। जैसे अंग्रेजो या उनकी शिक्षा का कहना या उनकी शिक्षा थी कि भारत के ऊपर तो सदैव दूसरों ने ही राज किया है भारत कभी स्वाधीन नहीं रहा। वे यह भी कहते थे कि उन्होंने हमें बचा रखा है नहीं तो इस्लाम व पश्चिम के इस्लामी देश भारत को खा जायेंगे। हमारे इतिहास तथा शास्त्रो के बारे में भी वे जो कहते थे उसे ही हम पढे लिखे लोगों ने सत्य मान लिया था। बहुत से सुधार आन्दोलन भी उसी मान्यता में से उपजे थे। अपने इतिहास के प्रति ग्लानि तथा हीनता का भाव शिक्षित भारतीयों में गहराई तक घर कर गया था। यह आवश्यक है कि हम में से जो स्वाधीनता की तीव्र भावना से भरे थे वे भारतीय अतीत के इस तरह से हीन दिखाने के प्रयासों को अस्वीकार करते थे।

यह भी था कि गाधीजी ने हिन्द स्वराज' मे पूर्व और पश्चिम की दो भिन्न भिन्न सभ्यताओं की बात उठाई और यहा के जनमानस में पहले से ही बैठी अपनी सभ्यता की विशेषताए दिखाई। उसका भी कुछ प्रभाव हमारे ऊपर था लेकिन आधुनिक शिक्षित वर्ग में ज्यादातर तो हवा एक ही थी कि पश्चिम बहुत आगे बढ गया है हमें भी उसी रास्ते पर तेजी से आगे बढना है। ज्ञान और प्रेरणा दोनों के लिए हम पश्चिम की ओर देखते थे। अपने वृहत् समाज के लोगों की उन्नति करनी है कल्याण करना है विकास करना है

१२ हमारे सपनो का भारत ?

हमारे सपने १९४७ के दिनों में व १९४२ के करीब क्या थे यह सोचना आज शायद आसान है। उन दिनों तो एक तीव्र भावना थी अच्छे अच्छे ख्याल थे कि स्वाधीन होना है और स्वाधीन होंगे तो सबको सम्मान से भोजन कपड़ा मकान मिलेगा सामुदायिक जीवन होगा शान्ति से रहेंगे और विश्व में शान्ति का ही सन्देश देंगे इत्यादि।

लेकिन किसी भी स्वप्न या लक्ष्य का स्वरूप आत्मबोध तथा आत्मचित्र के आधार पर ही निर्धारित होता है। उस दृष्टि से देखें तो लगता है कि हमारा आत्मचित्र तो बहुत समय से हमारा अपना नहीं है। उन दिनों भी यही स्थिति थी। हमें अंग्रेजों ने और अंग्रेजी शिक्षा ने जो जो सिखा दिया था उसे ही हम अपना वास्तविक स्वरूप मानने लगे थे। जैसे अंग्रेजो या उनकी शिक्षा का कहना या उनकी शिक्षा थी कि भारत के ऊपर तो सदैव दूसरों ने ही राज किया है भारत कभी स्वाधीन नहीं रहा। वे यह भी कहते थे कि उन्होंने हमें बचा रखा है नहीं तो इस्लाम व पश्चिम के इस्लामी देश भारत को खा जायेंगे। हमारे इतिहास तथा शास्त्रो के बारे में भी वे जो कहते थे उसे ही हम पढे लिखे लोगों ने सत्य मान लिया था। बहुत से सुधार आन्दोलन भी उसी मान्यता में से उपजे थे। अपने इतिहास के प्रति ग्लानि तथा हीनता का भाव शिक्षित भारतीयों में गहराई तक घर कर गया था। यह आवश्यक है कि हम में से जो स्वाधीनता की तीव्र भावना से भरे थे वे भारतीय अतीत के इस तरह से हीन दिखाने के प्रयासों को अस्वीकार करते थे।

यह भी था कि गाधीजी ने हिन्द स्वराज' में पूर्व और पश्चिम की दो भिन्न भिन्न सभ्यताओं की बात उठाई और यहां के जनमानस में पहले से ही बैठी अपनी सभ्यता की विशेषताएं दिखाई। उसका भी कुछ प्रभाव हमारे ऊपर था लेकिन आधुनिक शिक्षित वर्ग में ज्यादातर तो हवा एक ही थी कि पश्चिम बहुत आगे बढ गया है हमें भी उसी रास्ते पर तेजी से आगे बढना है। ज्ञान और प्रेरणा दोनों के लिए हम पश्चिम की ओर देखते थे। अपने बृहत् समाज के लोगों की उन्नति करनी है कल्याण करना है विकास करना है

यह भाव तो था पर अपने समाज से कुछ सीखना भी है वह स्वय भी रास्ते की रुकावटें हट जाने पर कुछ कर सकता है यह भाव बहुत कम था।

विश्व के बारे में हमारी जो धारणा थी उसमे पश्चिम की शक्ति और सफलताए ही प्रमुख थीं उसकी विकृतिया ऐतिहासिक क्रूरताए बर्बरताए हमारे ध्यान में नहीं थीं। वे ससार के बारे में क्या विचार और धारणाए रखते हैं यह हमारी जानकारी में नहीं था। इस प्रकार न तो हमें स्वतत्र आत्मबोध था न ही सही विश्वबोध। अपने बारे में भी हमारी मान्यताए किसी अध्ययन या स्वय की सोच-समझ पर आधारित नहीं थी।

इसका कोई मामूली असर नहीं हुआ। अधिकाश सुधार आन्दोलन भारतीय इतिहास के प्रति ग्लानि का भाव जगाने वाले बन गए। और तो और 'स्वतत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है का उद्घोष करने वाले लोकमान्य बाल गगाधर तिलक ने भी ओरायन' में आर्कटिक होम इन द वेदाज' में इतिहास की पश्चिम वालों की ही दृष्टि अपनाई।

ऐसा नहीं है कि स्वतत्र विवेक में यह कमी ब्रिटिशकाल में ही आई। वस्तुत समाज पर पड़ने वाले दबावों का प्रभाव साहित्य आदि में भी होता है। इसलिए हमारे जो महान ग्रन्थ हैं महाकाव्य हैं उनको भी उनकी रचना के समय और परिवेश के सन्दर्भ में ही देखना चाहिए। यह नहीं मानना चाहिए क सभी कुछ प्राचीन काल से एक सा ही है। वाल्मीकि रामायण और तुलसी की रामायण (रामचरित मानस) मे जो अन्तर है वह अधिकाश समय के भेद से ही है। भिन्न भिन्न स्मृतियों में भी अलग अलग व्यवस्थाए है इसका कारण भी यही समय का अन्तर है। अगर हम विवेकबुद्धि से उन सबको नहीं देखेंगे तो भ्रान्तिया स्वाभाविक हैं।

संसार के बारे में हमें आज अधिक जानकारी प्राप्त है। उसके प्रकाश में हमें ससार को और स्वय को समझना चाहिए। लेकिन अभी तो दिखता यह है कि हमारा जो सबल वर्ग है वह अपने समाज से बौद्धिक और भावनात्मक स्तर पर बहुत समय से दूर होता चला गया है। ब्रिटिश काल में इसने अग्रेजों के आचारव्यवहार और बोली तथा अभिव्यक्ति की विधियों को अगीकार कर लिया। इससे ऐसी दृष्टि बनी कि हमारे एक अभिजन राजनेता ने १९४५ में गाधीजी से कहा कि कोई यह कैसे कबूल कर सकता है कि गाव के लोगों में भी कोई सद्गुण और सामर्थ्य है वे तो पूर्णतया मूर्ख ही हैं।

फलत समाज के विकास के लिए हमने वे ही तरीके अपनाने शुरु किए जो पश्चिम के थे। १९३८ ई में श्री सुभाषचन्द्र बोस ने ही एक राष्ट्रीय योजना समिति बनाई थी जिसके सयोजक वे स्वय थे और अध्यक्ष थे श्री जवाहरलाल नहेरू उस समिति ने

भी योजना का जो रूप सोचा वह पश्चिमी ढग का ही था।

इस तरह स्वतत्र भारत में हम जिस रास्ते पर चले उसकी नींव तो बहुत पहले पड़ गई थी। अब हमें यह समझना होगा कि हर सभ्यता और सस्कृति की अपनी अपनी परम्पराएँ होती हैं उसके अनुसार ही वे सभ्यताए विकास किया करती हैं। जैसे १८५० के यूरोप में जो विज्ञान व तकनीकी विकसित थी वह चीन में २००० वर्ष पूर्व ही विकसित हो चुकी थी। लेकिन चीन ने बारूद बनाने की विधियों से उत्सवों आदि में काम आने वाली आतिशबाजिया व पटाखे बनाए जबकि यूरोप ने अब से पाच छ सौ वर्ष पहले वही विधि जानकर युद्ध और हिंसा के लिए हथियार बनाये। यह सभ्यताओं की दिशा की भिन्नता के कारण ही हुआ। ऐसा नहीं है कि दक्षिणी या पूर्वी एशिया के लोग विज्ञान और तकनीकी में उन्नत नहीं थे लेकिन उनकी सभ्यता उन्हें मर्यादा सिखाती थी और हिंसक दिशाओं में बढने से रोकती थी। यह उनकी अक्षमता नहीं उनका विवेक था। भारत में भी इस्पात तथा लोहे के निर्माण की अपनी विकसित विधि थी। सन के पौधे के उपयोग से कागज बनाने तथा इसी तरह अलग अलग वनस्पतियां आदि से रगाई के विविध रसायन बनाने की प्रौद्योगिकी भी विकसित थी। हर्षवर्धन के समय में और १८ वीं सदी में भी उत्तर प्रदेश बिहार इत्यादि में पानी से बर्फ बनायी जाती रही है। खेती और सिंचाई तथा जलप्रबन्ध की अत्यत विकसित प्रौद्योगिकी तो थी ही। लेकिन हमने उसमें से कोई विशालकाय और थोड़े से लोगों के पूर्ण नियत्रण में चलने वाले ठाट नहीं खड़े किए।

यूरोप का स्वभाव प्राचीन काल से ही हिंसक रहा लगता है। विशेषकर इग्लैंड और अमेरिका तो पिछले पाच सौ वरसों से पूरी तरह हिंसक स्वभाव के रहे हैं। वे दूसरों के अस्तित्व का आगे बढना सह नहीं पाते सबको अपने अधीन ही रखना चाहते हैं। पिछले सप्ताह यहीं दिल्ली में अमरीकी विद्वान चोम्सकी ने तो कहा ही है पर यह केवल उनकी बात नहीं है बल्कि यह सर्वमान्य है कि यूरोप और अमेरिका स्वभाव से ही हिंसक हैं। और देशों में भी समय समय पर हिंसा तो रही ही है लेकिन वे अधिकाशत हिंसा को मर्यादित करते रहे हैं। दक्षिण व पूर्व एशिया के लोग स्वभाव से मुख्यत अहिंसक ही रहे हैं ऐसा कहा जा सकता है। फिर भी हमने तो यूरोप की ही शिक्षादीक्षा विकासदृष्टि तथा जीवनदृष्टि अपना ली।

स्वतत्रता मिली हमें लगा कि चमत्कार हो गया। पर आगे क्या करना है इसका कोई स्पष्ट चित्र नहीं था। १८ वीं शताब्दी के इस यूरोपीय विचार से ही हम भी भरे हुए थे कि यदि अवसर उचित रहे तो हम लोग भी उनके रास्ते पर चलते हुए उनके बीसवीं

सदी के स्तर पर पहुच जाएगे । हमने मान लिया था कि पश्चिमी चिन्तन ही सारे ससार को जीत लेगा इसलिए जल्दी जल्दी उसी राह पर हम बढ चले। लेकिन एकदम से पराई राह पर अनचीन्हीं अपरिचित राह पर चलना सबको तो नहीं आता। जिन्हें आता था वे आगे बढ गए पश्चिमीकृत हो गए बाकी यों ही पड़े रहे। इस तरह समाज के शक्तिशाली व सम्पन्न लोगों की साधारण समाज से बृहत् समाज से दूरी बढी विलगाव बढा आत्मीयता घटी।

फलत समाज में कई स्तरों पर विभेद उभरे। पहले पुरुषों को अधिक आधुनिक शिक्षा दी गई तो वे कुछ पश्चिमी उपकरणों वस्तुओं साहित्य मनोरजन आदि का उपयोग करने और आनन्द लेने में समर्थ बने। पर भारतीय स्त्रिया ऐसी शिक्षा में नहीं पढीं उनकी भारतीय मानसिकता और सोच टिकी रही। इसलिए घर के भीतर ही विखण्डन हो गया बाहर के कार्यक्षेत्र की बात घर पर कर सकना सम्भव नहीं रहा और स्त्रियों और पुरुषों के ससार अलग अलग होते चले गये। मेरी मा पूछती-बेटा क्या पढ रहा है तो मैं उन्हें बता नहीं पाता कहता तुम समझोगी नहीं। पहले जो लोग रामायण भागवत रघुवश गीता महाभारत पुराण गणितज्योतिष पचतत्र हितोपदेश व्याकरण आदि पढते थे तो सरलता से मा को व परिवार की दूसरी स्त्रियों बहनों व बेटियों को उनके विषय में बता सकते थे क्योंकि वे भी उन्हें समझ सकती थीं पर अब यह सम्भव नहीं रहा। खेती या पुराने हुनर शिल्प कलाकौशल उद्योग आदि के बारे में तो घर की स्त्रिया भी उतना ही जानती थीं जितना पुरुष बल्कि प्राय स्त्रिया कुछ अधिक ही जानती थीं। तो पहले ऐसा विखण्डन नहीं था कार्यक्षेत्र के बारे में घर पर बात की जा सकती थी अब वह नहीं रहा।

इसी प्रकार सम्पन्न लोगों और बृहत् समाज के बीच सवाद घटता गया। मेटकाफ (अग्रेज अधिकारी) ने जब १९३० के करीब कलकत्ते में कहा कि इन भारतीयों का कुछ ठिकाना नहीं है ये तो हवा के साथ चलते हैं जाने कब हमारे विरुद्ध हो जाए तो ब्रिटिश गवर्नर जनरल विलियम बेण्टिक ने कहा कि नहीं कलकत्ते के समाज के बड़े लोग तो बदल रहे हैं हमारे अनुकूल हो रहे हैं अब वे गोपालन गोसेवा ब्राह्मणभोजन भिक्षा आदि में खर्च करना बन्द कर रहे हैं हमारे मनोरजन में हमारे सेवा-सत्कार में ज्यादा से ज्यादा खर्च कर रहे हैं इसलिए हमारे अनुकूल वर्ग बढ रहा है।

यह विभेद यह विलगाव तो शायद १८३० के करीब से बढता ही गया। अभी कुछ वर्ष पहले मैं हरिद्वार गया था तो वहा हमारे पडे की बही में हमारे ही कस्बे के एक व्यक्ति की लिखत थी-१८८५ की जो अग्रेजी में थी। जब इतने वर्ष पहले उत्तर प्रदेश

के एक कस्बे में एक व्यक्ति अंग्रेजी को प्रभुत्व की प्रतिष्ठा की भाषा मान रहा था तो स्पष्ट है कि भेद तो बढ़ रहा था। वह बाद में गहरा ही होता चला गया।

इस तरह अंग्रेजों की योजना ही सफल हुई। जो उन्होंने चाहा था अधिकांशतः वही हुआ। वे हमारी अपनी विद्याबुद्धि तो नष्ट करना ही चाहते थे। मैकाले के सामने कुछ अंग्रेज अफसरों ने यह तर्क रखा था कि यहां बंगाल में तो एक लाख देशी स्कूल पहले से हैं उन्हें हम दस दस रुपया भी प्रति वर्ष दें तो उनका काम चलता रहेगा। उसी में अपने काम के लोग भी निकल आएंगे या हम उनमें से छांट लेंगे। उस पर मैकाले ने कहा कि नहीं उन्हें कुछ भी देने का कोई औचित्य नहीं है वह तो व्यर्थ होगा। पहले हम अपने प्रशिक्षकों को प्रशिक्षित करें फिर वे शिक्षणसंस्थाओं को बनायें और उनके माध्यम से काम करें तभी हमारी विश्वदृष्टि का, ज्ञान इन भारतीयों को होगा। तो इस तरह हिन्दुस्तान को उन्होंने कोरी स्लेट मान लिया था और हमारे भी कुछ लोग तभी से यही मान बैठे थे। उनकी विश्वदृष्टि शिक्षणसंस्थाओं वगैरह के द्वारा हम तक पहुंची और हमने उसे ही अपना लिया बिना मनन किए। पिछले ४०-५० वर्षों में तो यह विचार मानस पर छा ही गया। जो लोग १९५० के करीब से ग्राम पुनर्रचना सामुदायिक विकास (कम्यूनिटी डिवेलपमेंट) इत्यादि चला रहे थे उन पर तो और भी अधिक।

अभी कुछ दिन पहले प्रख्यात दार्शनिक विद्वान दयाकृष्ण यहां दिल्ली में बतला रहे थे कि १८५० के करीब से जब अंग्रेजों ने भारत में विश्वविद्यालय स्थापित करने शुरू किये हमारा आत्मचित्र और आत्मस्मृति बिगड़नी शुरू हुई। हम तबसे स्वयं को और अपने समाज व इतिहास को अंग्रेजों की दृष्टि से देखने लगे। यह कुछ दुर्भाग्य ही है कि हमें यह समझ इतनी देरी से आयी। मेरे विद्वान मित्र श्री रामेश्वर मिश्र 'पंकज' का तो यह भी मानना है कि यह समझ भी हमारे काम की तभी होगी जब हम अब तक की मारामारी और गलतियों व मूर्खताओं के लिए प्रायश्चित कर लेंगे। गलती के लिए प्रायश्चित करना ही हमारा धर्म है यह तो हमारी पुरानी मान्यता है। रूस के प्रसिद्ध लेखक एलेक्जेंडर सोल्झेनित्सिन भी अपनी सभ्यताओं की मान्यताओं के आधार पर प्रायश्चित को इसी तरह प्रतिष्ठा देते हैं।

यह तो हमने सोचा ही नहीं कि यह हमारी अपनी विचार परम्परा में से आने वाला अथवा उससे पुष्ट होने वाला विचार नहीं है बल्कि यह तो पश्चिम का ही विचार है। शायद प्लेटो का भी यही विचार रहा हो पूंजीवाद और मार्क्सवाद का तो है ही कि लोग कुछ नहीं है ये तो हमारे द्वारा सुधारे जाएंगे पीटे ढाले जाएंगे फिर जिधर हम चाहेंगे उधर वे चलते चले जाएंगे हम बदले चले जाएंगे। जब यह उनका विचार है तो उनमें

इतनी शक्ति भी होती है कि एक समय तक वे पूरे समाज को एक दिशाविशेष में हाककर ले जाते हैं। जैसे सोवियत सघ ही था। मारपीट वगैरह जो भी की पर सत्तर साल तक मार्क्सवाद वहा चला शायद कुछ बनाया भी। हो सकता है रूस के लोगों को शक्ति भी मिली हो और उनका सामाजिक आत्मविश्वास तो बढा ही है।

लेकिन वैसी कठोरता हमारे वश की नहीं। और अपनी शक्ति के उदात्त रूपों की परम्पराओं की हमारी स्मृति जैसे जैसे धुधली होती गई वैसे वैसे कोई काम शक्तिवान लोगों की तरह कर पाने में असमर्थ होते गये। भारत में जहा लोगों को भोजन उपलब्ध कराने का लक्ष्य पूर्ण होना तो कुछ कठिन नहीं था हमसे वह भी नहीं हो पा रहा है। न ही हम सोच पाए कि यह हमसे हो सकता है। हमारे मन में तो केवल सबको काम देने की बात थी। वह भी ऐसे नए काम जो हम चाहते थे कि वे सीखें। उनका अपना हुनर अपनी बुद्धि अपनी विद्या अपनी सृजनाशीलता भी सम्माननीय है यह तो कभी हमें लगा नहीं। न ही उनकी श्रेष्ठ परम्पराओं को प्रोत्साहन देकर और आत्माभिव्यक्ति के अवसर देकर हमने उन्हें कोई श्रेयस्कर काम करने दिए।

नतीजा यह हुआ कि कुछ उत्पादन वगैरह तो बढाया पर वह सब निष्प्राण सा रहा। उसमे समाज का मन बुद्धि पुरुषार्थ प्राणशक्ति खिलकर नहीं लगी। नई चीजों की समझ भी पूरी तरह नहीं बनी और सम्बन्ध भी विकसित नहीं हुए। इससे जो कुछ काम हुआ भी उससे कबाड ही बढा। ५० वर्षों मे हमने बहुत नया कबाड इकट्ठा कर लिया। पुराना कबाड भी बहुत सारा था ही। छाटने का विवेक खोकर हम बस सग्रह करते गये। अलग अलग चीजें कबाड जैसी पडी रहीं उनका आपस में कोई रचनात्मक सम्बन्ध बनाना तो हमने सीखा नहीं। विचार के क्षेत्र में मान्यताओं के क्षेत्र में रुचियों के क्षेत्र मे भाषा वेशभूषा भवन और भोजन के क्षेत्र में जो भी नवनिर्माण इधर हमने किया वह तो कबाड जैसा ही है। उससे कोई राष्ट्रीय उत्कर्ष तो सम्भव नहीं है। इस कबाड को तो हटाना ही होगा। नया ही सृजन करना होगा। क्या करना है यह मुख्यत अपने ही लोगो से सीखना होगा उनसे जिनमें अपनी शक्ति के उदात्त रूपों की और परम्पराओ की स्मृति अभी बची है।

अपनी सस्थाओं मान्यताओं को बिना किसी कुठा के समझना होगा। अपनी 'पालिटी' को अपने राजनीतितत्र को सही सही समझना होगा। हमारे बारे में जो जो सिखाया पढाया गया है उसके बारे में सन्देह करना भी सीखें सबको निर्देश मानकर स्वीकार न करते चलें यह बहुत जरूरी है।

यूरोप ने हमें जिस तरह से देखना सिखाया उसे पुष्ट करने वाले तत्र भी उन्होंने

रचे। उनका यह स्वभाव ही है। सयुक्त राज्य अमेरिका में रेड इण्डियनों (वहाँ के मूल निवासियों) की गणना पुरानी जनगणनाओं में कभी की ही नहीं जाती थी क्योंकि यूरोप से आए लोग रेड इण्डियनों को मनुष्य नहीं मानते थे। इस दृष्टि के फलस्वरूप करोड़ों की सख्या वाले रेड इण्डियनों का वशनाश ही कर डाला। अफ्रीका से लाये गये ब्लैक्स' को भी वे पूर्ण मानव नहीं मानते थे। १८५० के करीब शायद पाच ब्लैक्स' को मिलाकर एक मनुष्य मानते रहे। मनुष्य पूरी तरह तो वे केवल खुद को मानते हैं बाकी उनके लिए आदिम पिछड़े बर्बर अविकसित मनुष्य कमतर मनुष्य हैं।

भारत में भी ब्रिटिश जनगणना उनकी दृष्टि के हिसाब से की जाती रही। हमारे यहा जाति तो कभी समाज की उस रूप में इकाई रही नहीं। 'जात शब्द प्रयोग कुलविशेष में जन्मे व्यक्तियों के अर्थ में ही किया जाता रहा है। जाति व वर्ण कोई सामाजिक वर्ग कभी नहीं रहा। पर अग्रेजों ने उसे इसी तरह से दिखाया। १८८१ व १८९१ की जनगणना में अनेक जातियों में कई कई हजार उपजातिया दिखाई गई यह तब से कुल' रहे होंगे ऐसा लगता है। पजाब में १८८१ में जाटों में १० हजार के करीब उपजातियां दिखाई गई थीं। ये सम्भवत आज कही जाने वाली खाप थीं। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में १८८१ की जनगणना में अनेक जातियों में दो दो चार चार हजार उपजातिया दिखाई गई। ऐसा ही तमिलनाडु में रहा। स्पष्ट है कि यह 'कुलसमूह ही थे जिन्हें उपजाति कहा जा रहा था। बाद में कई उपजातियों को एकजुट करके दर्ज किया जाने लगा। फिर जाति ही मूल इकाई बताई जाने लगी। फलत हमारा शिक्षित वर्ग भी उसे ही प्राचीन और स्वाभाविक मौलिक इकाई मानने लगा।

इस तरह हर क्षेत्र में हमने समाज की अपनी स्वाभाविक आत्माभिव्यक्ति को अवरुद्ध किया बाधित किया। दूसरी ओर बाहर से भी जो लिया उसे ठीक से आत्मसात् नहीं कर पाये अपना नहीं बना पाये। संसार में सभी समाज और सभ्यताएं एक दूसरे स सीखते रहते हैं पर वे सीखी हुई विद्या जानकारी और हुनर को अपना बना लेते हैं। आत्मसात् करने का यह काम भी हम नहीं कर पाए। इससे केवल कबाड़ और बोझ बढता रहा।

१९४० में महात्मा गाधी राष्ट्रीय योजना समिति (नेशनल प्लानिंग कमेटी) की ग्रामोद्योग उपसमिति (विलेज इण्डस्ट्रीज सबकमिटी) की चर्चा की बैठक में मौजूद थे। निर्मल कुमार बोस के अनुसार उस समय गाधीजी की सलाह थी कि परम्परागत (ट्रैडिशनल) और आधुनिक (मॉडर्न) दोनों आस्थाओं व विचारों के लोग अपनी अपनी समयबद्ध विस्तृत योजना बना लें और बतलायें कि उनमें से क्या निकलेगा और कब

शुरू करें। इस सुझाव में गाधीजी की शर्त थी कि ये दोनों योजनाए विदेशों से किसी तरह से धन व साधन नहीं लेंगी और जो भी धन व साधन जरूरी होंगे वे भारत के अन्दर से ही लिए जाएगे। मुझे लगता है कि गाधीजी के इस सुझाव पर आज फिर विचार और खुली चर्चा होनी आवश्यक है।

पिछले १५०-२०० वर्षों में यूरोप की सभ्यता ने भीमकाय और चमकीले ढाचे तो अवश्य बनाये। उन्हें अधिक उत्पादक भी माना जाता है और कहा जाता है कि वे मनुष्य की मेहनत को हल्का और आसान करते हैं। यूरोप का स्वचालन (आटोमेशन) का विचार तो २३०० वर्ष पहले अरस्तू ने भी उठाया। परन्तु यह यूरोप के बनाये तत्र व ढाचे कुल मिलाकर विश्व को व मनुष्य समाजों को कितना अधिक देते हैं इस पर विचार करना आवश्यक है। ४०-५० वर्ष पहले हमारे मित्र रामस्वरूप ने अपनी पुस्तक 'कम्युनिज्म एड द पीजैण्ट्री' में आधुनिक उत्पादन (मॉडर्न प्रोडक्शन) के विषय में कुछ प्रश्न उठाये थे। उनका कहना था कि इसका भीमकाय रूप तेज रफ्तार और चमकीलापन एक भ्रम पैदा करता है और इसकी जड़ें इसी भ्रम पर टिकी हैं। उनका मानना था कि कुल मिलाकर मॉडर्निज्म से अधिक उत्पादन नहीं होता उसका भ्रम ही रहता है। रामस्वरूप ने इसको 'साइक्लिक प्रोडक्शन' का नाम दिया था। हमें इस तरह के मूलभूत प्रश्नों पर भी सोचना शुरू करना चाहिये।

प्रश्न उठता है कि आगे क्या करें ? आज के ससार से हमारे पश्चिमीकृत वर्ग ने जो ज्यादा ही सम्बन्ध बना लिया है वह अभी टूटता दिखता नहीं। अत कुछ समय तक तो पश्चिमीकृत समुदाय या वर्ग भी रहेगा और बृहत् समाज भी रहेगा। भारतीय मान्यताओं में तो ससार ने सभी तरह के जीवों को लोगों को और समाजों को रहना ही है। हिंसकों के लिए भी यहा जगह है। हिंसा पूरी तरह समाप्त हो यह सम्भव नहीं है लेकिन हिंसा मर्यादित रहे यह आवश्यक है।

आज की स्थिति में यह विचारणीय एव आवश्यक लगता है कि भारत में बृहत् समाज को समुचित साधन व स्वतत्रता मिले जिससे बृहत् समाज की इकाइया अपनी मान्यताओं व्यवस्था की अपनी प्रणालियों और अपने तकनीकी ज्ञान के आधार पर चल सकें। भारत में कृषि व उद्योग या ऐसे अन्य क्षेत्रों में ८० प्रतिशत उत्पादन तो आज भी परम्परागत भारतीय प्रतिभा के लोग ही करते हैं। आवश्यक साधन व स्वतत्रता रहेगी तो यह प्रतिभा फूले फलेगी परिष्कृत होगी और इसके परिष्कृत होने पर यह भी सम्भव हो पायेगा कि पश्चिम के ज्ञान और भारतीय बृहत् समाज के ज्ञान में कुछ सवाद और लेन देन कायम हो सके। बृहत् समाज के पास आवश्यक साधन व स्वतत्रता आ जाये पर्याप्त

खुली जगह (स्पेस) मिल जाये तो यह आत्माभिव्यक्ति करने लगेगा। उसकी आत्माभिव्यक्तिया ही समाज को स्वस्थ सबल और समृद्ध बनाएगी।

अभी के आधुनिकीकृत समूहोंने तो समस्त राजनैतिक सत्ता और बल का प्रयोग इन आत्माभिव्यक्तियों को बाधित करने के लिए ही किया है। परिणाम यह है कि भारत दो भागों में बटा है। पर यह बटवारा हमें सामाजिक विनाश की ओर ही ले जाता है। एक भाग है उन आधे प्रतिशत लोगों का जो अपने सहायक तथा सेवक वर्ग के सहारे जो कि लगभग १५-२० प्रतिशत बैठता है भारत के तंत्र और साधन क्षेत्रों को नियंत्रित करते हैं। दूसरा भाग उन ८०-८५ प्रतिशत लोगों का है जो अपने अति सीमित साधनों और अवशिष्ट बल से ही जी रहे हैं।

यह सही है कि पश्चिम को इसका अभ्यास रहा है कि ९० क्या ९९ प्रतिशत तक की आबादी को एक प्रतिशत प्रभुवर्ग दासत्व में बाधकर रखे और उन्हें मशीन जैसा बनाकर काम ले। समय समय पर पश्चिम के औजार इत्यादि बदलते रहे हैं लेकिन रिश्ता स्वामी और दास का ही बना रहा है। हमारे यहा तो यह संस्कार ही नहीं रहा। इसलिए यहा के लोग जो स्वाधीनता सग्राम के कारण उसके सस्कारों के प्रभाव से सम्पन्न वर्ग के प्रति अब तक आत्मीयता और सहनशीलता रखे हुए थे वे अधिक समय इसे रख और सह नहीं सकेंगे। अत मनमाने टकराव तथा हिंसा का रास्ता खुला छोड़े रखने से अच्छा है कि दोनों का स्पष्ट न्यायसगत विभाजन हो जाए। पश्चिमीकृत लोग अपने पश्चिमी किस्म के ढाचों के साथ महानगरों आदि में रहें परन्तु उनके साधनस्रोत जरूर घटाने होंगे। अभी की तरह ८५-९० प्रतिशत साधनों का उपयोग केवल उन्हें हि तो नहीं करने दिया जा सकता। लेकिन न्यायपूर्ण साधनस्रोतों के आधार पर अपना जीवन चलाने की पूरी स्वतत्रता रहे। दूसरी और ८०-८५ प्रतिशत लोगों को अपने साधनस्रोतों का स्वविवेक से आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रयोग करने दिया जाए। उनसे गलतिया भी होगी पर गलतिया आधुनिक वर्ग से भी तो कम नहीं हुई हैं।

इस तरह के न्यायसगत बटवारे में यह आवश्यक है कि इन लगभग ४८ ५० वर्षों में हमने सरकारी और स्वैच्छिक स्तर पर जो नयी योजनाए बनाई हैं सयत्र बाध बिजली के प्रतिष्ठान मकानों और वास्तुकला आदि की विधियां अपनाई हैं उसकी पूरी तरह से समीक्षा हो। भारत की कृषिव्यवस्था भवननिर्माण वन व्यवस्था पशुपालनव्यवस्था वस्त्रनिर्माण व्यवस्था भवननिर्माण एवं प्रबन्ध जैसे कार्य तो मूल्त समाज की ही जिम्मेदारी रहे। उनकी शिक्षा भी उनके ही अधीन चलनी चाहिए। आधुनिकतावादियों की शिक्षा या उन पर नियत्रण तथा बोझ न रहे।

जितना बृहत् समाज के लोगों को बाहर का या आधुनिकीकृत वर्ग का लेना तथा
मसात् करना होगा वे कर लेंगे। आत्माभिव्यक्ति के स्वतत्र अवसर मिले तो वे
श्यकतानुसार बाह्य ज्ञान को आत्मसात् भी करते रहेंगे। अपनी सभ्यता सस्कृति
किन्द्रों का नवनिर्माण वे अपने विवेक से कर लेंगे। आपस में स्वतत्र तथा
ानजनक सवाद तथा सम्प्रेषण रहेगा ही। लेकिन बृहत् समाज को हीन मानकर
का उद्धार और कल्याण करने की युक्तिया देते हुए राष्ट्रीय साधनो स्रोतों पर नियत्रण
ा तो हमें छोड़ना ही होगा। ऐसे न्यायपूर्ण विभाजन सयोजन और समन्वय द्वारा
में २०-३० वर्षों के लिये दोनों हिस्सों का शक्तिपूर्ण सह अस्तित्व रह सकना
ाव है। ऐसे सह अस्तित्व की अवधि में हमें कुछ अधिक साहस और शक्ति मिली
म मिलकर आगे का भी सोच सकेंगे और ऐसे रास्ते व व्यवस्थायें बना सकेंगे जिनके
हमारा यह टूटा बिखरा समाज फिर से एक होकर आगे बढ सकेगा।

१३ अंग्रेजी शासन और तन्त्रव्यवस्था

सन् १७५० से भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करते ही अंग्रेजों ने यहा अपनी जरूरत के मुताबिक व्यवस्था को बदलना शुरू कर दिया था। उसमें सबसे पहला काम तो अंग्रेज अफसरों व सैनिकों के मातहत बढ़ती हुई अंग्रेजी सेना में भारतीयों को भर्ती करना था। दूसरा और इससे भी अधिक महत्त्व का काम था भारत के खुशहाल खेतिहरों व कारीगरों को अलग अलग तरीकों से अपने अधीन करना और यहा की खेती की उपज के आधे से अधिक भाग कर (टैक्स) के रूप में बंदूक व तलवार के जोर पर वसूल करना। इसी तरह से कारीगरों से जबरदस्ती काम करवाना और उनके उद्योगों से बनी वस्तुओं की कम से कम कीमत देना। आरम्भ में तो ऐसी कार्यवाही मद्रास व बंगाल के क्षेत्र में ही रही लेकिन सन् १८०० के बाद अंग्रेजों ने धीरे धीरे सारे भारत में ऐसा करना शुरू कर दिया। इसी प्रकार के बदलाव अंग्रेजों के मातहत आये हुए भारतीय क्षेत्रों में भी होने लगे। वहा भी नये तंत्र स्थापित होने लगे।

भारतीय व्यवस्थाओं के अनुसार हर क्षेत्र की अपनी स्थानीय सैनिक व्यवस्थाएं थीं और हर ग्राम व नगर में अपनी स्थानीय पुलिस व्यवस्था भी थी। सेना और पुलिस स्थानीय व्यवस्थाओं के अधीन होती थी। इसी तरह से जमीन का हिसाबकिताब उसकी रजिस्ट्री या उनमें आवश्यक तब्दीली करने वाले लोग भी स्थानीय व्यवस्थाओं के मातहत रहते थे। जमीन के हिसाबकिताब से सम्बन्धित लोगों को दक्षिण भारत में कनकपिल्लै और उत्तर में लेखपाल पटवारी इत्यादि कहा जाता था। इसी तरह से गाव के स्तर पर बढ़ई लोहार धोबी कुंभकार सिंचाई के साधनों की मरम्मत व व्यवस्था करने वाले पचाग और तिथि शुभ दिन इत्या॰ बताने वाले मंदिरों के पुजारी देवदासी गायक और दूसरे धर्मधारी गाव और नगर के मोहल्लों से सम्बन्धित होते थे। गाव में इन सबका कृषि की उपज में हिस्सा होता था। अंग्रेजी शासन के आते ही सेना पुलिस कनकपिल्लै सिंचाई के साधनों की मरम्मत व काम करने वालों इत्यादि को इस व्यवस्था से पूरी तरह से अलग कर दिया। पुरानी व्यवस्था में इन लोगों को जो मिलता था वह अब मिलना बन्द हो गया क्योंकि ब्रिटिश सरकार अब उसे कर के रूप में लेने

लगी। इनमें से कुछ लोगों को तो ब्रिटिश सरकार ने अपना नौकर बना दिया परन्तु बाकी बेकार हो गये। अंग्रेजों से पहले भारत में दक्षिण और उत्तर दोनो में यह प्रथा थी कि किसी का अगर कुछ खो जाता था और पुलिस अगर खोई चीज को तलाश करने में सफल नहीं होती थी तो पुलिस को जिस व्यक्ति का सामान खोया होता था उसे हर्जाना देना पड़ता था। अंग्रेजी व्यवस्था ने भारतीय पुलिस व्यवस्था का खतम कर दिया और उसकी जगह नई केन्द्रीकृत व्यवस्था लागू की। ऐसा करते ही हर्जाने की बात तो पूरी तरह से समाप्त हो ही गयी। उल्टे कुछ दिनों के बाद ऐसा होने लगा कि अंग्रेजी पुलिस जिनका कुछ खो जाता था और जो शिकायत दर्ज करवाते थे उन्हीं के साथ मारपीट करने लगती थी। इसके साथसाथ ही जमीन का लगान अंग्रेजी व्यवस्था ने तिगुना चौगुना बढा दिया और सन् १७९० के आसपास जमीन की मिल्कियत कुछ थोड़े से लोगों को दे दी जिन्हें जमींदार कहा गया। वैसे इंग्लैंड में ७०० वर्षो से जमींदार होते रहे थे लेकिन ये जमींदार किसान से कुल फसल का ५०-८० प्रतिशत तक लगान के रूप में ले लेते थे सरकार को कुल फसल का लगभग १० प्रतिशत देते थे। शेष अपने पास रखते थे। लेकिन बंगाल इत्यादि में जो जमींदार अंग्रेजों ने बनाये वे किसानों से उनकी उपज का करीब ५० प्रतिशत वसूल करते थे और उसमें से ९० प्रतिशत ब्रिटिश सरकार को कर के रूप में देते थे। उनके अपने पास किसान से वसूल किये गए लगान का १० प्रतिशत ही बचता था।

किसान से लगान वसूली की दर में तिगुनी चौगुनी वृद्धि अंग्रेजों के जमाने में हुई। इसलिए इतना ऊँचा कर वसूल करना असम्भव सा हो गया। इसका एक और कारण भी था। भारतीय व्यवस्था में लगान जिसकी दर वैसे भी काफी कम थी अनाज के रूप में ही लिया जाता था। परन्तु अंग्रेजों ने बढ़ते हुए लगान को अनाज के बजाय पैसे में लेना शुरू किया। पिछले १० वर्षों की फसल का दाम इत्यादि निकाल कर भूमिकर पैसे के रूप में निर्धारित किया गया। अंग्रेजी व्यवस्था के आने से गरीबी में भारी बढोत्तरी हुई और उसकी फसल के दाम गिर गये। इसका असर भी किसान पर दोतरफा हुआ क्योंकि उसे लगान अब फसल के बजाय पैसे में देना होता था। मंदी के कारण फसल की कीमत कम होने की वजह से वास्तविक लगान की दर ८० से ९० प्रतिशत तक होने लगी यानी किसान के पास सिर्फ १० से २० प्रतिशत ही बचता था। इस वजह से लगान वसूलने में मुश्किलें आने लगीं। इसलिए अंग्रेजी तंत्र ने सन् १७९२ में फैसला किया और जमींदार से यह कह दिया कि वह जब चाहे खेतिहर को जमीन से बेदखल कर सकता है। इससे पहले भारत में कभी भी खेतिहर को इस तरह से उनकी जमीन से बेदखल

करने का रिवाज नहीं था। लेकिन अंग्रेजी अधिकारियों का तर्क था कि अगर इग्लैंड में खेतिहर को वहा का जमींदार निकाल सकता है तो भारत में ऐसा अधिकार और भी जरूरी है क्योंकि यहा लगान का दर इग्लैंड से कई गुना ज्यादा है।

क्योंकि इतना बड़ा लगान वसूल करना आसान नहीं रहा होगा इसलिए सेना की टुकड़ियों को जिन्हें रेवेन्यु बटालियन कहा गया उन्हें कर वसूल करने के काम में लगाया गया। इसका परिणाम यह भी हुआ कि सन १८०५-१८०६ तक बंगाल बिहार के अधिकाश जमींदार दिवालिया हो गये। इसके बाद इन जमींदारियों कि नीलामियाँ शुरू हुई और साहूकार फौजी ठेकेदार राजा इत्यादि नये जमींदार बने। यह सिलसिला अगले ४०-५० वर्ष तक चलता रहा और इस दौरान भारत की जनता की एक बड़ी सख्या भुखमरी अकाल इत्यादि से सन १९०० और उसके बाद तक मरती रही। कविवर श्री मैथिलीशरण गुप्त के अनुसार कुल दुनिया कि लड़ाइयों में सौ वर्ष के अन्दर (सन् १७९३ से सन् १९०० तक) सिर्फ पचास लाख आदमी मारे गये थे पर हमारे हिन्दुस्तान के केवल दस वर्ष में (सन् १८९१ से सन् १९०१ तक) भूख अकाल के मारे एक करोड़ नब्बे लाख मनुष्यों ने प्राण त्याग दिये' (हिन्दी ग्रथमाला मई १९०८ पृष्ठ ९ और भारत भारती सवत् १९६९ पृष्ठ ८७)। तब मैथिलीशरण जी २६ वर्ष के थे। वे शायद राजेन्द्र प्रसाद व जवाहरलाल नेहरू की उम्र के तब रहे होंगे। हो सकता है कि एक दो वर्ष बड़े भी हों। इससे पहले सन् १८७० के आसपास भारतेन्दु हरिश्चद्र ने कहा था कि अंग्रेजों ने भारतवासियों से सब कुछ ले लिया लेकिन उन्हें भीख मागना अवश्य सिखा दिया है। महात्मा गाधी जनवरी १९१५ में भारत लौटे थे। ऐसा लगता है कि मैथिलीशरण जी की तरह बहुत से भारतीय गाधीजी के आने की तीव्र प्रतीक्षा कर रहे थे। जब महात्मा गाधी ९ जनवरी १९१५ को जहाज से मुंबई पहुचे तब उनका बहुत भव्य स्वागत हुआ। लेकिन ऐसा स्वागत गाधीजी को कुछ अच्छा नहीं लगा। उनके आने के तीन चार दिनों के अन्दर भारत के कई प्रमुख दैनिक समाचार पत्रों में गांधीजी के आने को लेकर लम्बे लम्बे संपादकीय लिखे गये। मद्रास के 'हिन्दू' में और इलाहाबाद के 'लीडर' में भी। उन्हें पढने से ऐसा लगता है जैसा कि किसी अवतार की प्रतीक्षा हो रही थी। यह वर्णन कुछ उसी तरह का है जैसा कि गौतम बुद्ध के जन्म का वर्णन अश्वघोष के 'बुद्धि चरित' में किया गया है कुछ 'ललित विस्तर' में।

अगर यह सही है कि सन् १८९१ से सन् १९०१ तक भारत में भुखमरी के कारण एक करोड़ नब्बे लाख लोग मारे गये तो अंग्रेजी शासन के शुरु से उसके अन्त तक भारत में २०-२५ करोड़ जन भुखमरी से मरे होंगे ऐसा माना जा सकता है। इसी

तरह करोड़ों की सख्या में गाय बैल भैंस बकरी भेड़ और दूसरे जीव जन्तु भी मरे होंगे। वन और पेड़पौधे तो बहुत बड़ी तादाद में नष्ट हुए ही।

इस तरह के शोषण और अत्याचार के कारण भारतीयों में अग्रेजो से लड़ने की शक्ति नहीं रह गयी। वैसे तो भारत के लोग कभी भी खूखार व लड़ाकू नहीं रहे न ही उन्हें न्यायालयों में जाने का चाव ही था। अग्रेजी राज्य ने उनके खेतों को छीनकर उद्योगों व घरों को उजाड़ कर उन्हें न्यायालयों की शरण लेने के लिए एक तरह से बाध्य किया। इन न्यायालयों में असत्य का सहारा लेना आवश्यक-सा हो गया। अग्रेजों ने जो न्यायलय स्थापित किये उनमें अब तक भी यह बात ज्यादा चलती रही कि भारतीय असत्य ही बोलते हैं। उन्हें असत्य बोलना उनके वकीलों और कर्मचारियों एव न्यायालयों ने ही सिखाया।

जैसे जैसे न्यायालय स्थापित हुए वैसे वैसे ही अग्रेजी राज्य में जिलों को चलाने के लिए दूसरे तत्र भी स्थापित हुए। तालुकों को चलाने के लिए तत्र बने। प्रदेशों को चलाने के लिए तत्र बने। भारत को चलाने के लिए तत्र बने। जितना अग्रेजों से हो सका उतना उन्होंने भारत को कस कर रख दिया। लोगों को हिलने डुलने सास लेने तक का मौका नहीं रहा। भय और उसके साथ साथ गरीबी और मुफलिसी का राज्य छा गया।

फिर भी अग्रेज कुछ भयभीत ही रहे विशेषकर भारतीय सैनिकों से। साधारणत तो अग्रेज यही मानते थे कि भारतीय सैनिक जिनकी सख्या सन् १८२०-३० में दो तीन लाख रही होगी उनके प्रति वफादार हैं। लेकिन उन्हें यह भी लगता था कि कहीं अगर हवा का बहाव बदल गया और भारतीय सैनिकों को यह लगने लगा कि अग्रेजों का राज्य उखड़ने वाला है तो फिर वे अग्रेजों के खिलाफ हो जायेंगे। इसी बीच सन् १८२९-३० के बर्षों में यह भी तय किया गया कि अग्रेजों और दूसरे यूरोपीय लोगों को भारत में जहाँ तहाँ विशेषत पर्वतों पर ठन्डी जगहों पर बसाया जाये। धीरे धीरे ऐसी बसावट शुरू भी हुई। इससे पहले भी भारत में सैकड़ों जगह अग्रेजी सेना की छावनिया बनी थीं। सेना के साथ सेना की सेवा के लिए उनकी तुलना में पाचदस गुना ज्यादा लोग सेना की सवारी और सामान ढोने के लिए एकत्रित किये जाते रहे। इनमें से आधे से अधिक को उस समय की अग्रेजों द्वारा घटाई गयी मजदूरी भी नहीं दी जाती थी और कुछ लोगों को तो एकदम 'बेगार' में ही रखा जाता था। अफसरों व सैनिकों के लिए वेश्यालय भी तभी बने और जैसे जैसे छावनियों की सख्या बढ़ने लगी वैसे वैसे यह सब ठिकाने भी बढ़ने लगे। सन् १८५७-५८ की अग्रेजों और भारतीयों के बीच की बड़ी लड़ाई के बाद जिसमें अन्तत भारतीय हार ही गये उनके सैकड़ों शहर लूटे गये और

उनके पचासों लाख लोगों को वृक्षों पर लटका कर अलग अलग तरीकों से मार दिया गया। इसके बाद अंग्रेजों को यह आवश्यक लगा कि भारत में बड़े पैमाने पर अंग्रेजों और यूरोपीयों को बसाने का काम तेजी से आरम्भ किया जाना चाहिये। आज जो यह पहाड़ी शहर देशभर में हैं और काफी चाय व काफी के बगीचे या दूसरे बड़े व्यापारिक खेती के मैदान असम बिहार और दक्षिण भारत इत्यादि में बने हैं ये अधिकांशत सन् १८६० के इसी अंग्रेजी फैसले के बाद स्थापित हुए।

इसी तरह सैनिकों की छावनियाँ भी और बढाई गयी होंगी। आज शायद यह मानना पड़ेगा कि अंग्रेजों ने भारत में जो यह विस्तृत तंत्र खड़ा किया है वह सारे देश से जल्दी जाने वाला नहीं है। यह तंत्र कैसे यहाँ से उखड़े इसके लिए तो हमें काफी सोचना होगा। ऐसे रास्ते निकालने होंगे जिससे हम अपना तंत्र खड़ा कर सकें जिससे भारत की राज्य व्यवस्था शिक्षा व्यवस्था कृषि वन जल के साधन बड़े और छोटे उद्योगों और भारतीयों का सार्वजनिक जीवन देश के लोगों के मन के अनुसार चल सके। इस तरह के सवाल स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में और पिछले ५३ वर्षों में निश्चय ही हमारे विचारकों व राजनैतिकों के मन में उठे होंगे। सन् १९४६ से सन् १९४९ तक जो संवैधानिक सभा हमारे यहा बैठी और जिसमें संविधान के बारे में काफी सोच विचार और बातचीत हुई उसमें भी इस तरह के प्रश्न उठे होंगे। उसके बाद भी देश की स्थिति को सामने रखकर ऐसे प्रश्न उठते ही दिखते हैं। ऐसा कहा जाता है कि अखिल भारतीय कांग्रेस में भी इसी तरह के प्रश्न जब तब गांधीजी के बाद भी उठते रहे। श्रीमती इंदिरा गांधी ने स्वय शायद कहा था कि उनके पिता जवाहरलाल नेहरू ने बड़ी गलती की कि अंग्रेजों के बनाये तंत्र को जैसा का तैसा रहने दिया। साधारण लोग और काफी सारे समाजवादी नेता और भारतीय जनता दल के कुछ नेता भी ऐसा कहते रहे हैं। कुछ दिनों पूर्व श्री नरसिंह राव ने जो पांच वर्ष तक भारत के प्रधानमंत्री रहे इस तरह के प्रश्नों को फिर से उठाया है यह भी लन्दन में। हम लोग इस पर सोचेंगे और बराबर आग्रह रखेंगे तो दस बीस वर्ष मे भारत में अंग्रेजों के बनाये तंत्र को पूर्ण रूप से बदलने का काम तो कर ही सकते हैं। जब ऐसा होगा तभी भारतीय शिक्षा कृषि उद्योग पुलिस सेवा आदि क्षेत्रों के स्वरूप को भी आज के समय के अनुरूप और प्राणवान भारतीय रूप में बनाना सम्भव होगा।

१४ कहा है पश्चिमीकरण की जडे

वैसे तो भारत पिछले २०-३० वर्षो से विश्वशक्तियों के बढते दबाव में है। भारत के गाव के प्राथमिक स्कूल भी उनके आदेश व सहायता से चलने लगे हैं। बसों का किराया बढे यह भी उनके आदेश से होने लगा है। सड्के कैसी हों कितनी चौडी हों इसके आदेश भी बाहर से आने लगे हैं। यहाँ तक कि सेवाग्राम आश्रम जैसे स्थान भी चौड़ी चौड़ी सड़कों से घिरने लगे है। जबकि ऐसे स्थानों और स्थलों की शान्ति व पवित्रता के लिये यह आवश्यक था कि उनके आसपास अधिक मोटर गाड्या व दूसरे वाहन न चलें। विदेशों मे हमारा सामान ज्यादा से ज्यादा जाये इसमे फँस कर पिछले पचास बरसों में हम अपने हस्तकला उद्योग का विनाश ही कर चुके हैं। और कुछ महीनों से खादी ग्रामोद्योग आयोग इसमें लगा है कि हम खादी से अमरीकी जीन्स कपड़ा डेनिम और उससे जीन्स बनवायें और उन्हें विदेशों में भेजें।

हमारी खेती में तो बड़े पैमाने पर बगैर सोचे समझे विदेशीकरण हो चुका है। हमारे गावो के कृषि व ग्रामोद्योग के उजडने का एक बडा कारण यह हमारी बेसमझी की नकल है। यही बेसमझी हमें आधुनिकता को समझने से भी दूर रखती है- चाहे वह तकनीकी के प्रश्न हों व्यवस्था के हों या हमारी अपनी दिशा के। भारत की मानसिकता उसकी प्राथमिकतायें उसकी प्राकृतिक उपलब्धिया हमारे आज के देश चलाने वाले समझ नहीं सके हैं। जैसे दो हजार बरस से यूरोप व उसके बाद अरब लोग मुख्यत अतरराष्ट्रीय व्यापार व लूटमार पर जीवन चलाते थे। उसे ही हमने बेसमझी में मान लिया है कि बाकी विश्व का भी वही तरीका है। लेकिन हमारे यहाँ तो हमारी आवश्यकताओं की सभी वस्तुए साधारणत प्रचुर मात्रा में पैदा होती थीं बनती थीं हमें उनका व्यवस्थित उपयोग आता था। उनमें से मुख्य खाना कपड़ा रहने की जगह सास्कृतिक अभिव्यक्ति जीवन हमारे यहाँ के सब लोगों को उपलब्ध रहा है यह हम भूल गये दिखते हैं। इस तरह की भूलें तो हमारे यहाँ पिछले पचास बरस से शुरु हुई और अब तो हम सब पढे लिखे अच्छे खाते पीते कीसी भी दल व सम्प्रदाय व वाद के हों इन भूलों को सत्य वाक्य जैसे मानने लगे हैं। हममें वैसे पराये के लिये कोई प्रेम व निष्ठा नहीं पैदा हुई

लेकिन यह जरूर हो गया है कि हमें अपने और पराये (व्यक्ति व्यवस्था तकनीक विज्ञान) में जो भेद हो जाते हैं वह समझ में नहीं आते। स्वदेशी के प्रचार में जो लोग आज लगे हैं उनमें से अधिकाश को भी नहीं।

यह ऊपर जो कहा गया है वह अधिकाशत तो हमारे २००-२५० बरस की दासता का परिणाम है और पिछले ५० बरस में हमारे ऊपर जो बाहर का बढ़ता दबाव है उससे इसका भारतव्यापी विस्तार हुआ है। हम समझ कर और लगकर प्रयत्न करते तो उसमें से निकल आते। लेकिन इन ३०-४० ५० बरसों की हमारी सोच और कार्य हमारे पर और एक नई विपत्ति ले आये हैं। देखने में जो विपत्ति आई है वह वैसे तो १२-१४ बरस पुरानी ही है लेकिन उसका आरम्भ व जड़ें तो यह जो हमारा सविधान है जिसको हमने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से सीखा और उधार लिया उसमें है।

अंग्रेजों ने ३००-४०० बरस पहले क्रोमवेल के मध्य सत्रहवीं शती के समय से अपने यहा दो दलो को लेकर राज्यव्यवस्था बनानी शुरू की। यह कमोवेश अभी भी अंग्रेजों के यहा चलती है। समय चलते कोई और नया दल बनता है। जैसे कि १८ वीं शती के अन्त में ब्रिटिश लेबर पार्टी बनी तो पुरानों में से एक दल क्षीण पड़ जाता है जैसे कि विग व लिबरल क्षीण हुए। लेकिन ब्रिटेन एक छोटा देश है उत्तर प्रदेश से भी क्षेत्रफल में छोटा और आबादी में तो आधा ही। दूसरे राजनैतिक दल ही ब्रिटेन के लोगों के मुख्य सरक्षक व सहारा नहीं हैं। ब्रिटेन में पचासों ईसाई सम्प्रदाय हैं जिनसे अलग अलग लोग पूरे मुहल्ले व गाँव भी सम्बन्धित हैं। फिर वहाँ के पुराने धनवान और शक्तिशाली लोगों की क्लबें हैं जहा देश की स्थिति पर विचार होता रहता है और अक्सर बड़े बड़े फैसले भी ऐसे स्थानों पर होते हैं। यह जरूर है कि यह दो व तीन राजनैतिक दलों का बारी बारी से सरकार चलाने का तरीका ब्रिटेन से अमरीका यूरोप व जापान तक गया है। लेकिन अमरीका इत्यादि में इस तरीके को अपनी तरह से समझा गया है खपाया गया है और जहाँ वह नहीं खप पाया जैसे दक्षिण अमरीका व अफ्रीका के देशों में वहाँ जब तब डिक्टेटरशिप चलती रही है।

पिछले पचास बरस में हमारी राजनैतिक समाजिक व आर्थिक स्थिति दक्षिण अमरीका व आफ्रीका के देशों जैसी होने लगी है। भारत की लोकसभा व राज्यसभा और प्रदेशों की विधानसभायें भी फकाल जैसी होती जा रही हैं। हमारा 'स्टील फ्रेम' कहा जाने वाला अंग्रेजों का दिया तंत्र व ढाचा भी अब शक्तिहीन ही है उसके बस का अब लोगों को बराबर भयभीत कर लेना नहीं है जो कि ब्रिटिश समय में उसका मुख्य काम था लेकिन लोगों के रास्ते में बाधायें कायम करना तो अभी तक जारी है ही। इस

राजनीतिक व्यवस्था और शासन तंत्र की एक बड़ी देन है कि उसने देश के लोगो को बाट दिया है परिवार परिवार में व्यक्तियों को बाट दिया है मोहल्लों मोहल्लों में गाव गाव में। जिससे भारत के १० से १५ प्रतिशत लोग तो सरकारी व्यवस्था के खभे बन गये हैं और बाकी ८५ से ९० प्रतिशत निरुत्साहित कगाल और साधनहीन। देश का मुहल्ला-मुहल्ला गाँव-गाँव नगर-नगर बट चुका दिखता है। बटना तो अंग्रेजों के समय में ही आरम्भ हो गया था लेकिन हम उसे अब पूरा करने मे लगे दिखते हैं।

इस तरह के टूटने की एक भयकर शुरुआत दिल्ली के सासदों और विधानसभा के सदस्यों को लेकर ही शुरु हुई। बहाना रहा कि दो चार छ सदस्य जिन्हें आयाराम गयाराम नाम दिया गया एक राजनैतिक दल छोड़कर दूसरे दल में जाते रहते है और दलबदल होता रहता है और इसमें धन व पद का लालच भी काम करता है। यह दलबदल कोई नई बात नहीं है। हजारो वर्षो से यह जहा तहा होता ही रहता है। इसके अलग अलग इलाज भी होगे। ब्रिटेन में तो जो पार्लियामेंट के सदस्य अपने दल के साथ मत नहीं देते उन्हें दल से नहीं निकाला जाता लेकिन उनका सामाजिक बहिष्कार जैसा होता है लेकिन हमारे विद्वान राजनितिकों व उनके सलाहकारों ने तय किया कि जो सदस्य हर तरह से साथ नहीं देता उसको न केवल दल से ही निकाल दिया जाये बल्कि उसका फौरन ही राजनीतिक प्रतिनिधित्व भी समाप्त कर दिया जाये। वैसे जो सदस्य सासद या विधायक बनता है वह अपने क्षेत्र का प्रतिनिधि होता है न कि किसी दल का भृत्य। उसको डाट फटकार व हुक्म देने का अगर किसी को अधिकार है तो उसके क्षेत्र को न किसी राजनीतिक दल को। दल में वह स्वायत्त ही आया है और दल ठीकठीक चलता है न्याय करता है तो वह साधारणत उसम रहेगा ही। उसका किसी कारणवश विचार या ध्येय बदला है तो वह तो उसका क्षेत्र ही सभाल सकता है।

लेकिन हमने तो ब्रिटिश राज्य के शुरु से ही यहा के समाज और लोगों के रास्ते में रुकावटें डालना ही सीखा है या कानूनों के छिद्र बन्द करना। रुकावटें डालने या छिद्र बन्द करने का परिणाम यह हुआ कि यह देश फिर से क्रमश आलस्य से भर गया और यहाँ की पारस्परिकता ओझल सी हो गयी।

वैसे तो आज का सामाजिक राजनीतिक आर्थिक सास्कृतिक ढाचा इन २००-१५० वर्षों में या और पहले से ही जर्जर होता गया है लेकिन पिछले ८-१० बरसों से भारत का जो बेहाल हुआ है उसका मुख्य कारण सासदों को दल का भृत्य व कैदी जैसा बना देना है। वैसे भारत का सविधान और उसकी ससद विधान सभायें इत्यादि तो मूलत दोबारा बनानी ही होंगी लेकिन जब तक यह सब नया ढाचा बने तय

तय कुछ कदम तो उठाने ही पड़ेंगे। उनमें एक कदम तो सांसद इत्यादि को स्वतंत्र कर देना और उनको उनके क्षेत्रों से जोड़ देना होगा। दूसरा कदम यह आवश्यक है की ससद विधानसभा इत्यादि जितने वर्षो के लिये चुनी जाये उतने वर्ष अवश्य चले। सरकार की किसी विषय पर बात नहीं मानी जाये तो ऐसा होना हर समय उसकी हार नहीं मानी जानी चाहिये। बात नहीं माने जाने का मतलब है कि वह अपना रास्ता बदले। उससे फिर भी काम न चले तो उसी ससद व विधानसभा में दूसरी व तीसरी सरकार बन जाय। देश को साधारणत व्यवस्थित रखना और प्रजा को अभय जैसा रहे यह सविधान का ससद का विधानसभाओं का और राजनीतिक गिरोहों का प्रथम काम है।

अखिल भारतीय राजनीतिक गिरोहों का या दूसरे वैज्ञानिक आर्थिक व्यावसायिक गिरोहों का दबदबा व झूठी प्रतिष्ठा जितनी भी कम हो उतना देश के लिये अच्छा है। क्षेत्रों की देखभाल तो प्रदेश ही कर सकेंगे और प्रदेश मिलकर ही भारत को सभाल सकेंगे सुव्यवस्थित रख सकेंगे समृद्धि दे सकेंगे और विश्व के परिप्रेक्ष्य में शक्तिशाली और बराबर का रख सकेंगे। भारतीय केन्द्र व्यवस्था से यह कभी होने वाला नहीं है यह तो एक प्रवचना है। केन्द्र तो प्रदेशों का संघ ही चला सकेगा और ऐसा संघ ही तय कर सकेगा कि केंद्र को कौन कौन काम सौंपे जायें क्या क्या साधन उसे उपलब्ध कराये जायें।

प्रदेशों में भी आज की राजनीतिक व अन्य सस्कृति उसे दिशा देती है व दूसरी सभ्यताओं से कैसा सम्बन्ध बनाये यह बताती है। यह अवश्य है कि हमें शक्तिशाली होने की आवश्यकता है। लेकिन शक्ति तो कई तरह से बनती है केवल हाथी व लुटेरे लोगों के रास्ते से ही नहीं। इस पर ध्यान देना हमारे विद्वानो व मनीषियों का काम है।

लेखक परिचय

श्री धर्मपालजी का जन्म सन् १९२२ में उत्तर प्रदेश के मुझफ्फरनगरमें हुआ था। उनकी शिक्षा डी ए वी कालेज लाहौर में हुई। १९३० में ८ वर्ष की आयु में उन्होंने पहली बार गाधीजी को देखा। उसके एक ही वर्ष बाद सरदार भगतसिंह एव उनके साथियों को फॉसी दी गई। १९३० में ही वे अपने पिताजी के साथ लाहौर में कॉग्रेस के अखिल भारतीय सम्मेलन में गये थे। उस समय से लेकर आजन्म वे गाधीभक्त एव गाधीमार्गी रहे।

१९४० में १८ वर्ष की आयु में उन्होंने खादी पहनना शुरू किया। चरखे पर सूत कातना भी शुरू किया। १९४२ में भारत छोडो आन्दोलन में भाग लिया। १९४४ में उनका परिचय मीराबहन के साथ हुआ। उनके साथ मिलकर रुड़की एव हरिद्वार के बीच सामुदायिक गॉव के निर्माण का प्रयास किया। उस सामुदायिक गॉव का नाम था बापूग्राम'। आज भी बापूग्राम अस्तित्व में है। १९४९ में भारत का विभाजन हुआ। परिणाम स्वरूप भारत में जो शरणार्थी आये उनके पुनर्वसन के कार्य में भी उन्होंने भाग लिया। १९४९ में वे इग्लैण्ड इझरायल और अन्य देशों की यात्रा पर गये। इझरायल जाकर वे वहाँ के सामुदायिक ग्राम के प्रयोग को जानना समझना चाहते थे। १९५० में वे भारत वापस आये। १९६४ तक दिल्ली में रहे। इस समयावधि में वे Association of Voluntary Agencies for Rural Development (AVARD) के मन्त्री के रूप में कार्यरत रहे। अवार्ड की सस्थापक अध्यक्षा श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय थीं परतु कुछ ही समय में श्री जयप्रकाश नारायण उसके अध्यक्ष बने और १९७५ तक बने रहे। १९६४-६५ में श्री धर्मपालजी आल इण्डिया पचायत परिषद के शोध विभाग के निदेशक रहे। १९६६ में लन्दन गये। १९८२ तक लन्दन मे रहे। इन अठारह वर्षो में भारत आते जाते रहे। १९८२ से १९८७ सेवाग्राम (वर्धा महाराष्ट्र) में रहे। उस दौरान चैन्नई आते जाते रहे। १९८७ के बाद फिर लन्दन गये। १९९३ से जीवन के अन्त तक सेवाग्राम वर्धा में रहे।

१९४९ में उनका विवाह अग्रेज युवति फिलिस से हुआ। फिलिस लन्दन में

बापूग्राम में दिल्ली में सेवाग्राम में उनके साथ रहीं। १९८६ में उनका स्वर्गवास हुआ। उनकी स्मृति मे वाराणसी में मानव सेवा केन्द्र के तत्त्वावधान में बालिकाओं के समग्र विकास का केन्द्र चल रहा है। धर्मपालजी एवं फिलिस के एक पुत्र एवं दो पुत्रियां हैं। पुत्र डेविड लन्दन में व्यवसायी है पुत्री रोझविता लन्दन में अध्यापक है और दूसरी पुत्री गीता धर्मपाल हाईडलबर्ग विश्वविद्यालय जर्मनी में इतिहास विषय की अध्यापक है।

धर्मपालजी अध्ययनशील थे चिन्तक थे बुद्धि प्रामाण्यवादी थे। परिश्रमी शोधकर्ता थे। अभिलेख प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन बारह चौदह घण्टे लिखकर लन्दन तथा भारत के अन्यान्य महानगरों के अभिलेखागारों में बैठकर नकल उतारने का कार्य उन्होंने किया। उस सामग्री का सकलन किया निष्कर्ष निकाले। १८ वीं एवं १९ वीं शताब्दी के भारत के विषय में अनुसन्धान कर के लेख लिखे भाषण किये पुस्तकें लिखीं।

उनका यह अध्ययन चिन्तन अनुसन्धान विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त करने के लिये या विद्वता के लिये प्रतिष्ठा पद या धन प्राप्त करने के लिये नहीं था। भारत की जीवन दृष्टि जीवन शैली जीवन कौशल जीवन रचना का परिचय प्राप्त करने के लिये भारत को ठीक से समझने के लिये समृद्ध सुसंस्कृत भारत को अंग्रेजों ने कैसे तोड़ा उसकी प्रक्रिया जानने के लिये भारत कैसे गुलाम बन गया इसका विश्लेषण करने के लिये और अब उस गुलामी से मुक्ति पाने का मार्ग ढूढने के लिये यह अध्ययन था। जितना मूल्य अध्ययन का है उससे भी कहीं अधिक मूल्य उसके उद्देश्य का है।

श्री जयप्रकाश नारायण श्री राम मनोहर लोहिया श्री कमलादेवी चट्टोपाध्याय श्री मीराबहन उनके मित्र एवं मार्गदर्शक हैं। गांधीजी उनकी दृष्टि में अवतार पुरुष हैं। वे अन्तर्बाह्य गांधीभक्त हैं फिर भी जाग्रत एवं विवेकपूर्ण विश्लेषक एवं आलोचक भी हैं। वे गांधीभक्त होने पर भी गांधीवादियों की आलोचना भी कर सकते हैं।

इस ग्रन्थश्रेणी में प्रकाशित पुस्तकें १९७१ से २००३ तक की समयावधि में लिखी गई हैं। विद्वज्जगत में उनका यथेष्ट स्वागत हुआ है। उससे व्यापक प्रभाव भी निर्माण हुआ है।

मूल पुस्तकें अंग्रेजी में हैं। अभी वे हिन्दी में प्रकाशित हो रही हैं। भारत की अन्यान्य भाषाओं में जब उनका अनुवाद होगा तब बौद्धिक जगत में बड़ी भारी हलचल पैदा होगी।

२४ अक्टूबर २००६ को सेवाग्राम में ही ८४ वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हुआ।